Sahitya Shashtra (Bhartiya Aur Paaschatya)

DHIN404

Edited by:
Dr. Vinod Kumar

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY

साहित्यशास्त्र (भारतीय एवं पाश्चात्य)

Edited By

Dr. Vinod Kumar

Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

पाठ्यक्रम

(SYLLABUS)

साहित्यशास्त्र (भारतीय एवं पाश्चात्य)

उद्देश्य

- छात्रों को साहित्य की अवधारणा से अवगत कराना।
- छात्रों को हिन्दी साहित्य के विभिन्न आलोचकों के साहित्यिक योगदान का ज्ञान देना।
- छात्रों को भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य का बोध कराना।

Sr. No.	Content
1	साहित्य का स्वरूप, काव्यांग, लक्षण, साहित्य एवं समाज, काव्य-प्रयोजन, काव्य-प्रकार- प्रबन्ध एवं मुक्तक।
2	उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध के तत्व एवं वर्गीकरण। एकांकी, आत्मकथा, जीवनी, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज: विशेषताएँ एवं तत्व।
3	भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय, रस सिद्धान्त, रस: स्वरूप, रसनिष्पत्ति, रस के अंग, साधारणीकरण, अलंकार सिद्धान्त एवं अलंकार वर्गीकरण।
4	ध्वनि-सिद्धान्त, ध्वनि का स्वरूप, ध्वनि काव्य के भेद, रीति सिद्धान्त, रीति की अवधारणा एवं काव्य-गुण।
5	वक्रोक्ति सिद्धान्त: वक्रोक्ति की अवधारणा एवं वक्रोक्ति के भेद, औचित्य: अवधारणा एवं भेद।
6	हिन्दी समीक्षा की पृष्ठभूमि: लक्षण काव्य-परिचय, प्रमुख विशेषताएँ, आचार्य की अवधारणा, भेद, चिन्तामणि, देव, भिखारीदास का काव्यशास्त्रीय चिन्तन।
7	हिन्दी के प्रमुख आलोचकों का हिन्दी साहित्य में योगदान एवं लेखन कुशलता की विशेषताएँ: रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, डॉ. नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, अज्ञेय, जयशंकर प्रसाद।
8	प्रमुख आलोचकों का हिन्दी साहित्य में योगदान एवं लेखन कुशलता की विशेषताएँ: डॉ. नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, अज्ञेय, जयशंकर प्रसाद।
9	पाश्चात्य साहित्यशास्त्र: अरस्तु का अनुकरण एवं विरेचन, लौंजाइनस का उदात्त, अरस्तु: अनुकरण, त्रासदी विवेचन। आई.ए. रिचर्डस का सम्प्रेषण, टी. एस. इलियट का निर्वैक्तिकरण का सिद्धान्त।
10	प्रमुख आधुनिक साहित्य वाद: स्वच्छन्दतावाद, मार्क्सवाद, अस्तित्वाद, मनोविश्लेषणवाद, आधुनिकतावाद / उत्तराअधुनिकता।

विषय-सूची

इकाई (Units) **(CONTENTS)** **पृष्ठ संख्या (Page No.)**

1.	साहित्य का स्वरूप एवं काव्यांग *Vinod Kumar, Lovely Professional University*	1
2.	काव्य के प्रकार एवं काव्य प्रयोजन *Reeta Singh, Lovely Professional University*	34
3.	उपन्यास के तत्त्व एवं वर्गीकरण *Hardeep Kaur, Lovely Professional University*	44
4.	कहानी के तत्त्व एवं वर्गीकरण *Vinod Kumar, Lovely Professional University*	49
5.	नाटक के तत्त्व एवं वर्गीकरण *Reeta Singh, Lovely Professional University*	56
6.	निबंध का स्वरूप *Hardeep Kaur, Lovely Professional University*	65
7.	एकांकी, आत्मकथा, जीवन–परिचय, विशेषताएँ एवं तत्त्व *Vinod Kumar, Lovely Professional University*	71
8.	रेखाचित्र संस्मरण तथा रिपोर्ताज का परिचय *Reeta Singh, Lovely Professional University*	83
9.	भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय *Hardeep Kaur, Lovely Professional University*	91
10.	रस सिद्धांत *Vinod Kumar, Lovely Professional University*	104
11.	रस का स्वरूप, रस निष्पत्ति एवं इसके अंग *Reeta Singh, Lovely Professional University*	107
12.	साधारणीकरण की अवधारणा *Hardeep Kaur, Lovely Professional University*	124
13.	भारतीय काव्यशास्त्र : अलंकार का सिद्धांत *Vinod Kumar, Lovely Professional University*	130
14.	ध्वनि सिद्धांत *Reeta Singh, Lovely Professional University*	144
15.	रीति का सिद्धांत *Hardeep Kaur, Lovely Professional University*	149

16. वक्रोक्ति का सिद्धांत 154
Vinod Kumar, Lovely Professional University

17. औचित्य का सिद्धांत 160
Reeta Singh, Lovely Professional University

18. हिंदी समीक्षा की पृष्ठभूमि 165
Hardeep Kaur, Lovely Professional University

19. आचार्य का सिद्धांत : अवधारणा एवं भेद 171
Vinod Kumar, Lovely Professional University

20. आचार्य केशवदास और चिंतामणि का साहित्यिक योगदान 191
Reeta Singh, Lovely Professional University

21. भिखारीदास और देव का साहित्यिक योगदान 194
Hardeep Kaur, Lovely Professional University

22. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (1907–1979) की लेखन कुशलता एवं उनका साहित्यिक योगदान 197
Vinod Kumar, Lovely Professional University

23. महादेवी वर्मा एवं डॉ. नगेन्द्र की लेखन कुशलता एवं उनका साहित्यिक योगदान 211
Reeta Singh, Lovely Professional University

24. डॉ. रामविलास शर्मा, अज्ञेय एवं जयशंकर प्रसाद की लेखन कुशलता एवं उनका साहित्यिक योगदान 223
Hardeep Kaur, Lovely Professional University

25. पाश्चात्य साहित्यशास्त्र–अरस्तु का अनुकरण और विरेचन सिद्धांत 233
Vinod Kumar, Lovely Professional University

26. लौंजाइनस की उदात्त की अवधारणा 238
Reeta Singh, Lovely Professional University

27. आई. ए. रिचर्ड्स का सम्प्रेषण सिद्धांत एवं टी. एस. इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत 245
Hardeep Kaur, Lovely Professional University

28. प्रमुख आधुनिक साहित्यवाद–स्वच्छंदतावाद, मार्क्सवाद 252
Vinod Kumar, Lovely Professional University

29. अस्तित्ववाद एवं मनोविश्लेषणवाद 257
Reeta Singh, Lovely Professional University

30. आधुनिकतावाद एवं उत्तर–आधुनिकतावाद 263
Hardeep Kaur, Lovely Professional University

इकाई–1 : साहित्य का स्वरूप एवं काव्यांग

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
1.1 काव्यांग
1.2 वार्णिक छंद
1.3 'रस' शब्द का अर्थ
1.3.1 'रस' की परिभाषा
1.3.2 काव्य में रस का महत्त्व
1.3.3 भाव तथा रस में अंतर
1.3.4 स्थायी भाव और रस
1.4 अलंकार
1.5 संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य लक्षण
1.5.1 मम्मट के काव्य लक्षण की विवेचना
1.5.2 हिन्दी आचार्यों का काव्य लक्षण
1.6 पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा निर्दिष्ट काव्य लक्षण
1.7 साहित्य और समाज
1.8 सारांश (Summary)
1.9 शब्दकोश (Keywords)
1.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
1.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- छन्द एवं रस की व्याख्या हेतु।
- काव्य में रसों का महत्त्व समझने हेतु।
- अलंकारों की उपयोगिता का वर्णन करने हेतु।
- आचार्य मम्मट के काव्य लक्षणों की विवेचना करने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

हिन्दी साहित्य में काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य की एक विधा 'छन्दों' से जहाँ काव्य में लय, गति एवं संगीतात्मकता आती है, वहीं, 'रस' मनुष्य को सुखद-दु:खद अनुभूतियों के हिंडोलों में झुलाते रहते हैं। काव्य में अलंकारों का भी अपना विशेष महत्त्व है। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार के लिए तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं–अलंकार, लक्षण और चित्र। इनमें सर्वमान्य और सर्व प्रचलित शब्द है–अलंकार।

1.1 काव्यांग

छन्द

परिभाषा–जिसके कारण काव्य में लय, गति के साथ-साथ संगीतात्मकता आती है, उसे छन्द कहते हैं।

छन्द के भेद–छन्द के दो भेद होते हैं–(1) मात्रिक (2) वार्णिक

मात्रिक छन्द–जहाँ मात्राओं का विचार किया जाता है, वहाँ मात्रिक छन्द होता है। इनके चारों चरणों में मात्राएँ एक समान होती हैं, किंतु वर्णों का क्रम एक-सा होना आवश्यक नहीं होता। मात्राएँ दो प्रकार की होती हैं (1) ह्रस्व (लघु) (2) दीर्घ (गुरु)।

1. ह्रस्व (लघु) जहाँ व्यंजनों में ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ) मिला होता है, वहाँ ह्रस्व या लघु मात्रा होती है। इसके लिए (।) चिह्न से स्पष्ट किया जाता है और इसकी एक मात्रा मानी जाती है।

2. दीर्घ (गुरु) जहाँ व्यंजनों में दीर्घ स्वर (अ, ई, ऊ, ऐ, ओ, औ) मिले रहते हैं, वहाँ दीर्घ या गुरु मात्रा होती है। इसके लिए (ऽ) चिह्न बनाया जाता है। इसकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं। अनुस्वारान्त, विसर्गान्त, दीर्घवर्ण एवं संयुक्ताक्षर के पहले का वर्ण, यदि उच्चारण में उस पर जोर पड़ता है, दीर्घ होता है। दीर्घ वर्ण की दो मात्राएँ होती हैं।

वार्णिक छन्द–जिन छन्दों में वर्णों का विचार किया जाता है। उन्हें वार्णिक छन्द कहते हैं। इन्हें वृत्त भी कहा जाता है। वृत्त के तीन भेद होते हैं–(1) सम (2) अर्द्धसम (3) विषम

सम–उन्हें कहते हैं, जिनके चारों चरण समान होते हैं और सभी चरणों की गति एक-सी होती है। जैसे–चौपाई, रोला।

अर्द्धसम–जिसका पहला और तीसरा तथा दूसरा और चौथा चरण समान हो, उसे अर्द्धसम छन्द कहते हैं, जैसे दोहा।

नोट्स जिसका पहला और तीसरा तथा दूसरा और चौथा चरण समान हो, उसे अर्द्धसम छन्द कहते हैं, जैसे दोहा।

विषय–जहाँ चार से अधिक या कम चरण होते हैं, वहाँ विषय छंद होता है, जैसे कुंडलियाँ, छप्पय।

मात्रिक छंद–(1) दोहा-यह अर्द्धसम मात्रिक छंद है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में तेरह-तेरह तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ होती हैं। विषम चरण के प्रारंभ में जगण (।ऽ।) नहीं होना चाहिए और सम चरणों के अंत में लघु वर्ण होना चाहिए। जैसे–

ऽऽ ।। ऽऽ । ऽऽऽ ऽ।। ऽ।

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ (11) जा तन की झाई परै, (13) स्याम हरित दुति होय (11)

नोट–यहाँ पहला और तीसरा चरण विषम है। इनसे तेरह-तेरह मात्राएँ तथा सम दूसरे और चौथे चरणों में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ हैं। तथा इनके अंत में लघु वर्ण हैं।

नोट

(2)

सोरठा–यह अर्द्धसम मात्रिक छंद हैं। यह दोहा का उलटा होता है। अर्थात् इसके विषम (पहले और तीसरे) चरणों में ग्यारह-ग्यारह, तथा सम (दूसरे, चौथे) चरणों में तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं। जैसे–

।। ऽ।। ऽऽ। (11) ऽ।। ऽऽ।।। ऽ (13)

सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे

।। ऽ ।। ऽऽ। (11) ।।। ऽ।ऽ ।।। ।। (13)

बिहसे करुना ऐन, चितइ जानकी लखन तन

नोट–इस उदाहरण में पहले और तीसरे चरण विषम हैं। इनमें ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ हैं और दूसरे और चौथे चरण सम हैं। इनमें तेरह-तेरह मात्राएँ हैं।

(3)

चौपाई–यह मात्रिक सम छंद है। इसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। अंत में दो लघु या दो गुरु रखे जाते हैं किंतु लघु गुरु अथवा गुरु लघु वर्ण नहीं आना चाहिए। जैसे–

।। ।। ।।।। ऽ। ।ऽऽ

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। (16)

।। ऽ ।। ।ऽ। ।। ऽऽ

अति पावन पुरान श्रुति सारा। (16)

ऽ।। ।।। ।ऽ।। ऽऽ

मंगल भवन अमंगल हारी। (16)

।ऽ ।।। ।। ।।। ।ऽऽ

उमा सहित जेहि जपत पुरारी। (16)

नोट–इस उदाहरण के प्रत्येक चरण में सोलह-सोलह मात्राएँ हैं और चारों चरणों के अंत में गुरु वर्ण है।

रोला–इसके प्रत्येक चरण में 11 और 13 के विराम से 24 मात्राएँ होती हैं। कुछ आचार्य इसके अंत में दो गुरु वर्णों का होना आवश्यक मानते हैं, परंतु ऐसा होना अनिवार्य नहीं। उदाहरण–

।। ऽ ।। ऽ । ऽ ऽ। ।। ऽ।। ऽऽ

उसके उर में लसी, कान्तअरुणोदय लाली।–24 मात्राएँ

हरिगीतिका–इसके प्रत्येक चरण में 16, 12 के विराम से 28 मात्राएँ होती हैं। अंत में एक लघु और एक गुरु होता है। उदाहरण–

।। ऽ। ऽऽ ऽ ।ऽ ।। ।। ।ऽ ऽऽ ।ऽ

खग वृन्द सोता है अत: कल, कल नहीं होता वहाँ। 28 मात्राएँ

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. काव्य में जिसके कारण लय, गति एवं संगीतात्मकता आती है, उसे .... कहते हैं।
2. जिसका पहला और तीसरा तथा दूसरा और चौथा चरण समान हो, उसे .... कहते हैं।
3. 'मंगल भवन अमंगल हारी,' चौपाई में .... मात्राएँ हैं।

नोट

1.2 वार्णिक छंद

वार्णिक छंदों में लय की रक्षा के लिए लघु गुरु वर्णों का विधान किया जाता है। तीन वर्णों के समूह को 'गण' कहते हैं। वर्णों के समूह के आधार पर आठ गण माने जाते हैं। वे हैं–

	गण	लक्षण	संकेताक्षर
1.	यगण	।ऽऽ	य
2.	मगण	ऽऽऽ	म
3.	तगण	ऽऽ।	त
4.	रगण	ऽ।ऽ	र
5.	जगण	।ऽ।	ज
6.	भगण	ऽ।।	भ
7.	नगण	।।।	न
8.	सगण	।।ऽ	स

इन्हें स्मरण रखने के लिए संकेत सूत्र दिया जाता है–

"यमाताराजभानसलगम्"

इनमें से जिस गण का रूप ज्ञात करना होता है उसी वर्ण के साथ आगे आने वाले दो वर्णों को लेकर उनके लघु और गुरु चिह्नों से गण के स्वरूप को जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए, हमें यदि मगण का स्वरूप ज्ञात करना है तो म वर्ण के साथ आगे आने वाले दो वर्णों को लेकर 'मातारा' तीन वर्ण उक्त सूत्र में से निकाल लिए। ये तीनों वर्ण गुरु हैं इसलिए मगण में तीनों वर्ण गुरु ही होते हैं यह स्पष्ट हो गया। अब इसी प्रकार हम आठों गणों के स्वरूप को निम्नलिखित प्रकार से जान लेंगे–

नाम	स्वरूप	सूत्रांश	उदाहरण
यगण	।ऽऽ	यमाता	यशोदा
मगण	ऽऽऽ	मातारा	वैशाली
तगण	ऽऽ।	ताराज	आमोद
रगण	ऽ।ऽ	राजभा	ज्ञानदा
जगण	।ऽ।	जभान	किसान
भगण	ऽ।।	भानस	आँगन
नगण	।।।	नसल	कमल
सगण	।।ऽ	सलगा	सजला।

सवैया–बाईस से छब्बीस वर्णों तक के चार चरण वाले छन्द सवैया कहलाते हैं। इसके 48 भेद बताए गए हैं। उनमें प्रसिद्ध भेद हैं–मत्तगयन्द, मदिरा, दुर्मिल आदि।

मदिरा सवैया–यह वार्णिक समछन्द है। इसके प्रत्येक चरण में सात भगण और एक गुरु वर्ण होता है। यह 22 वर्णों का छन्द है।

भगण	भगण	भगण	भगण	भगण	भगण	भगण	गुरु
ऽ।।	ऽ।।	ऽ।।	ऽ।।	ऽ।।	ऽ।	। ऽ।।	ऽ

नोट

लक्ष्मण के पुरिषान कियो पुरुषाथ सो न कह्यो परई।
वेष बनाय कियो बनितान को देखत केशन ह्यो हरई।।
कूर कुठार निहारि तजो फल ताको यहै जु हियो जरई।
आजु ते तोकहँ बंधु महा धिक् क्षत्रिन पै जु दया करई।।

उक्त पद में 7 भगण और अंत में एक गुरु वर्ण कुल मिलाकर 22 वर्ण हैं, अतः मदिरा सवैया है।

मत्तगयन्द सवैया–यह वार्णिक समछन्द है। इसके प्रत्येक चरण में सात भमण और दो गुरु के क्रम से 23 वर्ण होते हैं।

ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ। । ऽ। । ऽ।। ऽ।। ऽ ऽ
केसब ये मिथिलाधिप हैं जग में जिन कीरति बेल बई है।
दान कृपान विधानन सों सिगरी वसुधा जिन हाथ लई है।।

अंग छ सातक आठक सों भव तीनहुँ लोक में सिद्धि भई है।
वेदत्रयी अरु राजसिरी परिपूरना ता सुभ जोगमई है।

दुर्मिल सवैया–यह वार्णिक समछन्द है। इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण के क्रम से चौबीस वर्ण होते हैं।

सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण
।।। ।।ऽ ।।ऽ ऽ।।ऽ।। ऽ।ऽ।। ।ऽ।। ।ऽ।।

सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहँ एक घटी।
निघटी रुचि मीचु घटी हूँ घटी जगजीव जतीन की छूटी तटी।
गद्य ओघ की बेटी कटी विकटी निकटी प्रगटी गुरु ज्ञान गटी।
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी गुन धूरजटी बन पंचवटी।।

उक्त पद के प्रत्येक चरण में आठ सगण हैं। यह 24 वर्णों वाला दुर्मिल सवैया है।

इंद्रवज्रा–यह 11 वर्णों का समछन्द है। इसके प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण और दो गुरु वर्ण होते हैं। उदाहरण–

ऽ ऽ । ऽ ऽ। ।ऽ। ऽ ऽ ऽ
मैं जो नया ग्रंथ विलोकता हूँ।
भाता मुझे सो नव मित्र सा है।
देखूँ उसे मैं नित सार वाला।
मानो मिला मित्र मुझे पुराना।

भ्रांतिमान–जहाँ उपमेय जान पड़ने लगे अर्थात् जब समानता के कारण एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का भ्रम हो वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है। उदाहरण–

पाय महावर देन को, नाइन बैठी आय।
फिर-फिर जान महावरी, एँड़ी मीड़ति जाय।।

नोट–इस उदाहरण में उपमान महावर है और उपमेय नायिका की लाल एँड़ी है। लाल रंग की समानता के कारण नायिका के पैरों में महावर लगाते समय नाइन को भ्रम हो रहा है अतः भ्रान्तिमान अलंकार है।

संदेह–जहाँ अप्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत (उपमान) का संशयात्मक ज्ञान समानता के कारण हो वहाँ संदेह अलंकार होता है। इसमें अनिश्चय की स्थिति बनी रहती है। उदाहरण–

नोट

विरह है या अखंड संयोग

शाप है या है यह वरदान॥

यहाँ विरह प्रस्तुत है और अखंड संयोग, शाप एवं वरदान अप्रस्तुत। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में संदेह बना हुआ है अत: संदेह अलंकार है।

व्यतिरेक—जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का विशेष अतिरेक (गुणोत्कर्ष) होता है। वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। **उदाहरण**—

का सरवर तेहि देड मयंकू।

चाँद कलंकी वह निकलंकू॥

इस उदाहरण में पद्मावती का ललाट उपमेय है द्वितीया के चंद्रमा की ज्योति उपमान है। चंद्रमा की ज्योति (उपमान) नायिका के ललाट (उपमेय) से कम है अत: यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

अन्योक्ति—जहाँ अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत समान वस्तु की प्रतीति कराई जाए वहाँ अन्योक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण— नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।

अली कली ही सौं बिंध्यौं, आगे कौन हवाल॥

यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर और कली से प्रस्तुत राजा जयसिंह को उनकी नई रानी के प्रति आसक्ति से हटाकर उन्हें राजकाज की ओर प्रवृत्त करना है। अत: यहाँ पर अन्योक्ति अलंकार है।

विभावना—जहाँ कारण के अभाव में कार्य संपन्न होता है वहाँ यह अलंकार होता है।

उदाहरण— **बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना।**

कर बिनु करै करम विधि नाना॥

यहाँ बिना पैरों के चलना, बिना कानों के सुनना, बिना हाथों के अनेक कर्म करना आदि कार्य संपन्न हो रहे हैं अत: विभावना अलंकार है।

मानवीकरण—इसका शाब्दिक अर्थ है मानव करता अर्थात् जो वस्तुत: मानव नहीं है उसमें मानवीय गुण क्रियाओं का आरोप कर उसे मानव बनाना। दूसरे शब्दों में, प्रकृतिजन्य पदार्थों में मानवीय गुणों का आरोपण ही मानवीकरण कहलाता है।

उदाहरण—धीरे-धीरे हिम आच्छादन हटने लगा धरातल से।

जगी वनस्पतियाँ अलसाई मुख धोती शीतल जल से।

यहाँ वनस्पतियों का जगना, अलसाना और शीतल जल से मुख धोना मानवी क्रियाएँ हैं अत: मानवीकरण अलंकार है।

विशेषण-विपर्यय—जहाँ विशेषण का विपर्यय होता है अर्थात् जहाँ विशेषण को अपने वास्तविक विशेष्य से हटाकर किसी अन्य विशेष्य के साथ कलात्मकता से जोड़ दिया जाता है वहाँ विशेष विपर्यय अलंकार होता है।

उदाहरण— **"इस करुण कलित हृदय में**

क्यों विकल रागिनी बजती?"

नोट—यहाँ 'विकल' विशेषण को 'रागिनी' के साथ जोड़ दिया गया है। 'रागिनी' विकल नहीं होती अपितु विरही व्यक्ति विकल होता है। अत: वहाँ विशेषण विपर्यय अलंकार है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. तीन वर्णों के समूह को क्या कहा जाता है?
   (अ) तगण (ब) जगण
   (स) गण (द) सगण
5. बाईस से छब्बीस वर्णों तक के चार चरण वाले छन्द क्या कहलाते हैं?
   (अ) सवैया (ब) दोहा
   (स) सोरठा (द) इनमें से कोई नहीं।
6. 'रगण' गण में संकेताक्षर क्या है?
   (अ) म (ब) भ
   (स) र (द) स

1.3 'रस' शब्द का अर्थ

'रसो वै स:'–कह कर भारतीय तत्त्व-वेत्ताओं ने ब्रह्म के रस-रूप होने की उद्घोषणा की है। परमात्मा आनंद-स्वरूप है। 'आनंद' का ही दूसरा नाम 'रस' है। अत: परमात्मा रस-रूप है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में वही आनंद-रूप परमात्मा तत्त्वत: परिव्याप्त है, इसीलिए किसी वस्तु के 'सार-तत्त्व' को भी 'रस' कहा जाता है। 'रस' शब्द का अर्थ समझाते हुए हमारे यहाँ कहा गया है–'रस्यते आस्वाद्यते इति रस:'–अर्थात् जिसका आस्वाद किया जाता है वह 'रस' है। साथ ही–'सरते इति रस:' अर्थात् जो द्रवित हो वह 'रस' है। इसी कारण भोजन में आस्वाद (कटु, तिक्त आदि) को 'षट्रस' कहा गया है। जल को उसके 'द्रवत्व' के कारण 'रस' कहते हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में कुछ विशिष्ट औषधियों को भी 'रस' संज्ञा दी गई है। इस प्रकार, 'रस' शब्द 'आनंद', 'सार-तत्त्व', 'आस्वाद', 'द्रव', औषधि विशेष, इंद्रिय-सुख आदि विविध अर्थों का वाचक है। काव्य में यही 'रस' शब्द उसके भाव-तत्त्व के आस्वाद (काव्यानन्द) के लिए प्रयुक्त होता है।

1.3.1 'रस' की परिभाषा

स्थायी भाव प्रत्येक मानव-हृदय में सदैव विद्यमान रहते हैं, किंतु सुषुप्तावस्था में। पर्याप्त उद्बोधक कारणों के विद्यमान होने पर ये सुषुप्त स्थायी भाव जाग उठते हैं। 'काव्य' के द्वारा इन उद्बोधक उपकरणों के प्रस्तुतीकरण से भी सहृदयजनों के स्थायी-भाव उद्बुद्ध हो जाते हैं। यही जाग्रत स्थायी-भाव अपनी पूर्ण परिपक्वावस्था में 'रस' कहे जाते हैं।

क्या आप जानते हैं मानव-हृदय में अनेकानेक 'भावों' का आगार है। ये भाव समय-समय पर जाग्रत होकर मनुष्य को सुखद-दु:खद अनुभूतियों के हिंडोले में झुलाते रहते हैं। भारतीय आचार्यों ने इन भावों का सूक्ष्म एवं विस्तृत अध्ययन करके इन्हें दो भागों में विभक्त किया है–(1) स्थायी भाव तथा (2) अस्थायी या संचारी या व्यभिचारी भाव।

'स्थायी-भाव' को रस-रूप में परिणत होने के लिए जिन विविध कारणों की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें **आचार्य भरत मुनि** ने रस-निष्पत्ति संबंधी अपने प्रसिद्ध सूत्र में इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

नोट

विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। अभिप्राय यह है कि जब पर्याप्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी अथवा संचारी भावों के संयोग से मानव-हृदय में सुषुप्त कोई (रति, उत्साह आदि) स्थायी-भाव जाग्रत होकर पुष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब उस व्यक्ति को 'रस' की अनुभूति होती है।

इस विवेचन के पश्चात् हम रस की परिभाषा इन शब्दों में कर सकते हैं–

सहृदय-जनों (श्रोता, पाठक, दर्शक) के हृदय में स्थित स्थायी-भाव (रति, उत्साह, भय आदि) जब उपयुक्त विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के द्वारा उद्बुद्ध हो जाता है तो वही रस कहलाता है।

इस प्रकार, रस की अवस्था स्थायी-भाव की ही जाग्रत, उद्बुद्ध पुष्ट, परिपक्व अथवा सचेतावस्था है। प्रसिद्ध रसवादी आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, "विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों द्वारा व्यक्त हुए सचेत इत्यादि स्थायी-भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।"

रस की यह अवस्था 'आनंद' की अवस्था है। इस स्थिति में सहृदय अपने व्यक्तित्व को क्षण भर के लिए विस्मृत कर बैठता है और आनन्दानुभूति मात्र करता है। यह सहृदय की आनन्दानुभूति में पूर्ण तन्मयता की अवस्था है। निज-पर की व्यष्टिगत अनुभूति से उठकर रस-दशा में सहृदय समष्टिगत अनुभूत्यात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। यह है तो भाव (स्थायी-भाव) की ही अवस्था, किन्तु यह भाव के चरमोत्कर्ष का धरातल है, जहाँ विशुद्ध आनंद की अनुभूति ही शेष रह जाती है। यही कारण है कि सामान्य जीवन की सुख-दु:खात्मक भाव-दशा से पृथकता दर्शाते हुए हमारे मनीषियों ने रस-दशा को 'अलौकिक' तथा 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।

1.3.2 काव्य में रस का महत्त्व

काव्य में मानव-अनुभूतियों की सरस अभिव्यक्ति होती है। मानवीय भावनाओं को इस प्रकार सजीव रूप में अभिव्यक्त करने वाले काव्य का स्वरूप समझने-समझाने का सफल प्रयास भारतवर्ष में सुदीर्घकाल से होता आया है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय आचार्यों द्वारा 'रस' को काव्य का मूलभूत 'प्राण-तत्त्व' अथवा 'आत्म-तत्त्व' स्वीकार किया गया है। काव्य में रस के महत्त्व-प्रतिपादन की दीर्घ परंपरा में स्पष्ट शब्दों में रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य हैं–विश्वनाथ। उनके अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है।–**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'** आचार्य विश्वनाथ की उक्त घोषणा के पश्चात् तो 'रस' को प्रायः सर्वमान्य रूप से काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है। अलंकार, ध्वनि, गुण, रीति आदि का काव्य में अपना महत्त्व है, किन्तु काव्य का प्राण 'रस' ही है। काव्य के अन्य उपादान इसी रस के संवर्द्धक, पोषक अथवा उद्भासक रूप में अपनी उपयोगिता रखते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'कविता क्या है' शीर्ष निबंध में 'हृदय की मुक्तावस्था' को रस-दशा कहा है और उनका मत है कि इसी हृदय की मुक्तावस्था की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, वही कविता है। आचार्यश्री का यह कथन सिद्ध करता है कि काव्य का लक्ष्य 'हृदय की मुक्तावस्था' अथवा 'रस-दशा' प्राप्त करना है। वस्तुतः, जो काव्य रस-दशा तक पहुँचाने में असमर्थ है उसे सफल काव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'रस' काव्य की आत्मा है और वही उसका साध्य भी है। अतः काव्य में रस का महत्त्व वही, जो मानव-शरीर में उसकी आत्मा का है। जिस प्रकार आत्म-तत्त्व विहीन सुंदर-से-सुंदर शरीर भी निष्प्राण होने के कारण त्याज्य हो जाता है, वैसे ही रस-विहीन काव्य भी निरानन्द, निष्प्राण शाब्दिक प्रलाप मात्र रह जाता है। जैसे आत्म-साक्षात्कार मानव-जीवन का चरम-साध्य है, वैसे की काव्य का साध्य भी उसकी आत्मा 'रस' का साक्षात्कार है। इस प्रकार, काव्य का महत्त्व रस में है। 'रस' के अभाव में, सच्चे अर्थों में, काव्य का अस्तित्व ही असंभव है।

टास्क काव्य में रस के महत्त्व पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।

1.3.3 भाव तथा रस में अंतर

काव्य में जिसे 'रस' कहा गया है, वह भाव की ही मुक्ति एवं चरमोत्कर्ष की अवस्था है। रति, उत्साह, भय, विस्मय, शोक आदि स्थायी-भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से जाग्रत हो उठते हैं और इनकी यह जाग्रत अथवा पुष्ट अवस्था ही रस की अवस्था है। इससे स्पष्ट है कि रस भाव की ही उत्कृष्ट, जाग्रत, पुष्ट एवं निर्बन्ध (मुक्त) अवस्था है। **आचार्य रामचंद्र शुक्ल** के शब्दों में 'हृदय की मुक्तावस्था' ही रस-दशा कही जाती है। यहाँ 'हृदय की मुक्तावस्था' का अर्थ 'भाव की मुक्तावस्था' से ही है। इसीलिए शुक्ल जी ने आगे चलकर इसे 'भावयोग' कहा है।

इस बात से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि 'भाव' को ज्यों का त्यों 'रस' नहीं कहते हैं हाँ, इस है भाव की ही एक अवस्था विशेष। प्रश्न उठता है–तब 'भाव' और 'रस' में क्या अंतर है। यहाँ हमें यह ध्यान रखना होगा कि भाव से अर्थ है हमारे सामान्य जीवन की सुखद तथा दुःखद नाना अनुभूतियाँ। हमारे मन में समय-समय पर न जाने क्या-क्या भाव उठते रहते हैं? जब वे जागते हैं, तब तो हमें उनकी अनुभूति होती है, पर वे मन में सुषुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। इन अनेक भावों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुभूति (Feeling), संवेग (Emotion), भावना या स्थायी-भाव (Sentiment) आदि वर्गों में विभक्त करते हैं। भारतीय आचार्यों ने स्थायित्व के आधार पर भावों के दो वर्ग स्वीकार किए हैं–(1) स्थायी भाव तथा (2) संचारी भाव।

ये स्थायी तथा अस्थायी (संचारी) भाव हमारे लौकिक सामान्य धरातल के सुखद अथवा दुखद भाव हैं और 'रस' सामान्य लौकिक स्थायी भाव की ही एक अलौकिक एवं 'ब्रह्मानन्द सहोदर' आनन्दमय परिणति है। इन दोनों-भाव तथा रस-में हम मुख्यतः निम्नलिखित अंतर पाते हैं–

(1) 'भाव' की अवस्था एक निम्नकोटि की अनुभूत्यात्मक अवस्था है, 'रस' इसी भाव (स्थायी-भाव, संचारी नहीं) की एक उत्कृष्ट एवं पूर्ण परिपक्व अवस्था है। इस प्रकार, भाव तथा रस दो अलग-अलग प्रकार की अनुभूत्यात्मक अवस्थाएँ हैं।

(2) 'भाव' हमारे दैनिक-जीवन की प्रत्यक्षानुभूति हैं, जबकि 'रस' काव्यानुभूति है अर्थात् भावों की अनुभूति तो हम अपने दैनिक जीवन में विभिन्न वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होने पर करते हैं, पर 'रस' की अनुभूति काव्य के भावन, श्रवण अथवा दर्शन की अवस्था में ही होती है, दैनिक-प्रत्यक्षीकरण में नहीं।

(3) भावों की अनुभूति सुखद अथवा दुखद होती है, पर 'रस' की अनुभूति 'आनंद' की अनुभूति होती है। कोई स्थायी-भाव जब रस-दशा को प्राप्त होता है, तो सुखद या दुखद न रहकर आनन्द-स्वरूप बन जाता है। उसकी सुखात्मकता अथवा दुखात्मकता का पर्यावसान 'आनंद' में हो जाता है।

(4) 'भाव' सात्त्विक, राजसिक अथवा तामसिक होते हैं, किंतु 'रस' विशुद्ध सात्त्विक अनुभूति है। रजस् और तमस् का पूर्ण तिरोभाव एवं सहज सत्वोद्रेक होने पर ही स्थायी-भाव रस-रूप में परिणत होते हैं।

(5) 'भाव' लौकिक है, 'रस' अलौकिक। भाव की अनुभूति लौकिक धरातल की अनुभूति है किंतु 'रस' की अनुभूति योगी द्वारा आत्म-साक्षात्कार की अखंडानन्दानुभूति के समान (ब्रह्मानन्द सहोदर) है, अतः वह अलौकिक अनुभूति है।

(6) 'भाव' की अनुभूति के समय व्यक्ति को 'अहं' अथवा अपने व्यक्तित्व का ज्ञान भी रहता है। वह यह जानता है कि वह अमुक दुखद भाव अथवा सुखद भाव की अनुभूति कर रहा है। उदाहरणार्थ–एक प्रेमी यह भी जानता है कि 'मैं अपनी प्रिया को हृदय से प्रेम कर रहा हूँ।' किंतु 'रस' की स्थिति इससे भिन्न होती है। रसानुभूति के क्षणों में सहृदय अपने अहं अथवा अपने व्यक्तित्व को एक क्षण के लिए (जब तक उस

नोट

रसानुभूति में निमग्न है) भूल जाता है। शृंगार रस की अनुभूति में 'मैं हृदय से प्रेम करता हूँ' का ज्ञान नहीं होता, मात्र 'प्रेम की अनुभूति का आनंद' होता है। इस प्रकार, भावानुभूति वैयक्तिक है जबकि रसानुभूति निर्वैयक्तिक होती है। भाव की अनुभूति के क्षणों में व्यक्ति का हृदय 'मैं–तू' के भेदमूलक ज्ञान में बँधा होता है, जबकि रस की दशा में व्यक्ति का हृदय इन बंधनों से पूर्ण मुक्त हो जाता है। हाँ, हृदय की यह मुक्ति कुछ ही क्षणों के लिए हो पाती है।

(7) 'भावों' की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती (और होती) है, किंतु 'रस' की अनुभूति केवल सहृदय-जनों को ही होती है। प्रत्येक व्यक्ति 'रस' की अनुभूति में समर्थ नहीं होता।

इस प्रकार, यद्यपि भाव ही रस-रूप में परिणत होते हैं, पर 'भाव' और 'रस' में बहुत अंतर है। जैसे बीज ही वृक्ष नहीं है वैसे ही 'भाव' ही 'रस' नहीं है।

मानव-मात्र के हृदय में वासना-रूप में अथवा संस्कार-रूप में विभिन्न स्थायी-भाव निहित रहते हैं। बाह्य जगत् की कतिपय वस्तुओं के संपर्क से वे भाव जाग उठते हैं, बाह्य वातावरण एवं व्यक्ति की अपनी चेष्टाएँ और विविध संचारी-भाव इस जाग्रत स्थायी-भाव को उद्दीप्त तथा पुष्ट करते हैं, और यह भाव इस प्रकार से पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त कर रस-रूप में परिणत हो जाता है। भाव के रस में परिणत होने की इस प्रक्रिया को ही आचार्यों ने 'रस-निष्पत्ति' कहा है। रस-निष्पत्ति का सूत्र-विभानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पतिः।

रस-निष्पत्ति स्थायी-भाव की रस-रूप में परिणति की प्रक्रिया है। जिसकी विवेचना इस प्रकार है–

विभाव–विभाव का शाब्दिक अर्थ है कारण विभित्त अथवा हेतु। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जो सामाजिक के अंतर्गत रति, हास आदि भावों को जाग्रत एवं उद्दीप्त करते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। विभाव के दो भेद होते हैं–

1. आलम्बन 2. उद्दीपन

1. **आलम्बन**–जिसके सहारे स्थायी-भाव (रति, हास आदि) उत्पन्न होते हैं उसे आलम्बन कहते हैं। जैसे–सीता को देखकर राम के हृदय में में रति भाव जाग्रत हुआ। यहाँ पर सीता आलम्बन है।
2. **उद्दीपन**–उद्दीपन का शाब्दिक अर्थ है–बढ़ाना अर्थात् आलम्बन की चेष्टा या वातावरण आदि को उद्दीपन कहते हैं। पुष्पवाटिका का एकान्त वातावरण आलम्बन और आश्रय के हृदय में रति भावोद्दीप्त करता है। चाँदनी रात वियोग शृंगार को उद्दीप्त करती है।

आश्रय–जिसके हृदय में भाव उत्पन्न और संचरित होते हैं, उसे आश्रय कहते हैं। 'राम के हृदय में 'रति' भाव का जाग्रत होना' उदाहरण में 'राम' आश्रय हैं।

अनुभाव–अनुभावों द्वारा इस बात का ज्ञान होता है कि आश्रय के हृदय में रस की निष्पत्ति हो रही है अथवा नहीं। हो रही है तो किस रस की। काव्य में अनुभावों का चित्रण उसे उत्कृष्टता प्रदान करता है। अनुभावों के 4 प्रकार हैं–कायिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य।

संचारी भाव–मस्तिष्क में आविर्भूत और तिरोहित होते रहने वाले स्थायी-भाव के सहकारी कारण संचारी कहलाते हैं। सभी रसों में संचरण करने और किसी विशेष से संबंधित न होने से ये व्यभिचारी पुकारे जाते हैं। ये तैंतीस हैं–

(1) निर्वेद, (2) आवेग, (3) ग्लानि, (4) शङ्का, (5) दैन्य, (6) श्रम, (7) मद, (8) जड़ता, (9) उग्रता, (10) अमर्ष, (11) मोह, (12) उन्माद, (13) असूया, (14) चिन्ता, (15) विषाद, (16) औत्सुक्य, (17) निद्रा, (18) व्याधि, (19) आलस्य, (20) हर्ष, (21) गर्व, (22) धृति, (23) मति, (24) चापल्य, (25) ब्रीड़ा, (26) अवहित्थ, (27) स्वप्न, (28) विवोध, (29) अपस्मार, (30) स्मृति, (31) त्रास, (32) वितर्क, (33) मरण

'देव' ने 'छल' नामक 34वें संचारी की कल्पना की है।

स्थायी भाव–जो मान चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहते हैं, जिन्हें विरोधी या सजातीय भाव छिपा या दबा नहीं सकते

नोट

हैं। जो आलम्बन, उद्दीपन तथा अनुभाव आदि में मिलकर रस रूप में प्रगट हो जाते हैं। उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। जैसे मिट्टी के बर्तन (कच्चे) में सुगंध पहले से ही विद्यमान रहती है और कली (फूल) में सुगंध छिपी रहती है। किंतु पानी की छींटे पड़ने पर सोंधी महक और खिलने तथा वायु के चलने से सुगंध बिखरने लगती है। वैसे ही चित्त में स्थायी-भाव सदैव बना रहता है। अनुकूल निर्माण आदि से संबंध स्थापित होने पर स्थायी-भाव विकसित होता है तथा संचारी भाव की सहायता से रस की अवस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार स्थायी-भावों की मुख्य 3 विशेषताएँ हैं–

1. अन्यभाव इसमें स्वत: विलीन हो जाते हैं।
2. सनातीय तथा विरोधी भावों से नष्ट नहीं होता है।
3. विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से परिपुष्ट होकर रस रूप ग्रहण करता है।

स्थायी भावों की संख्या–नौ मानी गई है–(1) रति (2) हास (3) शोक (4) क्रोध (5) उत्साह (6) भय (7) घृणा (8) आश्चर्य (9) निर्वेद। इन्हीं नौ स्थायी-भावों के आधार पर नौ रसों की कल्पना की गई है–

1.3.4 स्थायी भाव और रस

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय (जुगुप्सा), घृणा, आश्चर्य (विस्मय), निर्वेद (वैराग्य)–स्थायी भाव

श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत, शांत

नोट–इन नौ रसों के अतिरिक्त और दो रसों की कल्पना की गई है–(1) भक्ति (2) वात्सल्य। इस प्रकार कुल 11 रस माने गए हैं।

1. श्रृंगार रस–दो शब्दों से बना है (1) श्रृंग और (2) आर। 'श्रृंग' शब्द का अर्थ कामोद्रेक अर्थात् कामभाव की वृद्धि। 'आरा शब्द का अर्थ 'गमन' अर्थात् उन्मुख होना या प्राप्त होना है। आचार्य मम्मट ने दाम्पत्य रति को ही श्रृंगार माना है।

परिभाषा–किसी के मन में संस्कार रूप में वर्तमान रहने वाला 'इति' नामक स्थायी-भाव जब उपयुक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से जाग्रत पुष्ट होकर रस रूप में परिणत होते हैं, तब उसे श्रृंगार रस कहते हैं।

श्रृंगार के दो भेद–(1) संयोग श्रृंगार–इस भेद में नायक-नायिका का संयोग अनिवार्य है। यह संयोग मौलिक से अधिक मानसिक स्तर पर होना चाहिए। इस प्रकार जहाँ नायक-नायिका के मिलन विषयक 'रति' भाव की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ संयोग श्रृंगार होता है।

जैसे– (1) *देखन मिस मृग विहग तरु फिरइ बहेती बहोरि।*
निरखि निरखि रघुवीर छवि बाढ़इ प्रीति न थोरि। –मानस-बालकांड दो–234

नोट–ऊपर के उदाहरण में **आश्रय**-सीता। आलंबन-राम। उद्दीपन-राम का सौंदर्य है। अनुभाव-फिर-फिर कर बार बार देखना अनुभाव है। संचारी भाव उत्कंठा है। इस प्रकार इस उदाहरण में संयोग श्रृंगार है।

(2) *लखि ससंक क्षनौ सदन, मन्दहास गति मंद।*
चन्द्रमुखी कौ अंक भरि, लट्‌यौ सुख ब्रजचंद्र।

नोट–ऊपर के उदाहरण में आलम्बन-राधा। आलम्बन-ब्रज चंद्र श्री कृष्ण हैं। चंद्रमा, सूना घर, मन्दहास और मंदगति उद्दीपन विभाव है। अनुभाव अलिंगत है। संचारी भाव हर्ष है। इस प्रकार इस उदाहरण में संयोगश्रृंगार रस है।

वियोग श्रृंगार–श्रृंगार के इस भेद में नायक-नायिका में पर स्वर 'रति' भाव तो होता है, पर मिलन का अभाव होता है। इसके चार भेद होते हैं–(1) **पूर्वणा**–चित्र दर्शन, गुणश्रवण आदि के कारण नायक-नायिका जब एक दूसरे को

नोट

देखने से पहले ही मिलन के लिए वियोग से चंद्रमूर्ति करते हैं, तो उसे पूर्वणा कहते हैं। (2) **मान**–कभी-कभी नायक-नायिका परस्पर रूठ जाते हैं। और उस अवस्था में न मिल सकने से वियोग की अनुभूति होती है। यही मान कहलाता है। (3) **प्रवास**–शाप, भय अथवा जीवकोपार्जन आदि के कारण नायक-नायिका एक-दूसरे से अलग होकर भिन्न स्थानों में वास (निवास) करते हैं। ऐसी स्थिति में जो वियोग होता है, उसे प्रवास वियोग कहते हैं। (4) **करुण**–पराकारण पर पहुँचा हुआ वियोग, जिसमें मिलन की आशा रहती है, करुण वियोग कहलाता है।

वियोग श्रृंगार की कामदशाएँ–आचार्यों ने दस दशाएँ मानी हैं–(1) अभिलाषा, (2) चिन्ता, (3) स्मृति, (4) गुप्त कथन, (5) उद्वेग, (6) प्रलाप, (7) उन्माद, (8) कारण, (9) जड़ता, (10) मरण।

वियोग श्रृंगार का उदाहरण–

(1) *चितै चित्र से लाल के, अमल अमोल कपोल।*

ललकित लालायित भए, ललना लोलन लोल।।

नोट–इस उदाहरण में **आलम्बन**–परदेश गया हुआ नायक है। **उद्दीपन**–चित्र में नायिका द्वारा नायक के सुंदर कपोलों का दर्शन करना। **अनुभाव**–प्रिय-दर्शन के लिए ललकना। **संचारी भाव**–उत्कंठा, स्मृति है। **आश्रय**-नायिका है अत: वियोग श्रृंगार है।

(2) *अति मलान वृषभान कुमारी।*

अधमुख रहति उरधि नहिं चितवति ज्यों शक हारे ककित जुवारी।

छुटे चिहुर बदन कुंभिलाने ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।

हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई, इक विरहनि दूजे अलि जारी। सूरदास

नोट–ऊपर के उदाहरण में **आश्रय**–राधा। **आलम्बन**–श्रीकृष्ण। **उद्दीपन** हरिश संदेश और विरह से स्थिति। **अनुभाव**–अति मलीन, अधोमुख रहना, ऊपर की ओर न देखना, बदन कुम्हलाना। **संचारी भाव**–दैत्य, मरण, ग्लानि हैं। अत:

प्रवास मूलत: वियोग श्रृंगार हैं।

(3) *हास्य रस–हास्य का मूल किसी-न -किसी प्रकार की विकृति में है। किसी के विकृत रूप, आकार, विचित्र वेश-भूषा, वाणी तथा मूर्खतापूर्ण चेष्टा ज्यों आदि को देखकर जब हँसी आती है, तभी हास्य रस होता है।*

परिभाषा–किसी के मन में संस्कार रूप में वर्तमान रहने वाला 'हास' नामक स्थायी-भाव जब उपयुक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से जाग्रत और पुष्ट होकर रस रूप में आस्वाद्य योग्यता को प्राप्त कर लेता है, तब उसे हास्य रस कहते हैं। आचार्य भरतमुनि ने हास्य के दो रूप बताए हैं–(1) **आत्मस्थ**-जिसमें हम स्वयं हँसते हैं। (2) **परस्थ**–जिसमें दूसरों को हँसाते हैं।

हास्य के भेद–हास की अभिव्यक्ति के स्वरूप-भेद के आधार पर छह भेद होते हैं–

1. **स्मित हास**–दोनों का प्रफुल्लित होना और कम्पन का छा जाना। (उत्तम व्यक्तियों में)
2. **हसित**–इसमें दंत पंक्ति भी थोड़ी-थोड़ी दिखने लगती है। (उत्तम व्यक्तियों में)
3. **विहसित**–जब दंत पंक्ति दिखने के साथ हल्का मधुर शब्द सुनाई दे, उसे विहसित कहते हैं। (मध्यम व्यक्तियों में)
4. **अवहसित**–उपर्युक्त लक्षणों में साथ शरीर का काँपना। (मध्यम व्यक्तियों में)
5. **अपहसित**–हँसते-हँसते आँसू निकल जाए। (निकृष्ट व्यक्तियों में)

6. **प्रतिहासित**–सारी देह का काँपना, आँखों से आँसू निकलना, व्यक्ति का हाथ पैर पटकना। (निकृष्ट व्यक्तियों में)

उदाहरण– (1) *पिल्ला लीने गोद में मोटर भई सवार।*
अली मली घूमन चली किए समाज सुधार।
किए समाज-सुधार हवा यूरप की लागी,
शुद्ध विदेशी चाल-ढाल सों मति अनुरागी।
मियाँ मचावैं शोर करे अब तोबा तिल्ला,
पूत धाय की गोद, खिलावै बीवी पिल्ला।

(अन्नपूर्णानन्द साप्ताहिक हिन्दुस्तान 14 मार्च, 1871)

ऊपर के उदाहरण में **आलम्बन**-गोद में पिल्ला लिए हुए मोटर में सवार बीवी है। **आश्रय**-मियाँ (पति) हैं। **उद्दीपन**-यूरोप की हवा लगना, मियाँ का शोर मचाना, पुत्र का धाय की गोद में होना और पिल्ले को खिलाना है। **अनुभाव**-शुद्ध विदेशी चाल-ढाल आदि हैं। **संचारी भाव**-गर्व, सद और चपलता हैं। इन सबसे पुष्ट होकर हास्य रस है।

उदाहरण– (2) *बहु धनु लै, अहसानु कै, फरौ देत सराहि।*
बैद-बधू, हँसि मेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि। बिहारी रत्नाकर, 479

ऊपर के उदाहरण में **आश्रय–**नपुंसक वैध की पत्नी है। **आलम्बन–**नपुंसक वैध और नपुंसक रोगी। **उद्दीपन–**वैध द्वारा पारदभस्म की सराहना करना। **अनुभाव–**वैध-पत्नी का विनोद भाव से अपने पति के मुख की ओर देखना। **संचारी भाव–**स्मृति और हर्ष है। इस प्रकार यह हास्य रस का उदाहरण है।

(3) करुण रस–इष्ट व्यक्ति अथवा वस्तु के विनष्ट होने पर हृदय में जो 'शोक' का भाव उत्पन्न होता है, वही पुष्ट होकर करुण रस की अभिव्यक्ति करता है।

करुण विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस में अंतर–'शोक' का अनुभव वियोग शृंगार में भी होता है किंतु वहाँ मिलने से आशा विद्यमान रहती है। इसलिए 'शोक' संचारी भाव के रूप में रहता है। करुण रस की अभिव्यक्ति लगी होती है जब इष्ट व्यक्ति अथवा वस्तु से मिलन की आशा समाप्त हो चुकी होती है। यहाँ 'शोक' स्थायी भाव के रूप में रहता है।

उदाहरण– *प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है?*
दु:ख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है?–प्रिय प्रवास

ऊपर के उदाहरण में **आश्रय–**यशोदा है। **आलम्बन–**श्रीकृष्ण। **उद्दीपन–**यशोदा द्वारा अपने गहन वात्सल्य से अनुभूति, अकेले नन्द को देखना। **अनुभाव–**यशोदा का विलाप है। कृष्ण को अपना सहारा एवं नैन तारा कहना। **संचारी भाव–**स्मृति, विषाद, चिन्ता, मोह, दैन्य है। इस प्रकार इस छन्द से करुण रस की अनुभूति हो रही है।

(4) वीर-रस–उत्साह नामक स्थायी-भाव पुष्ट और परिपक्व होकर वीर-रस की अभिव्यकित करता है। कर्त्ता का उत्साह विविध प्रकार के कार्यों में हो सकता है जैसे, युद्ध के क्षेत्र में उत्साह, दीन जनों के प्रति दया दिखाने में उत्साह, धार्मिक कार्यों में उत्साह आदि। इसी विविधता के आधार पर आचार्यों ने चार प्रकार के वीर माने हैं। इस प्रकार वीर-रस के चार भेद हो जाते हैं–

(1) युद्धवीर, (2) दयावीर, (3) दानवीर, (4) धर्मवीर।

नोट

युद्धवीर–युद्ध के क्षेत्र में प्रदर्शित उत्साह जब रसत्व को प्राप्त होता है, तो वह युद्धवीर रस होता है।

उदाहरण–

मैं सत्य कहता हूँ सखे! सुकुमार मत जानो मुझे,
यमराज से भी युद्ध में, प्रस्तुत सदा मानो मुझे।
है और की तो बात ही क्या, गर्व मैं करता नहीं,
मामा तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं।–जयद्रथ का वध, मैथिलीशरण गुप्त।

इस उदाहरण में–**स्थायी भाव**–अभिमन्यु के हृदय में युद्ध का उत्साह है। **आलम्बन**–कौरव सेना है। **उद्दीपन**–चक्रव्यूह का रचा जाना है। **अनुभाव**–अभिमन्यु का अपने संबंध में प्रशंसा एवं कथन है। **संचारी भाव**–गर्व, हर्ष, उत्सुकता आदि है। इस प्रकार अभिमन्यु के इस कथन में युद्धवीर रस की स्पष्ट व्यंजना हो रही है।

(5) रौद्र रस–जब क्रोध नामक स्थायी भाव विभाव आदि से पुष्ट होता हुआ रस-दशा को प्राप्त होता है, तो वहाँ रौद्र रस होता है। जैसे–माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहे रटपट फरकत नयन रिसौंहें। बालकांड 151/4

स्थायी भाव–क्रोध। **आलम्बन**–जनक के वाक्य। **आश्रय**–लक्ष्मण। **उद्दीपन**–सभा में उपस्थित राजा, धनुष हैं। **कायिक अनुभाव**–भौंहों का कुटिल होना, होंठों का फड़कना, नेत्रों का क्रोध पूर्ण होना। **संचारी भाव**–आवेश, चपलता, उग्रता आदि अत: रौद्र रस।

(6) भयानक रस–जब 'भय' नामक स्थायी भाव 'विभाव' अनुभाव आदि के संयोग से रस-दशा को पहुँचता है, तब भयानक रस होता है, जैसे, हाट (बाजार), बाट कोट (किला), ओट, प्रकृति (अटारी), अगार (घर) पौरि (द्वार), खोरि-खोरि (गली), दौरि दौरि दीन्हों अति आगि है।

आटत (दुखित) पुकारत, सँभारत न कोऊ काहू,

व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि हैं। कवितावली सुंदर कांड. पृ. 63

स्थायी भाव भय आलम्बन–हनुमान और जलती हुई लंका है। **आश्रय**–राक्षस, राक्षसियाँ हैं। **उद्दीपन**–हनुमान का विकराल रूप, जमीन की बढ़ती हुई ज्वालाएँ और उनका दौड़-दौड़ कर आग लगाना आदि। **अनुभाव**–राक्षसों का पुकारना, व्याकुल होकर भागना। **संचारी भाव**–भास, चिन्ता, शंका, प्रलाप आदि। इस प्रकार इस उदाहरण में भयानक रस है।

(7) वीभत्स रस–जहाँ जुगुप्सा (घृणा) नामक स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, एवं संचारी भाव से पुष्ट होता हुआ रस-दशा को प्राप्त होता है, वहाँ वीभत्स रस होता है।

जैसे–

घर में लाशें, बाहर लाशें, जनपथ पर सड़ती हैं लाशें।
आँखें नृशंस यह दृश्य देख मुँद जाती हैं घुटती श्वाँसें।
बंगलादेश में पाकिस्तानी अत्याचार का वर्णन है।

स्थायी भाव–जुगुप्सा। **आलम्बन**–सड़ती हुई लाशें। **आश्रय**–जनसमुदाय या दर्शक। **उद्दीपन**–घृणात्मक दृश्य। **अनुभाव**–आँखें मुँदना, श्वास घुटना आदि। **संचारी भाव**–ग्लानि दैन्य निर्वोद आदि। इस प्रकार विभाव आदि से पुष्ट होता हुआ यह उदाहरण वीभत्स रस का है।

(8) अद्‌भुत रस–विचित्र अथवा आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखकर हृदय में विस्मय आदि के भाव उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के विकसित रूप को अद्‌भुत रस कहते हैं।

जैसे–

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन विसेषा।
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी
देखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड। मानस बालकांड, 201/7-8

1. **स्थायी भाव**–विस्मय (माता द्वारा दो स्थानों पर राम का देखा जाना)
2. **आलम्बन**–राम
3. **उद्दीपन**–अद्‌भुत अखंड रूप राम का
4. **आश्रय**–कौशल्या
5. **अनुभाव**–कौशल्या का पुलकित होना, वचन न लिखना।
6. **भ्रांति**–संचारी-भाव।

(9) शांत रस–संसार से वैराग्य होने पर शान्त रस होता है।

उदाहरण–

कबहुँक हौं यदि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
जथा लाभ संतोष सदा, काहूँ सा कछु न चहौंगो।
परहित-निरत-निरंतर, मन क्रम वचन नेम निबहौंगो।

1. **स्थायी भाव**–संसार से पूर्ण विरक्ति और निर्वैर।
2. **आलम्ब**–राम की भक्ति।
3. **आश्रय**–भक्त तुलसीदास
4. **उद्दीपन**–साधु संपर्क, श्री रघुनाथ की दया।
5. **अनुभाव**–धैर्य, संतोष।
6. **संचारी-भाव**–निर्वैर, हर्ष, स्मृति।

(10) भक्ति रस–जहाँ पर परमात्मा का दिव्यमय प्रेम विभाव आदि से परिपुष्ट हो जाता है, वहाँ पर भक्ति रस होता है,

जैसे–

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
साधुन संग बैठि बैठि लोक लाज खोई।
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।
अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेल बोई।
मीरा की लगनि लागी होनी हो सो होई।

1. **स्थायी भाव**–कृष्ण के प्रति मीरा का अनुराग।
2. **आलम्बन**–कृष्ण
3. **आश्रय**–मीरा
4. **उद्दीपन**–सत्संग
5. **अनुभाव**–आँसू, प्रेम-बेल का बोना और आँसुओं से सींचना
6. **संचारी-भाव**–शंका, हर्ष

इस प्रकार भक्ति रस का सुंदर परिपाक हुआ है।

नोट

(11) वात्सल्य रस–पुत्र, बालक, शिष्य आदि के प्रति 'रति' का भाव स्नेह कहलाता है। यही भाव परिपुष्ट होकर वात्सल्य रस की व्यंजना करता है।

स्थायी भाव–स्नेह। **आलम्बन**–पुत्र, शिशु, शिरू। **उद्दीपन**–बालक की चेष्टाएँ, जैसे तुतलाना, हठ करना आदि, उसका रूप और उसकी वस्तुएँ। **अनुभाव**–स्नेह से बालक को गोद में लेना, आलिंगन करना, सिर पर हाथ फेरना, थपथपाना आदि। **संचारी भाव**–हर्ष, गर्व, मोह, चिंता, आवेग, शंका आदि।

उदाहरण–

बरदंत की पंगति कुंद कली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन-बीच जगै, छबि मोतिन माल अमोलन की।
घुँघरारि लटें लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल (झलक) कपोलन की।
निछावर प्रान करैं 'तुलसी' बलि जाइँ लला इन बोलन की।

नोट–(1) **आलम्बन**–बालक राम। (2) **उद्दीपन**–राम की घुँघराली लटें मोती की माला। (3) **आश्रय**–तुलसीदास। (4) **अनुभाव**–बतियाना है। (5) **संचारी भाव**–हर्ष, इनसे पुष्ट हुआ स्नेह (स्थायी भाव) वात्सल्य रस की निष्पत्ति करता है।

नोट–आचार्य भाव के अनुसार मूल रस चार मानते हैं–(1) श्रृंगार, (2) रौद्र, (3) वीर, (4) वीभत्स

1. श्रृंगार से हास्य रस की उत्पत्ति।
2. रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति।
3. वीर से अद्‌भुत रस की उत्पत्ति।
4. वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. आनन्द का दूसरा नाम रस है।
8. विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है।
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने निबंध 'कविता क्या है' में 'हृदय की मुक्तावस्था' को रस-दशा कहा है।
10. भारतीय आचार्यों ने स्थायित्व के आधार पर भावों के चार वर्ग स्वीकार किये हैं।
11. आलम्बन और उद्दीपन अनुभाव के भेद हैं।
12. जब भय नामक स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से रस-दशा को पहुंचता है, तब भयानक रस होता है।
13. रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति हुई है।

1.4 अलंकार

अलंकार शब्द 'अलम्' और 'कार' दो शब्दों के मेल से बना है। 'अलम्' का अर्थ है भूषण और 'कार' का अर्थ है कर्ता, अर्थात् भूषणकर्ता, जिसके द्वारा भूषित या ग्रहण किया जाए, वही अलंकार है। इस प्रकार अलंकार के शाब्दिक अर्थ होंगे–सजावट, श्रृंगार, आभूषण आदि। भारतीय काव्य शास्त्र में अलंकार के लिए तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं–अलंकार, लक्षण और चित्र। इनमें सर्वमान्य और सर्वप्रचलित शब्द है–'अलंकार'। संस्कृत के आचार्यों ने अलंकार की व्युत्पत्ति इस प्रकार से की है–**'अलङ्करोतीति अलङ्कार:'** अर्थात् जो आभूषित करता है, वह अलंकार है। संस्कृत

में अलंकारवाद के सर्वप्रथम आचार्य **भामह** हैं। उनकी धारणा है कि भूषण के अभाव में सुंदर रमणी के मुख पर कांति नहीं आती है–**'न कान्तिमविनिर्भूषमिभावनितामुखम्'।** इसीलिए उन्होंने कहा है कि प्रकृत रूप में वाणी सुंदर नहीं होती, उसकी सुंदरता के लिए अलंकार अनिवार्य है। हिन्दी के तथाकथित आचार्य केशव अलंकारवादी ही हैं। भामह के समान उन्होंने भी काव्य में अलंकार की स्थिति को अनिवार्य माना है और कहा है–**'भूषण बिनु न बिरा गई कविता, बनिता मित्रे।** दूसरे कवि ने भी **'बिन भूषण नहिं भूसई, कविता बनिता यार'** कहकर आचार्य केशव की लीक ही पकड़ी है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

14. 'आँखें अध खुली, अध खुली खिड़की है खुली' पंक्तियों में .... अलंकार है।
15. 'जलती-सी उस विरह में बनी आरती आप' पंक्तियों में .... अलंकार है।
16. जहाँ उपमान की उपेक्षा उपमेय का विशेष अतिरेक (गुणोत्कर्ष) होता है, वहाँ .... अलंकार होता है।

काव्य के दो पक्ष माने गए हैं–1. भावपक्ष, 2. कलापक्ष। अलंकारों का संबंध काव्य के कलापक्ष से ही है। जब काव्य में शाब्दिक सौंदर्य प्रधान होता है, तब उस सौंदर्य विधान को शब्दालंकार और जब अर्थ संबंधी सौंदर्य चमत्कार प्रधान रहता है, तब उस सौंदर्य विधान को अर्थालंकार कहते हैं। शब्द और अर्थ में विशेषता उत्पन्न करने वालों को उभयालंकार कहते हैं–इस प्रकार अलंकारों के तीन भेद हो जाते हैं–

1. शब्दालंकार, 2. अर्थालंकार, 3. उभयालंकार।

1. शब्दालंकार–शब्दालंकार का अर्थ है शब्द के आश्रित अलंकार। शब्दालंकार की सृष्टि वस्तुत: शब्द के आधार पर नहीं वरन् शब्द की ध्वनि के आधार पर होती है। शब्दालंकार में तीन प्रकार की ध्वनि होती है–

(क) वर्णध्वनि (अनुप्रास आदि में)

(ख) पदध्वनि (यमक, वक्रोक्ति, श्लेष आदि में)

(ग) वाक्य ध्वनि (लाटानुप्रास, यमक आदि में)

1. **शब्दालंकार के भेद**–शब्दालंकार के निम्नलिखित भेद होते हैं–1. अनुप्रास, 2. यमक, 3. श्लेष, 4. वक्रोक्ति, 5. पुनरुक्ति, 6. पुनरुक्तवदाभास, 7. वीप्सा।
2. **अर्थालंकार**–जहाँ काव्य में अर्थगत चमत्कार की प्रधानता होती है, अर्थात् शब्द का पर्याय रख देने पर भी अर्थ तथा अलंकारगत सौंदर्य खंडित नहीं होता, वहाँ अर्थालंकार होता है।

अर्थालंकार के भेद : अर्थालंकारों की संख्या अनन्त है। कुछ नाम इस प्रकार हैं–उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीक, उदाहरण, निदर्शना, दीपक, अतिशयोक्ति, अलौकिक, भ्रान्ति, संदेह, उल्लेख, स्मरण आदि।

3. **उभयालंकार**–शब्द और अर्थ पर दोनों पर समान रूप से आश्रित होने के कारण ही यह उभयालंकार से अभिहित किया जाता है। इसमें शब्द और अर्थ दोनों में समान बल होना आवश्यक है। दोनों में से किसी एक का भी बल यदि असमान हो गया, तो यह नहीं होगा।

उभयालंकार के भेद : इसके दो भेद माने गए हैं–1. संसृष्टि, 2. संकर।

शब्दालंकार

(1) अनुप्रास–अनुप्रास का लक्षण 'अनुप्रास' शब्द की व्याख्या में ही निहित है। इस शब्द के तीन खंड हैं–

अनु = पश्चात्, बाद में।

नोट

प्र = चमत्कारात्मक।

आस = पास-पास प्रयोग।

अर्थात् एक वर्ण चुकना तथा वर्ण समूह के पश्चात् उसी वर्ण अथवा वर्ण समूह का चमत्कारपूर्ण एक से अधिक बार पास-पास प्रयोग अनुप्रास कहलाता है। जैसे–

1. *आँखें अध खुली, अध खुली खिड़की है खुली।*
अध खुली आनन पै अध खुली अलकैं।

–पद्माकर

नोट–इस उदाहरण में 'अ' वर्ण का प्रयोग एक से अधिक बार हुआ है इसलिए यहाँ पर अनुप्रास है।

2. *'चारु चंद्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल थल में'* –गुप्तजी

नोट–इस उदाहरण में 'च' वर्ण का प्रयोग तीन बार हुआ है अत: अनुप्रास अलंकार है।

अनुप्रास के भेद : अनुप्रास अलंकार के पाँच भेद हैं–

1. छेकानुप्रास–छेक शब्द का अर्थ है–चतुर, विदग्ध। जहाँ एक या अनेक वर्णों का दो बार प्रयोग होता है, वहाँ छेकानुप्रास होता है, जैसे–

(क) बनती है मुसकान तुम्हारी शीतल शशि की रेखा

नोट–इसमें शीतल और 'शशि' में 'श' का प्रयोग दो बार हुआ है, अत: यहाँ छेकानुप्रास है।

(ख) रिझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
साँसैं भरि आँसू भरि कहत दई दई –देव

नोट–इसमें स्वरूप तथा क्रम से, रिझि, रीझि, रहिस रहसि हँसि, हँसि, दई, दई में व्यंजनों की स्वरूप तथा क्रम से आते हैं, अत: यहाँ छेकानुप्रास है।

(ग) इस करुणा कलित हृदय में अब बिकल रागिनी बजती।

नोट–यहाँ करुणा और कलित शब्दों में 'क' वर्ण का दो बार प्रयोग हुआ है, अत: छेकानुप्रास है।

2. वृत्यानुप्रास–जहाँ वृत्ति के अनुसार एक या अनेक वर्ण की एकाधिक बार आवृत्ति (दो से अधिक बार प्रयोग) हो, वहाँ वृत्यानुप्रास अलंकार होता है।

वृत्ति–भिन्न-भिन्न रसों के वर्णन में विभिन्न वर्णों की व्यवस्थित रचना को वृत्ति कहते हैं। ये तीन हैं– (क) उपनागरिका वृत्ति : इसमें सानुनासिक और टवर्ग के प्रति भी नृशंस, माधुर्य गुणोत्पादक वर्ण प्रयुक्त होते हैं। (ख) करुणावृत्ति: इसमें ओज गुणोत्पादक टवर्ग वर्ण द्वित आदि कठोर वर्ण प्रयुक्त होते हैं और (ग) कोमलावृत्ति–इसमें प्रसाद गुणोत्पादक य, र, ल, व, श, स, ह आदि कोमल वर्णों का प्रयोग होता है।

उदाहरण–

1. *निजनवन वल्लरी पर*
सोती थी सुहाग भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न। –निराला

नोट–प्रथम चरण में 'व' का और द्वितीय चरण में 'स' की क्रमानुसार अनेक बार आवृत्ति हुई है।

2. *मधुरबाला का मधुर मधु मुग्ध राग* –पंत (मुक्ति)

नोट–यहाँ म, ध की क्रमानुसार अनेक बार आवृत्ति हुई है।

3. *आली कहा कहिये कवि तोष*
   कहूँ प्रिय प्रीति नयी प्रति पाली —तोष (सुधानिधि)

नोट—यहाँ 'कह' की अनेक बार आवृत्ति हुई है।

4. *खग-झुल झुल झुल सा बोल रहा*
   किसलय का अंचल डोल रहा —प्रसाद (लहर)

नोट—क, झ की क्रमानुसार अनेक बार आवृत्ति है।

5. *तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।*

नोट—यहाँ 'त' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है।

6. *कलकि में केलि में कछारनि में कुंजन में,*
   क्यारिन में कलिन कलीन किलकन्त हैं।
   कहैं पद्माकर परागन में पौन हूँ में।
   पानन में पीरु में पलासन पगंत हैं।
   द्वार में दिसान में दुनी में देश देसन में,
   देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत हैं।
   बीकिन में ब्रज में नबोलिन में बेलिन में,
   बनन में बागन में बगरो बसंत है। —पद्माकर

नोट—इस छन्द में क, प, द, ब वर्ण क्रमश: शब्दों के प्रारंभ में 8, 7, 10 और 8 बार आए हैं।

7. *कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर कारति री,*
   कूकि कूकि अबहि करे जौ किन कोरि लै। —घनानन्द

नोट—इस उदाहरण में 'क' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति हुई है। अत: वृत्यानुप्रास अलंकार है।

3. श्रुत्यानुप्रास—एक ही उच्चारण स्थान (कंठ, तालु आदि) से उच्चरित होने वाले व्यंजनों की जहाँ आवृत्ति हो वहाँ श्रुत्यानुप्रास होता है। जैसे–

1. *मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरी दोय* —बिहारी-1

नोट—यहाँ म, भ, ब ओष्ठ्य व्यंजनों की और राधा नागरी में दन्त्य वर्णों की आवृत्ति होने के कारण श्रुत्यानुप्रास है।

2. *बंदउ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना।* रा.मा. 219

नोट—यहाँ ब, प और म को कोष्ठ्य व्यंजनों की आवृत्ति है, अत: श्रुत्यानुप्रास।

3. *तुलसीदास सीदत निदित दिन देखत तुम्हारि निठुराई।* —विजय प्रतिभा छन्द-112

नोट—उपर्युक्त पंक्ति में त, स, द, के वर्ण दन्त्य हैं। अत: श्रुत्यानुप्रास है।

4. *बंदउँ मुनि पद कंजु रामायन जेहिं निरभयउ।* बा.का. 14

नोट—यहाँ ब, म, प, को ओष्ठ्य व्यंजनों की आवृत्ति है।

4. लाटानुप्रास—जब किसी कथन में ऐसे शब्दों या वाक्यों की आवृत्ति होती है, जिनका अर्थ तो समान होता है, परंतु पद में अन्वय करने से पूरे कथन का अर्थ भिन्न हो जाता, है, वहाँ लाटानुप्रास होता है–जैसे,

1. *पूत सपूत तो क्यों धन संचय।*
   पूत कपूत तो क्यों धन संचय।

नोट

नोट–यहाँ पूत, तो, क्यों, धन, संचय शब्द दो-दो बार आए हैं, अर्थ भी उनके एक ही हैं, परंतु पहले शब्दों में सपूत शब्द के साथ और दूसरे वाक्य में कपूत शब्द के साथ अन्वय होने से वर्ण में परिवर्तन हो गया है, इसलिए यहाँ लाटानुप्रास है।

2. *पीय निकट जाके, नहीं घाम चाँदनी ताहि।*
पीय निकट जाके नहीं, घाम चाँदनी ताहि।

नोट–जिस नायिका के निकट प्रियतम नहीं है, उसके लिए चाँदनी भी धूप है, पर हे सखी, जिसके निकट प्रियतम है, उसके लिए धूप भी चाँदनी है।

3. *पराधीन जौ जनु नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु।*
पराधीन जौ जनु, नहीं स्वर्ग, नरक ता हेतु।

नोट–यहाँ समानार्थक वाक्य की आवृत्ति हुई है, यह अन्वय करने पर हम उनके अर्थ में भिन्नता पाते हैं। अर्थ है–जो जन पराधीन नहीं है, उसके लिए नरक भी सही, और जो पराधीन है, उसके लिए स्वर्ग नहीं, केवल नरक ही है। अत: लाटानुप्रास है।

5. अन्त्यानुप्रास–जहाँ पद या चरण के अंत में समान वर्ण आने से तुक मिलती है, वहाँ अन्त्यानुप्रास होता है। जैसे–

1. *बनरस बालक लाल की मुरली धरि लुकाय।*
सौंह करैं मौहन हसै, दैन कहै, नटि जाय। –बिहारी

नोट–यहाँ प्रथम पंक्ति के अंतिम लुकाय, में य और द्वितीय पंक्ति के 'जाय' में भी य वर्ण का प्रयोग होने से अन्त्यानुप्रास है।

2. *वह आता–*
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता –निराला

नोट–यहाँ आता, करता, आता में 'त' वर्ण का अंत में प्रयोग होने से अन्त्यानुप्रास है।

3. *यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।*
जी विषम जुर जाइ पै जाइ सुदरसन देहु। बिहारी 120

नोट–यहाँ 'लेहु' और 'देहु' में 'ह' वर्ण का अंत में प्रयोग है अत: अन्त्यानुप्रास है।

2. श्लेष

'श्लेष' शब्द 'श्लिष' धातु से बना है जिसका अर्थ है, चिपकना, मिलना, संयोग आदि अर्थात्, ऐसे शब्द का प्रयोग जिसमें एक से अधिक अर्थ चिपके हों, 'श्लेष' कहलाता है। जैसे–

किसकी बिछुड़न न उर से सम्हाली गई।
लाज का जल धुला धार बहने लगी। **हृदयेश : गैवालिकी**

नोट–यहाँ 'लाज का जल' में समंग श्लेष है। इस शब्द के तीन अर्थ निकलते हैं–(क) लज्जा का जल (ख) लज्जा एवं (ग) काजल।

श्लेष के भेद–सामान्यत: दो प्रकार के भेद माने गए हैं–1. समंग श्लेष, 2. अमंग श्लेष।

1. समंग श्लेष–जहाँ श्लिष्ट शब्दों में भंग करने पर अनेक कार्य निकलें, वहाँ यह भेद होता है, जैसे–

1. *चरण धरत चिन्ता करत, चितवत चारहु ओर।*
सुबरन को खोजत फिरै, कवि व्यभिचारी चोर।

नोट

नोट–सुबरन के सु + बरन = सुंदर वर्ण वाली कविता, कवि के पक्ष में। 2. सुंदर वर्ण वाली स्त्री-व्यभिचारी पक्ष में। 3. सुवरन-स्वर्ण (चोर के अर्थ में) अंत: समंग श्लेष।

2. *चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।*
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।

नोट–वृषभानुजा = वृषभान राजा की बेटी राधा

वृषभ अनुजा = बैल की बहन अर्थात् गाय

वृष + भानु + जा = वृष के सूर्य से उत्पन्न गर्मी के समान प्रचंड स्वभाव वाली राधा।

हलधर के वीर–1. हल को आयुध के रूप में धारण करने वाले बलराम, 2. हल + धर अर्थात्, हल को कन्धे पर धारण करने वाले बैल। अत: समंगश्लेष।

अमंग श्लेष–जहाँ श्लिष्ट शब्दों के बिना भंग किए अनेक अर्थ निकले वहाँ यह भेद होता है, जैसे–

1. *रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।*
पानी गए न ऊबरे मोती मानुष चून ।

नोट–पानी शब्द श्लिष्ट है जिसके क्रमश: तीन अर्थ हैं–

(क) मोती के पक्ष में पानी का अर्थ चक्षरु है।

(ख) मनुष्य के पक्ष में पानी का अर्थ प्रतिष्ठा है।

(ग) चूना के पक्ष में पानी का अर्थ जल है।

2. जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छायी।
दुर्दिन में 'आँसू' बनकर वह आज बरसने आयी।

घनीभूत–दो अर्थ–(क) एकच (ख) मेघ बनी हुई

दुर्दिन–दो अर्थ–(क) बुरे दिन (ख) मेघ से आच्छादित दिन

3. मेरी भव बाधा हरौ

4. अजौं तरयौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग।

3. यमक

यमक का अर्थ है, दो, युग्म, जोड़ा आदि। अर्थात् भिन्नार्थक शब्दों की क्रमश: आवृत्ति यमक है। जैसे–पास हीरे हीरे की खान

नोट–यहाँ 'हीरे' शब्द भिन्नार्थक है, अत: यमक।

भेद–1. अमंग पद यमक, 2. समंग पद यमक।

1. अमंग पद यमक–1. माधवमास की येर जनी सजनी करी माधव लाये नहीं।

दूसरा उदाहरण–पावक सो नयन नुलगै जावक लाग्यौ भाल

सभंग पद यमक–1. तो पर वारौं उरवसी सुनि राधिके सुजान। तू मोहन के उरबसी ह्वै उरवसी समान।

2. बर जीते सर मौन के ऐसे देखे मैन।
हरिनी के नैनन तो हरिनी के ये नैन।

नोट

4. वक्रोक्ति अलंकार

वक्रोक्ति का अर्थ है 'वक्र + उक्ति' अर्थात् 'टेढ़ा कथन।' इसमें कहने वाला कहता किसी और तात्पर्य से है, पर सुनने वाला उससे भिन्न कुछ और ही तात्पर्य ग्रहण कर लेता है। इसमें भिन्न अर्थ की कल्पना दो कारणों से समान होती है–1. श्लेष से, 2. काकु से। इस प्रकार जहाँ वक्ता के अन्यार्थक कथन का 'श्लेष या 'काकु' से श्रोता भिन्न अर्थ ग्रहण करे, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं–1. श्लेष वक्रोक्ति, 2. काकु वक्रोक्ति।

1. श्लेष वक्रोक्ति–इसमें वक्ता की अन्यार्थक उक्ति का श्रोता श्लेष द्वारा भिन्न अर्थ ग्रहण करता है। इसमें श्लिष्ट शब्द प्रयुक्त होते हैं, जिससे श्रोता वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ ग्रहण करता है। जैसे–

खोलोज् किवार, तुम को हो एती बार
'हरि' नाम है हमारी, बसो कानन पहार में। –**भा. सा. शास्त्र**

इस उदाहरण में राधा और कृष्ण का परिहास वर्णित है। कृष्ण अपना नाम 'हरि' बताते हैं। राधा श्लेष से 'हरि' का अर्थ 'कृष्ण' न लेकर बंदर और सिंह लेती है। अत: यहाँ श्लेष वक्रोक्ति है।

2. काकु वक्रोक्ति अलंकार–इसमें वक्ता के अन्यार्थक कथन का श्रोता काकु (कंठस्वर की भिन्नता) द्वारा भिन्न अर्थ ग्रहण करता है। 'काकु' का अर्थ है 'कंठ ध्वनि, का विकार'। कंठ ध्वनि में परिवर्तन हो जाने से एक ही कथन का अर्थ भिन्न हो जाया करता है। जैसे–

मैं सुकुमारी नाक बन जोगू
तुमहि उचित तप यों कह भोगू।

यहाँ राम के प्रति सीता की उक्ति है। 'हाँ आप ठीक ही तो कहते हैं, मैं ठहरी सुकुमारी और आप हैं वन के योग्य। आपके लिए तो तपस्या ही उचित है और मेरे लिए भोग।' यह उक्ति साधारण है। पर कंठ स्वर की भिन्नता के कारण इसका निषेधात्मक अर्थ है–'यदि वन जाने योग्य मैं नहीं हूँ तो आप भी उस योग्य नहीं हैं। यदि आपके लिए तपस्या उचित है, तो मेरे लिए भी तपस्या ही उचित है'। अत: यहाँ परिवर्तित कंठ स्वर के कारण 'काकु वक्रोक्ति' है।

दूसरा उदाहरण–"जब आप पिता के वचन पाल सकते हैं।" साकेत 8/238। "तब माँ की आज्ञा भरत टाल सकते हैं?" यहाँ राम के प्रति लक्ष्मण की उक्ति है कि जिस प्रकार आप पिता के वचनों का पालन करके वनगमन कर सकते हैं उसी प्रकार माँ कैकेयी की आज्ञा भरत टाल सकते हैं, यह साधारण कथन है। किंतु कंठ स्वर की भिन्नता के कारण इसका निषेधात्मक अर्थ है कि, हे राम! जब आप पिताजी के वचनों का पालन कर सकते हैं तब क्या भरत माँ की आज्ञा की अवहेलना कर सकते हैं अर्थात् नहीं कर सकते हैं। इसलिए इस उदाहरण में काकु वक्रोक्ति है।

अर्थालंकार

उपमा अलंकार–'उपमा' शब्द में 'उप' उपसर्ग है। जिसका अर्थ है 'निकट'। 'मा' का अर्थ है–'मापना' तौलना, देखना अथवा निर्णय करना। अर्थात् दो भिन्न वस्तुओं को उपमेय और उपमान को एक-दूसरे के निकट रखकर उनकी समानता स्थापित करना ही उपमा है। दो भिन्न वस्तुओं के बीच सादृश्य या साधर्म्य का होना आवश्यक है। दो भिन्न वस्तुओं में समता स्थापित करने के लिए उनके रूप, गुण, क्रिया आदि विशेषताएँ ही आधार बनायी जाती हैं। जैसे–'मुख चंद्रमा के समान सुंदर है' में 'मुख' उपमेय जैसे छोटे अंग का सादृश्य प्रतिपादन 'चंद्रमा' जैसे विशाल 'ग्रह' से किया गया है। यहाँ दोनों में पर्याप्त वैषम्य होते हुए भी 'आल्हादकत्व' नामक सादृश्य है।

उपमा के अंग–उपमा के चार अंग होते हैं–1. उपमेय, 2. उपमान, 3. साधारण धर्म, 4. सादृश्य वाला (वाचक)।

साधारण धर्म–उपमेय और उपमान के बीच जिस गुण, क्रिया, कर्म, विशेषता आदि के कारण साम्य अथवा वैशिष्ट्य प्रतिपादन होता है, उसे ही साधारण धर्म कहा जाता है। साधारण धर्म विशेषण (गुण, अंग आदि) रूप अथवा क्रिया रूप में प्रयुक्त होता है।

विशेषण रूप में– 'अधिकार व सीमा में रहते।
पास निर्झर से वे बहते।'

नोट–'अधिकार का सीमा में न रहना' साधारण धर्म है। जो गुणरूप में प्रयुक्त हुआ है।

क्रिया रूप में– 'पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई,
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।'

नोट–'चिल्लाई' यहाँ पर क्रिया रूप में है। अत: यह साधारण धर्म है।

4. सादृश्य वाचक शब्द–जिस शब्द के द्वारा उपमेय और उपमान के बीच समता प्रतिपादिता की जाती है, उसे सादृश्य वाचक शब्द कहा जाता है। इसे ही औपम्यवाचक, उपमा वाचक, सादृश्य वाचक कहते हैं। संक्षेप में इसे 'वाचक' शब्द भी कहा जाता है। जैसे सा, ऐसा, सादृश्य, सदृश, समान, जैसा, तुल्य, सरिस, इव, यथा, वा, से, सी, सौं, त्यौं, जिमि, ज्यों, तूल, सम आदि।

आधुनिकतम हिन्दी कविता में सादृश्य मूलत: तीन प्रकार के मिलते हैं–1. आकार-प्रकार का साम्य, 2. गुण एवं क्रिया का साम्य, 3. प्रभाव साम्य।

आकार साम्य–उसी तापस्वी से लंबे थे, देवदारु दो चार खड़े। **–प्रसाद (कामायनी)**

गुण-क्रिया साम्य–

1. बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल। **–कामायनी**
2. जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छायी –आँसू

प्रभाव साम्य– लाज को मादक सुरा-सी लालिमा,
फैल गालों में नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़-सी सौंदर्य की,
अधखुले सस्मित दृगों से सीप के। **–पंत**

नोट–कवि कल्पना द्वारा वर्णित मुख सौंदर्य का प्रभाव साफ ही वर्णित है।

उपमा के भेद–1. पूर्णोपमा, 2. लुप्तोपमा।

(क) पूर्णोपमा अलंकार–चारों 'अंगों' का एक न होना।

1. कोसी-सी मेरी कथा बिखरी चतुर्दिक।
2. मोम-सा तन धुन चुका अब दीप-सा मन जल रहा है। **–महादेवी, (दीपशिखा)**
3. मधुकन-सा छलका नयन नीर। **–रशिम**
4. पूस मास की धूप सुहावन,
   घिसे हुए पीतल-सी पांडुरा। **–नागार्जुन**
5. पीपर पात सरिस मन डोला।

(ख) लुप्तोपमा अलंकार–जहाँ उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म में से किसी एक, दो अथवा तीन (अंग) का लोप हो। अत: चार भेद हो जाते हैं–

1. **उपमेय लुप्तोपमा**–पड़ी थी बिजली-सी विकराल। **–गुप्तजी, (साकेत)**
2. मुखकमल समीप सजे थे दो किसलय दल पुरइन के। **प्रसाद–आँसू**

उपमान–पुरइन के किसलय

नोट

साधर्म्य—सजे थे

वाचक—समीप

उपमेय—दो कान लुप्त हैं।

2. **उपमान लुप्तोपमा**— हरि मुख सम सुंदर सुखकारी

3. **वाचक लुप्तोपमा**— 1. तापस वाला गंगा निर्मल

2. शलभ चंचल मेरे मन प्राण

नोट— मन, प्राण—उपमेय
शलभ—उपमान
चंचल-धर्म
} वाचक लुप्तोपमा

4. **धर्म लुप्तोपमा**— 1. कनक-से दिन, मोती-सी रात
सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात। **—महादेवी**

2. हुआ एक दु:स्वप्न-सा सखि कैसा उत्पात

नोट—उपमेय—उत्पात

उपमान-दु:स्वप्न

वाचक—सा धर्म लुप्त है।

धर्म लुप्त है।

3. धूप माँ की हँसी के प्रतिबिम्ब-सी शिशु-बदन पर।

उपमेय—धूप

उपमान—माँ की हँसी का प्रतिबिम्ब

वाचक—सी

साधारण धर्म (सुख कारक) लुप्त है।

5. **कुंद इन्दु समदेह, उमारमन करुना करन।** **—मानस-तुलसी**

2. अवध को अपनाकर त्याग से। वन तपोवन-सा प्रभु ने किया।

उपमेय—वन

उपमान—तपोवन

वाचक—सा।

धर्म लुप्त है।

उपमेय—शिवजी का शरीर

उपमान—कुंद इंदु

वाचक—सम

धर्म यहाँ पर लुप्त है।

6. रूपक अलंकार—इसका शाब्दिक अर्थ है, रूप धारण करना। प्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत (उपमान) का निषेधरहित आरोप ही रूपक है। आरोप का अर्थ है प्रसंदन को अप्रस्तुत द्वारा ढका जाना। यहाँ पार्थक्य भाव मिट जाता

है और दोनों प्रस्तुत अप्रस्तुत अभिन्न हो जाते हैं। जैसे–'मुख चंद्र' में मुख पर 'चंद्र' का आरोप होने से दोनों में तादात्म्य संबंध स्थापित हो गया है।

उदाहरण–मानस मंदिर में सती पति की प्रतिमा थाप।

जलती-सी उस विरह में बनी आरती आप।

नोट–यहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत का निषेध रहित आरोप है। अत: रूपक अलंकार।

रूपक के भेद–1. सांग रूपक, 2. निरंग रूपक, 3. परम्परित रूपक

(क) सांग रूपक अलंकार–जहाँ अवयवों सहित उपमेय पर उपमान का आरोप होता है। जहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत के निषेध रहित सावयव आरोप हो, वहाँ सांग-रूपक होता है। सांग का अर्थ है–अंगों के साथ। इसे सावयव रूपक भी कहा जाता है। इसमें प्रधानता एक आरोप की ही होती है। जिसे अंगी कहा जाता है। शेष आरोप गौण होते हैं और वे उसके अंग होकर आते हैं। जैसे,

बीती विभावरी जाग री।

अम्बर-पनघट में डुबो रही, तारा-घट उषा नागरी।

यहाँ उषा में नागरी का, अम्बर में पनघट का और तारा में घर का आरोप किया गया है। 'उषा' में नागरी का आरोप ही प्रधान है और शेष गौण आरोप हैं। अत: सांग रूपक है।

(ख) निरंग रूपक–जहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत का निषेध रहित निरवयव आरोप हो वहाँ निरंग रूपक होता है। निरंग या निरवयव का अर्थ है–अंगों के बिना। अर्थात् जहाँ मात्र एक उपमेय में एक उपमान का आरोप हो। 'मुखचंद्र' चरण कमल आदि इसी के उदाहरण हैं। जैसे, चरण-कमल बंदौ हरि राई।

नोट–यहाँ एक उपमेय (चरण) में एक उपमान (कमल) का आरोप होने से शुद्ध निरंग रूपक है।

2. **तू स्वप्न**–सुमनों से सजा तन, विरह का उपहार ले-**महादेवी**

यहाँ स्वप्न-सुमनों में 'स्वप्न' कर 'सुमन' का निरवयव आरोप है। अत: निरंग रूपक है।

(ग) परम्परित रूपक–इसमें एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है। जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप के कारण रूप में अवस्थित होता है, वहाँ परम्परित रूपक होता है। 'परंपरित' का अर्थ है 'सिलसिलेवार' 'परस्पर' से, लगातार अथवा आश्रित। यहाँ कार्य-कारण भाव से आरोप की शृंखला बंध जाती है। एक आरोप पर ही दूसरा आरोप आधारित होता है। परम्परित रूपक में दो आरोप परस्पर मिलकर ही एक-दूसरे को सार्थक बनाते हैं, इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है, जैसे–

राम नाम सुंदर करतारी।

संशय विहग उड़ावन हारी। –तुलसी-मानस

यहाँ 'राम नाम' 'करतारी' का और 'संशय में विहग का आरोप है। 'राम नाम' में 'करतारी (ताली) के आरोप का कारण है। 'संशय' में विहग' का आरोप होना। संदेह (संशय) को पक्षी (विहग) मानने के पश्चात् राम नाम को ताली (ताली बजाने से पक्षी उड़ जाते हैं) कहना उचित ही है। ये आरोप एक-दूसरे के कारण ही सार्थक हैं। अत: परम्परित रूपक है।

2. **बाड़व ज्वाला सोती थी,**
इस प्रणय-सिन्धु के तल में।
प्यासी मछली-सी आँखें,
थी विकराल रूप के जल में। –प्रसाद, आँसू

यहाँ आँखों में मछली का आरोप, रूप में जल के आरोप का कारण है। अत: यहाँ शुद्ध परंपरित रूपक है।

नोट

7. उत्प्रेक्षा–इसका अर्थ है (उत् + प्र + ईक्षा) अर्थात् उपमान को प्रधानता से बलपूर्वक देखना। यहाँ देखने का तात्पर्य है, संभावना करना या कल्पना करना। अत: जहाँ पर उपमेय में उपमान की संभावना की जाती है, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है।

उत्प्रेक्षा के भेद–1. वस्तूत्प्रेक्षा, 2. फलोत्प्रेक्षा, 3. हेतूत्प्रेक्षा।

(क) वस्तूत्प्रेक्षा–एक वस्तु (उपमेय) में दूसरी वस्तु (उपमान) की संभावना वस्तूत्प्रेक्षा है। यहाँ उत्प्रेक्षा काव्याश्रय उपमेय होता है। जैसे–

सोहल ओढ़े पीत पटु, श्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर, आतप पर्‌यौ प्रभात। –बिहारी

यहाँ श्रीकृष्ण के श्याम गात पर पीत पट की शोभा की उत्प्रेक्षा नीलमणि पर्वत पर पड़ने वाली प्रभातकालीन रश्मियों से की गई है। अत: एक वस्तु (उपमेय) (पहली पंक्ति में) में दूसरी वस्तु उपमान की उत्प्रेक्षा होने से वस्तूत्प्रेक्षा है।

3. **नील परिधान बीच सुकुमार।**
खुल रहा मृदुल अधर खुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग ।

यहाँ नीले परिधान के बीच से झाँकते हुए अधखुले अंग (उपमेय) के लिए मेघ बन के बीच गुलाबी रंग के बिजली के फूल के खिलने की (उपमान) संभावना की गई है। अत: वस्तूत्प्रेक्षा है।

4. **उस असीम नीले अंचल में**
देख किसी की मृदु मुसकान
मानो हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल गान।

यहाँ उपमेय 'निर्झर' का कथन नहीं है। उस पर हिमालय की हँसी (उपमान) की उत्प्रेक्षा की गई है। अत: वस्तूत्प्रेक्षा है।

(ख) फलोत्प्रेक्षा–अफल की फल में संभावना करना फलोत्प्रेक्षा है। इसमें जो फल नहीं होता है, उसमें फल की उत्प्रेक्षा की जाती है। जैसे,

तुव पद समता कौ कमल जल सेवत इक पाँय।

यहाँ अफल में फल की संभावना की गई है। अत: फलोत्प्रेक्षा है।

(ग) हेतूत्प्रेक्षा–जो वास्तव में कारण न हो उसे कारण मानकर उत्प्रेक्षा करना। जैसे–

मनो चली आंगन कठिन ताते सते पाँय। –जसवंत सिंह–माला भूषण

मानो नायिका कठिन आंगन में चली है, इसी से उसके पैर लाल हैं। यहाँ आंगन की कठोरता के कारण नायिका के पैरों का लाल होना अंकित है। वस्तुत: यह कारण है नहीं। उसमें ललाई स्वाभाविक है। आंगन में चलने से ललाई नहीं हुई है। इस प्रकार अकारण में कारण की संभावना होने से हेतूत्प्रेक्षा है।

भ्रांतिमान–जहाँ उपमेय उपमान लगने लगे अर्थात् जब समानता के कारण एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का भ्रम हो, वहाँ भ्रांतिमान अलंकार होता है।

उदाहरण– **पायँ महावर देन को, नाइन बैठी आय।**

फिर-फिर जान महावरी, एँड़ी मीड़ति जाय॥

नोट–इस उदाहरण में उपमान महावर है और उपमेय नायिका की लाल एड़ी है। लाल रंग की समानता के कारण नायिका के पैरों में महावर लगाते समय नाइन को भ्रम हो रहा है। अत: भ्रांतिमान अलंकार है।

संदेह–जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत (उपमान) का संशयात्मक ज्ञान समानता के कारण हो वहाँ संदेह अलंकार होता है। इसमें अनिश्चय की स्थिति बनी रहती है।

उदाहरण– **बिरह है या अखंड संयोग**

शाप है या है यह वरदान।

यहाँ विरह प्रस्तुत है और अखंड संयोग, शाप एवं वरदान अप्रस्तुत। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में संदेह बना हुआ है। अत: संदेह अलंकार है।

व्यतिरेक–जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का विशेष अतिरेक (गुणोत्कर्ष) होता है वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। **उदाहरण–**

का सरवर तेहि देउ मयंकू।

चाँद कलंकी वह निकलंकू॥

इस उदाहरण में पद्मावती का ललाट उपमेय है, द्वितीय के चन्द्रमा की ज्योति उपमान है। चन्द्रमा की ज्योति (उपमान) नायिका के ललाट (उपमेय) से कम है, अत: यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

अन्योक्ति–जहाँ अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत समान वस्तु की प्रतीति कराई जाए, वहाँ अन्योक्ति अलंकार होता है। **उदाहरण–**

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।

अली कली ही सौं बिंध्यौं, आगे कौन हवाल॥

यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर और कली से प्रस्तुत राजा जयसिंह को उनकी नई रानी के प्रति आसक्ति से हटाकर उन्हें राजकाज की ओर प्रवृत्त करना है। अत: यहाँ पर अन्योक्ति अलंकार है।

विभावना–जहाँ कारण के अभाव में कार्य संपन्न होता है, वहाँ यह अलंकार होता है।

उदाहरण– **बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना।**

कर बिनु करै करम विधि नाना॥

यहाँ बिना पैरों के चलना, बिना कानों के सुनना, बिना हाथों के अनेक कार्य करना आदि कार्य संपन्न हो रहे हैं। अत: विभावना अलंकार है।

मानवीकरण–इसका शाब्दिक अर्थ है, मानव करना अर्थात् जो वस्तुत: मानव नहीं है उसमें मानवीय गुण क्रियाओं का आरोप कर उसे मानव बनाना। दूसरे शब्दों में, प्रकृतिजन्य पदार्थों में मानवीय गुणों का आरोप ही मानवीकरण कहलाता है। **उदाहरण–**

धीरे-धीरे हिम आच्छादन हटने लगा धरातल से।

जगी वनस्पतियाँ अलसाई मुख धोती शीतल जल से॥

नोट–यहाँ वनस्पतियों का जगना, अलसाना और शीतल जल से मुख धोना मानवी क्रियाएँ हैं। अत: मानवीकरण अलंकार है।

नोट

विशेषण-विपर्यय–जहाँ विशेषण का विपर्यय होता है। अर्थात् जहाँ विशेषण को अपने वास्तविक विशेष्य से हटाकर किसी अन्य विशेष्य के साथ कलात्मकता से जोड़ दिया जाता है, वहाँ विशेषण विपर्यय अलंकार होता है। **उदाहरण**–

इस करुणा कलित हृदय में
क्यों विकल रागिनी बजती?

नोट–यहाँ 'विकल' विशेषण को 'रागिनी' के साथ जोड़ दिया गया है। 'रागिनी' विकल नहीं होती, अपितु विरही व्यक्ति विकल होता है। अत: यहाँ विशेषण विपर्यय अलंकार है।

काव्य के लक्षण

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप पर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है, जिससे विभिन्न काव्य सम्प्रदायों का विकास हुआ और काव्य के प्रमुख तत्त्वों की चर्चा करते हुए काव्य लक्षण निर्धारित करने का प्रयास किया गया। विद्वानों में मतभेद होने के कारण काव्य की कोई सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत करने में वे सफल नहीं हो सके। आचार्यों ने अपने-अपने मत को प्रमुखता देते हुए जो काव्य लक्षण निर्धारित किए हैं, वे सर्वमान्य नहीं कहे जा सकते। यहाँ हम कालक्रमानुसार संस्कृत आचार्यों द्वारा दिए गए काव्य लक्षणों को प्रस्तुत करने के उपरांत हिन्दी के प्रमुख आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य लक्षणों को प्रस्तुत करेंगे, तदुपरांत अंग्रेज़ी के प्रमुख समीक्षकों द्वारा दी गई काव्य की परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे।

1.5 संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य लक्षण

1. भामह (छठी शताब्दी)

भामह ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार में काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है–**"शब्दार्थौं सहितौ काव्यम्।"** अर्थात् शब्द और अर्थ के **'सहित भाव'** को काव्य कहते हैं। इस परिभाषा में 'सहित' शब्द अस्पष्ट है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं–

1. साहित्यिक सामंजस्य।, 2. हित सहित।

यदि सहित का पहला अर्थ लिया जाए तो इस परिभाषा का अभिप्राय होगा कि शब्द और अर्थ के 'साहित्यिक सामंजस्य' को काव्य कहा जाता है, परंतु यदि दूसरा अर्थ लिया जाए तब इस परिभाषा का तात्पर्य होगा कि ऐसा शब्दार्थ जो लोक कल्याणकारी हो, सबका हित करने वाला हो, काव्य है। स्पष्ट है कि आचार्य भामह शब्द और अर्थ के सामंजस्य पर बल देते हैं; अर्थात् कविता न तो शब्द चमत्कार है और न केवल अर्थ का सौष्ठव है। उसमें सुंदर, कलात्मक और सरस शब्द प्रयुक्त होने चाहिए जो उचित, भावपूर्ण, अर्थ को व्यक्त करने वाले हों। साथ ही कविता में प्रस्तुत 'शब्दार्थ' लोकमंगल का विधायक भी होना चाहिए।

2. आचार्य दंडी (7वीं शताब्दी)

आचार्य दंडी ने अपने ग्रंथ काव्यादर्श में काव्य की निम्नलिखित परिभाषा दी है–**"शरीरंतावदिष्टार्थ व्यवच्छिना पदावली।"** अर्थात् इष्ट अर्थ से युक्त पदावली तो उसका (अर्थात् काव्य का) शरीर मात्र है। स्पष्ट है कि दंडी केवल शब्दार्थ को काव्य नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार शब्दार्थ तो काव्य का शरीर मात्र है, उसकी आत्मा नहीं।

दंडी अलंकारवादी आचार्य थे और अलंकार को काव्य की आत्मा मानते थे, जिसकी व्यंजना उपर्युक्त परिभाषा में उन्होंने कर दी है। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि दंडी के अनुसार **वह शब्दार्थ जो अलंकार युक्त हो, काव्य है। अलंकार विहीन शब्दार्थ दंडी के विचार से काव्य नहीं कहा जा सकता।**

3. आचार्य वामन (8वीं शताब्दी)

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक **आचार्य वामन** ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में काव्य की निम्न परिभाषा दी है। **'गुणालंकृतयो शब्दार्थयो काव्य शब्दो विद्यते।'** अर्थात् गुण और अलंकार से युक्त शब्दार्थ ही काव्य के नाम से जाना जाता है। आचार्य वामन ने भामह और दंडी से कुछ आगे बढ़कर गुण युक्त और अलंकार युक्त शब्दार्थ को ही काव्य संज्ञा प्रदान की है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने दोषहीनता को भी काव्य लक्षणों में स्थान दिया है।

4. आचार्य मम्मट (12वीं शताब्दी)

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख विद्वान् आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में काव्य की निम्न परिभाषा दी है–**"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि।"** अर्थात् काव्य होता है वह शब्द और अर्थ जो दोष से रहित हो, गुण से मंडित हो तथा कभी-कभी अलंकार से रहित भी हो सकता है। इस परिभाषा के आधार पर काव्य के निम्न लक्षण सामने आते हैं–

1. **शब्दार्थौ**–अर्थात् काव्य शब्द और अर्थ का योग है।
2. **अदोषौ**–अर्थात् काव्य दोष रहित होना चाहिए।
3. **सगुणौ**–अर्थात् काव्य गुण युक्त होना चाहिए।
4. **अनलंकृति पुनः क्वापि**–अर्थात् काव्य में अलंकार अनिवार्य नहीं हैं।

1.5.1 मम्मट के काव्य लक्षण की विवेचना

1. अदोषौ–मम्मट ने काव्य का एक लक्षण दोषहीनता माना है। मम्मट से पहले आचार्य वामन और भोजराज ने भी अपनी परिभाषाओं में दोषहीनता का उल्लेख किया है। आचार्य विश्वनाथ ने दोषहीनता को काव्य परिभाषा में स्थान देना अनुपयुक्त माना है, क्योंकि दोष हीन काव्य आकाश कुसुमवत् अर्थात् असंभव है। दोष इतने सूक्ष्म और व्यापक होते हैं कि कवि के सावधान रहने पर भी उसकी रचनाओं में दोष आ ही जाते हैं। जब दोषहीन काव्य होता ही नहीं है, तब दोषहीनता को काव्य लक्षणों में स्थान देना कहाँ तक उचित है? विश्वनाथ का यह भी मत है कि दोषों के आ जाने से काव्य का काव्यत्व नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जैसे कीड़े द्वारा काटे गए रत्न का रत्नत्व समाप्त नहीं होता, हाँ उसका मूल्य अवश्य कम हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि दोष काव्य के सौंदर्य में व्याघात तो उत्पन्न करते हैं, किंतु उसका काव्यत्व नष्ट नहीं करते।

2. सगुणौ–मम्मट ने काव्य का गुणयुक्त होना स्वीकार किया है, पर आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण में सगुणौ पद की आलोचना की है। उनके अनुसार सगुणौ शब्दार्थौ का विशेषण कदापि नहीं हो सकता। वस्तुतः गुण रस के धर्म हैं, शब्दार्थ के नहीं। इस संबंध में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने मम्मट का पक्ष लेते हुए कहा है कि काव्य लक्षण के अंतर्गत सगुणौ का प्रयोग अनुचित नहीं है, रस की अभिव्यक्ति के लिए कवि गुण की सत्ता पर ही विशेष बल देता है। इसलिए मम्मट का सगुणौ पद अनुपयुक्त नहीं है। वस्तुतः 'सगुणौ' से 'सरसौ' की व्यंजना हो जाती है।

3. अनलंकृति पुनः क्वापि–मम्मट अंलकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते। उनके अनुसार अलंकार काव्य में होने तो चाहिए, पर वे काव्य के ऐसे तत्त्व नहीं हैं जिनके अभाव में काव्य का काव्यत्व ही नष्ट हो जाएगा। अलंकार से रहित होने पर भी कोई सरस उक्ति कविता की श्रेणी में ही गिनी जाएगी।

अलंकार पर विशेष बल देने वाले आचार्यगण मम्मट के इस मत की आलोचना करते हैं। अलंकारवादी आचार्य जयदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि अलंकार काव्य के स्वाभाविक धर्म हैं, उसी प्रकार से जैसे उष्णता आग का धर्म है, अतः बिना अलंकारों के कोई रचना काव्य हो ही नहीं सकती। मम्मट रसवादी आचार्य थे अतः वे काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुण और रस पर विशेष बल देते हुए दिखाई पड़ते हैं।

नोट

4. शब्दार्थों—काव्य शब्द है अथवा शब्दार्थ—इस विषय में विद्वानों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग उन आचार्यों का है जो काव्य को शब्दार्थ स्वीकार करते हैं। मम्मट इसी वर्ग के आचार्य हैं। उनके अतिरिक्त आचार्य भामह, वामन, रुद्रट आदि ने काव्य को शब्दार्थ स्वीकार किया है।

इस मत के अनुसार काव्य न तो शब्द के सौष्ठव का फल है और न ही अर्थ के सौंदर्य का विलास प्रत्युत शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य पद की सृष्टि करते हैं। यदि काव्य को शब्द सृष्टि मान लिया जाए तो गुण, अलंकार, दोष हीनता आदि का काव्य से कोई संबंध नहीं रहेगा, क्योंकि ये केवल शब्द से ही नहीं अपितु शब्दार्थ से संबंध रखते हैं।

शब्दार्थ के स्थान पर काव्य को शब्द मानने वाले आचार्य हैं—दंडी विश्वनाथ, और पण्डितराज जगन्नाथ। इनके अनुसार काव्य में शब्द की ही प्रधानता है, अर्थ तो गौण रूप में स्वत: उसका अनुयायी बनकर आ ही जाता है।

वस्तुत: यह विवाद अधिक तर्कसंगत नहीं है क्योंकि शब्द और अर्थ एक दूसरे से अभिन्न हैं। अत: काव्य को 'शब्दार्थ' कहना अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

5. आचार्य विश्वनाथ (14वीं शती)—साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण का तर्कपूर्ण खंडन किया है। उन्होंने काव्य की निम्न परिभाषा प्रस्तुत ही है। 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् "रस से पूर्ण वाक्य ही काव्य है।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ ने रस को ही काव्य का प्रमुख तत्त्व माना है, जब कि उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने गुण संपन्नता और सालंकारिता पर अधिक बल दिया था।

बाबू गुलाबराय ने इस परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'रसात्मकं' से काव्य के अनुभूति पक्ष की और 'वाक्य' से कलापक्ष की अभिव्यंजना होती है पर इस परिभाषा में रस की व्याख्या अपेक्षित है।

डा. भगीरथ मिश्र ने इस परिभाषा में रस शब्द की व्याख्या की है। उनके अनुसार यदि रस का शास्त्रीय अर्थ ग्रहण करें तो इस परिभाषा के कारण काव्य का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हो जाएगा। बिहारी और केशव की अनेक उक्तियाँ जिनमें रस की पूर्ण निष्पत्ति नहीं है, केवल अलंकार या उक्तिवैचित्र्य का ही, चमत्कार है वे सब काव्य क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाएँगी। अत: डा. मिश्र का यह सुझाव है कि यहाँ रस का अर्थ सरसता या माधुर्य समझना चाहिए। इस अर्थ में यह परिभाषा व्यापक हो जाएगी और अलंकार, उक्ति वैचित्र्य आदि को अपने में सम्मिलित कर लेगी।

6. पण्डितराज जगन्नाथ (17वीं शती)—पण्डितराज ने अपने ग्रंथ रस गंगाधर में काव्य लक्षण को निम्न शब्दों में व्यक्त किया—"रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है। इस परिभाषा में रमणीय शब्द अस्पष्ट है। बाबू गुलाबराय ने रमणीय का अर्थ मन को रमाने वाला या लीन करने वाला बताया है। रस में लीन मन आनंद से व्याप्त हो जाता है। अत: रमणीयता के अंतर्गत रसात्मकता भी आ जाती है। इसके अतिरिक्त अलंकार आदि के चमत्कार भी रमणीय अर्थ के अंतर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार गुलाबराय जी के मत से यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है।

डा. भगीरथ मिश्र ने इस परिभाषा पर अपनी आपत्ति उठाई है। उनके अनुसार काव्य के अंतर्गत शब्द में सदैव अर्थ को रमणीयता नहीं रहती, पूरे वाक्य से रमणीयता प्राप्त होती है, अत: शब्द के स्थान पर वाक्य का प्रयोग होना चाहिए।

एक त्रुटि इस परिभाषा में यह है कि यहाँ पर केवल अर्थ की रमणीयता का संकेत हुआ है, जबकि काव्य का एक अंश ऐसा भी है, जो शब्द की रमणीयता संबंध रखता है, अत: काव्य में शब्द की रमणीयता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

संस्कृत की इन परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य मम्मट की काव्य परिभाषा सर्वाधिक उपयुक्त एवं तर्कसंगत है, तथापि आचार्य विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ की परिभाषाओं की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

1.5.2 हिन्दी आचार्यों का काव्य लक्षण

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर अनेक काव्य लक्षण प्रस्तुत किए अत: उनमें मौलिकता का अभाव है। आधुनिक युग के जिन हिन्दी समीक्षकों ने काव्य पर मौलिक ढंग से विचार किया है, इनमें सर्वप्रमुख हैं–आचार्य रामचंद्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू गुलाबराय आदि।

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल का काव्य लक्षण–शुक्ल जी ने अपने निबंध संग्रह **चिंतामणि भाग : 1** के निबंध 'कविता क्या है' में काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है–**"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"** हृदय की मुक्तावस्था से उनका अभिप्राय है हृदय का अपने-पराए की भावना से मुक्त होना।

इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी काव्य में रागात्मक तत्त्व 'रसात्मकता' और भावात्मकता' को प्रधानता देते हैं। वे चमत्कार पक्ष को काव्य-लक्षण के अंतर्गत महत्त्व नहीं देते। इस परिभाषा में 'रस' का आग्रह अधिक है। अलंकार उक्ति वैचित्र्य आदि का समावेश इसमें नहीं हो सका है, अत: यह परिभाषा संकीर्ण हो गई है और केवल रसवाद का पोषण करती है।

2. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी–"किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजन लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है।"

इस अर्थ में कविता अत्यन्त व्यापक हो जाती है। वह गद्य और पद्य दोनों ही रूपों में हो सकती है तथा उसमें दो गुण होने चाहिए–प्रभाव डालने की क्षमता और आनंद प्रदान करने की शक्ति।

3. बाबू गुलाबराय–"काव्य संसार के प्रति कवि की भाव प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की श्रेय को प्रेय देने वाली अभिव्यक्ति है।"

इस परिभाषा में अनुभूति पक्ष या भाव प्रधानता को ही काव्य का मूल आधार माना गया है। यद्यपि कलापक्ष की इसमें उपेक्षा नहीं है, क्योंकि प्रेय शब्द कलापक्ष की ओर इंगित करता है। हिन्दी के अन्य विद्वानों ने भी काव्य की परिभाषाएँ दी हैं, पर वे उपर्युक्त परिभाषाओं से मिलती-जुलती हैं। अत: उनका उल्लेख आवश्यक नहीं है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

17. आचार्य दंडी किस शताब्दी में थे?

    (अ) 9वीं शताब्दी (ब) 7वीं शताब्दी

    (स) 12वीं शताब्दी (द) 16वीं शताब्दी

18. 'काव्य संसार के प्रति कवि की भाव प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं के श्रेय को प्रेय देने वाली अभिव्यक्ति है', कथन किसका है?

    (अ) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (ब) बाबू गुलाब राय

    (स)आचार्य भामह (द) आचार्य दंडी

1.6 पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा निर्दिष्ट काव्य लक्षण

पाश्चात्य समीक्षकों ने काव्य के जो लक्षण बताए हैं उनमें से कुछ भावपक्ष को प्रधानता देकर चले हैं और कुछ कलापक्ष को। इन समीक्षकों में से कुछ समीक्षकों द्वारा निर्दिष्ट लक्षण हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

1. **मैथ्यू आर्नल्ड**–"Poetry at bottom is the criticism of life." अर्थात् "कविता मूल रूप में जीवन की आलोचना है।" इस परिभाषा में काव्य का लक्षण निर्दिष्ट नहीं होता, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कविता का जीवन से गहरा संबंध है।

2. **कालरिज**–"Poetry is the best word in best order" अर्थात् "सर्वोत्तम व्यवस्था में सर्वोत्तम शब्द ही कविता है।" इस परिभाषा में काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष अथवा कला पक्ष को ही प्रधानता दी गई है।

3. **हडसन**–"Poetry is the interpretation of life through imagination and emotion." अर्थात् "कविता कल्पना और संवेग के द्वारा जीवन की व्याख्या है।" इस परिभाषा में हडसन ने कविता का संबंध जीवन से जोड़ा है तथा कल्पना और संवेग को कविता का साधन माना है। हडसन का यह मत भारतीय विद्वानों के मत से मेल खाता है।

निष्कर्ष–उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य की सर्वमान्य परिभाषा दे पाना कठिन है, क्योंकि कविता प्रत्येक काल में अपना रूप बदलती है।

विद्वान अपने-अपने ढंग से काव्य की परिभाषा देते हैं तथा इन परिभाषाओं के आधार पर आधुनिक काल की नई कविता खरी नहीं उतरती। इसके लिए अपने युग के अनुसार काव्य की नई परिभाषा होनी चाहिए।

फिर भी काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले निम्नलिखित सामान्य लक्षण दिए जा सकते हैं–

(1) मानवीय अनुभूति।

(2) भाषा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति।

(3) अभिव्यक्ति में कलात्मकता।

इन लक्षणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मानवीय अनुभूतियों की भाषा के माध्यम से की गई रसात्मक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति ही कविता है।

1.7 साहित्य और समाज

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यह उक्ति आज से कई सौ साल पहले की है। मनुष्य समाज में रहते हुए ही अपने समस्त क्रिया कलापों को करता रहता है। और जहाँ तक हम कवि या लेखक की बात करते हैं तो वह भी समाज का ही एक प्राणी है। वह भी समाज में ही रहता है। समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियाँ उसे किसी न किसी रूप में प्रभावित करती रहती हैं। जब कवि समाज में किसी व्यक्ति को आर्थिक विपन्नता में देखता है, या किसी को शोषित होते हुए देखता है तो उसे वह अपनी लेखनी के माध्यम से सामने लाता है। जैसे निराला एक बार इलाहाबाद के पथ पर एक नारी को कड़ी धूप में पत्थर तोड़ते हुए देखते हैं तो 'वह तोड़ती पत्थर' के नाम से एक कविता की रचना करते हैं। अर्थात् साहित्य और समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों की सार्थकता एक दूसरे के साथ ही है। इसी कारण साहित्य और समाज का अटूट संबंध है। कितने ही कवि और लेखक ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने इतिहास के पहलुओं को आधार बनाकर अपने साहित्य की रचना की है। जिनमें जयशंकर प्रसाद, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन आदि मुख्य हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

19. "Poetry is the best word in best order" कथन कालरिज का है।
20. इलाहाबाद में सड़क पर एक नारी को पत्थर तोड़ता देख, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने 'वह तोड़ती पत्थर' नायक कविता की रचना की थी।

1.8 सारांश (Summary)

- जिसके कारण काव्य में लय, गति के साथ-साथ संगीतात्मकता आती है, उसे छन्द कहते हैं।
- तीन वर्णों के समूह को 'गण' कहते हैं। वर्णों के समूह के आधार पर आठ गण माने जाते हैं। वे हैं–
- काव्य के दो पक्ष माने गए हैं–1. भावपक्ष, 2. कलापक्ष। अलंकारों का संबंध काव्य के कला पक्ष से ही है।
- भामह ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार में काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है–**"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।"** अर्थात् शब्द और अर्थ के **'सहित भाव'** को काव्य कहते हैं।
- साहित्य और समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों की सार्थकता एक दूसरे के साथ ही है। इसी कारण साहित्य और समाज का अटूट संबंध है।

1.9 शब्दकोश (Keywords)

- वृषभानुजा : वृषभान राजा की बेटी राधा
- शब्दालंकार : शब्दालंकार का अर्थ है शब्द के आश्रित अलंकार।

1.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. छन्द से आप क्या समझते हैं?
2. 'रस' क्या है? रस और भाव में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. 'अलंकार' से आप क्या समझते हैं? यमक अलंकार को उदाहरण सहित समझाइए।
4. आचार्य मम्मट के काव्य लक्षणों की विवेचना कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. छन्द	2. अर्द्धसम	3. 16	4. (स)
5. (अ)	6. (स)	7. सत्य	8. सत्य
9. सत्य	10. असत्य	11. असत्य	12. सत्य
13. सत्य	14. अनुप्रास	15. रूपक	16. व्यतिरेक
17. (ब)	18. (ब)	19. सत्य	20. सत्य।

1.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें
1. साहित्य दर्पण – *आचार्य विश्वनाथ।*
2. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र – *सहदेव चौधरी एवं शान्तिस्वरूप गुप्त।*

नोट

इकाई–2 : काव्य के प्रकार एवं काव्य प्रयोजन

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

2.1 काव्य के प्रकार

2.2 काव्य का प्रयोजन

2.3 सारांश (Summary)

2.4 शब्दकोश (Keywords)

2.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

2.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- काव्य के प्रकारों को समझने हेतु।
- महाकाव्य के स्वरूप पर विभिन्न आचार्यों के मत समझने हेतु।
- काव्य प्रयोजन की विवेचना करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

किसी भी कार्य को करने के पीछे उसके कर्ता का कोई उद्देश्य अवश्य होता है। मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतु-मूलक होती है। यही हेतु मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करता है। काव्य की सर्जना के पीछे भी उसके सर्जक का कोई उद्देश्य अवश्य होता है। यही उद्देश्य काव्य का प्रयोजन कहलाता है और इसी प्रयोजन से प्रेरित होकर वह काव्य की रचना करता है।

2.1 काव्य के प्रकार

काव्य के परंपरागत रूप से प्रबंध और मुक्तक दो भेद माने जाते हैं। प्रबंध के भी दो भेद दिए गए हैं–महाकाव्य और खंडकाव्य। संस्कृत के आचार्यों ने गद्य और पद्य दोनों के रूप में मिश्रित विरचित काव्य को चम्पू नाम दिया है। चम्पू का लक्षण भी यही है–

'गद्य-पद्य मयं काव्यं चम्पू इत्यभिधीयते।'

संस्कृत भाषा में विरचित अनेक चम्पू ग्रंथ प्राप्त होते हैं। हिंदी भाषा में प्राप्त होने वाले चम्पू काव्यों की संख्या कम है।

काव्य के भेद अथवा प्रकार इस रूप में हैं– **नोट**

(क) महाकाव्य

बंध अर्थात् एक सुनिश्चित क्रम के आधार पर रचित भाव-प्रधान तथा विषय-प्रधान काव्य के दो प्रमुख भेद माने जाते हैं–प्रबंध-काव्य और मुक्तक-काव्य। प्रबंध-काव्य के भी दो भेद माने जाते हैं।–महाकाव्य एवं खंडकाव्य। 'महाकाव्य' शब्द 'महत्' और 'काव्य' दो शब्दों से मिलकर बना है। इनमें पहला शब्द विशेषण और दूसरा विशेष्य है। महाकाव्य शब्द में विशेष्य का अधिक महत्त्व होता है। अत: इस शब्द में भी 'काव्य' ही प्रमुख है और दोनों शब्दों का अर्थ होता है। 'बड़ा काव्य क्योंकि 'महत् से विशाल', 'उत्कृष्ट' का भी भाव प्रकट होता है।

> *नोट्स* महाकाव्य जीवन के महत् का विवेचन होता है।

महाकाव्य का 'महा' शब्द–काव्य के लिए 'महत्' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'वाल्मीकि रामायण' में हुआ है। श्री राम ने अपनी कथा का वर्णन सुनने के बाद लव-कुश से कहा–इस विशाल आकार वाले काव्य के कर्ता कौन हैं–

'किम प्रमाणमिदम् काव्यम् का प्रतिष्ठा महात्मनः।

कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः॥

इस श्लोक में यह तो स्वत: ध्वनित है कि इसमें किसी महान् व्यक्तित्व के चरित्र की प्रतिष्ठा होती है।

महाकाव्य का स्वरूप–महाकाव्य के स्वरूप पर भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही आचार्यों ने विचार किया है।

भारतीय आचार्यों के मत–

(क) आचार्य भामह के अनुसार–भामह ऐसे प्रथम भारतीय आचार्य हैं, जिन्होंने महाकाव्य के लक्षणों पर विचार किया है। उनके अनुसार महाकाव्य–

(1) सर्गबद्ध होना चाहिए और महान् चरित्रों से संबंध होना चाहिए।

(2) उसका आकार भी बड़ा होना चाहिए।

(3) वह ग्राम्य-शब्द से रहित तथा अर्थ-सौष्ठव-संपन्न अलंकारयुक्त हो।

(4) वह सत्पुरुष आश्रित हो।

(5) वह मंत्रणा, दूत-प्रेषण, अभियान, युद्ध, नायक का अभ्युदय, पंच-संधि समन्वित हो।

(6) उसमें चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) का वर्णन होने पर भी अर्थ-निरूपण का प्राधान्य हो।

(7) वह लौकिक आचार एवं सभी रसों से युक्त हो।

(8) महाकाव्य के नायक का प्रथम वर्णन किया जाए, उसके बल, वेग, ज्ञान आदि का भी वर्णन हो।

(9) प्रतिनायक का वर्णन बाद में हो।

(10) नायक का वध न हो।

(11) यदि नायक को कथा के आरंभ से अंत तक न दिखाया जा सके या उसके अभ्युदय का वर्णन न हो तो उसे नायक नहीं बनाना चाहिए।

(ख) आचार्य दंडी–'काव्यादर्श' में दंडी ने कुछ नवीन तथ्यों की और जोड़ दिया है–

(1) महाकाव्य के प्रारंभ में आशीर्वाद, नमस्कार एवं वस्तु-निर्देश की योजना होनी चाहिए।

नोट

(2) विरहजन्य प्रेम, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार-विमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक की विजय आदि का वर्णन अपेक्षित है।

(3) प्राकृतिक-चित्रण एवं सामाजिक विधि-विधानों का संयोजन अपेक्षित है।

(4) नायक के उत्कर्ष के लिए प्रतिनायक के वंश तथा पराक्रम का भी वर्णन आवश्यक है, क्योंकि नायक का वास्तविक उत्कर्ष गुणवान् प्रतिपक्षी की ही पराजय में निहित है।

(5) नायक का चतुर और उदात्त होना आवश्यक है।

(6) चतुर्वर्ग का विधान उसके संयोजन के साथ आवश्यक है।

(ख) खंडकाव्य

संस्कृत आचार्यों ने खंड-काव्य पर केवल छुटपुट चर्चा ही की है।

(क) आचार्य रुद्रट–इन्होंने प्रबंधों के दो भेद किए-महान् और लघु। इन्होंने इनका अंतर इस प्रकार किया है–

क्या आप जानते हैं महाकाव्य में चतुर्वर्ग–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का वर्णन होता है एवं सभी रसों को प्रमुख अथवा आश्रित रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है, इसके विपरीत लघु-काव्य में चतुर्वर्ग में से किसी एक का और रसों में से किसी एक का समावेश होता है।

इस प्रकार चतुर्वर्ग फल में से फल, रसों में से एक रस के अपनाए जाने के कारण लघु-काव्य, में खंड-काव्य के आंतरिक गठन की झलक मिलती है।

(ख) आचार्य विश्वनाथ–इनके अनुसार–

'खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्य एकदेशानुसारि च।

(अर्थात् खंडकाव्य महाकाव्य का एकदेशीय रूप होता है।)

(ग) मुक्तक-काव्य

'बंध' की दृष्टि से प्राचीन भारतीय समीक्षकों ने श्रव्य-काव्य के दो भेद माने हैं–प्रबंध और मुक्तक। प्रबंध में कथा होने से पूर्वापर-संबंध रहता है, परंतु मुक्तक में पूर्वापर-संबंध का निर्वाह आवश्यक नहीं रहता, क्योंकि इसका प्रत्येक छंद स्वतंत्र रहता है और प्रबंध-काव्य की भाँति इसमें कोई कथा नहीं होती। हाँ, कुछ मुक्तक अवश्य ऐसे होते हैं, जिनका प्रत्येक छंद स्वतंत्र अथवा अपने आपमें पूर्ण होता है और उनमें एक कथा-सूत्र भी अनुस्यूत होता है। सूर का 'भ्रमर-गीत', तुलसी 'विनय-पत्रिका' एवं 'गीतावली' इसके उदाहरण हैं।

(घ) नाटक

काव्य से प्राप्य: और साधारण रूप से पद्य का ही बोध होता है। संस्कृत के आचार्यों ने नाटकों को भी काव्य के अंतर्गत स्थान दिया है। संस्कृत काव्यशास्त्र से संबंधित यह उक्ति अत्यधिक प्रचलित है–

'काव्येषु नाटकं रम्यम्, तत्र शकुतंला।'

(काव्यों में नाटक रमणीय है और नाटकों में शकुन्तला अर्थात् कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' रमणीय है।)

नोट्स संस्कृत के नाटकों में जो संवाद होते थे, उनमें पद्यों की अधिकता के कारण उन्हें काव्य में सम्मिलित किया गया था। कुछ संवाद तो दो-दो, तीन-तीन पद्यों वाले होते थे।

नाटक की परिभाषा–भरतमुनि ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार की है–

'त्रैलोकयस्यास्य सर्वस्य नाट्यभावानुकीर्तनम्।'

(अर्थात् नाटक तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है।)

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार–"प्रत्यक्षं कल्पनाध्यवसाय विषयो लोकप्रसिद्धः" के आधार पर "नाटक वह दृश्य-काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवासाय का विषय बनकर सत्य एवं असत्य से समन्वित, विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनंदोपलब्धि प्रदान करता है।"

नाटक के तत्त्व–भारतीय आचार्यों के आधार पर विद्वानों ने नाटक के पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया है–

(1) कथा, कथानक या कथावस्तु, (2) नेता या पात्र, (3) रस, (4) उद्देश्य तथा (5) अभिनय।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. आचार्य .... पहले ऐसे भारतीय आचार्य हैं, जिन्होंने महाकाव्य के लक्षणों पर विचार किया है।
2. संस्कृत के आचार्यों ने गद्य और पद्य दोनों के रूप में मिश्रित विरचित काव्य .... दिया है।
3. महाकाव्य में चतुर्वर्ग-धर्म, ..., काम, मोक्ष का वर्णन होता है।

2.2 काव्य का प्रयोजन

किसी भी कार्य को करने के पीछे उसके कर्ता का कोई उद्देश्य अवश्य होता है। मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतु-मूलक होती है। यही हेतु मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करता है। काव्य की सर्जना के पीछे भी उसके सर्जक का कोई उद्देश्य अवश्य होता है। यही उद्देश्य काव्य का प्रयोजन कहलाता है और इसी प्रयोजन से प्रेरित होकर वह काव्य की रचना करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रणेताओं ने इन प्रयोजनों को अपने-अपने ढंग से देखा है। किसी ग्रंथ की रचना के पीछे कवि का क्या प्रयोजन है, इसे विभिन्न विद्वान अपने-अपने ढंग से देखते हैं और काव्यशास्त्र में इसकी भी एक सुदीर्घ परंपरा है। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और जीवन से साहित्य का अभिन्न संबंध है, इसलिए जीवन की प्रेरणा ही साहित्य की प्रेरणा है। भारतीय मनीषियों ने धर्म, अर्थ काम और मोक्ष-चतुर्वर्ग की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य बताया है, इसीलिए काव्यशास्त्रियों का भी काव्य-सर्जना के पीछे प्रयोजन इसी चतुर्वर्ग की सिद्धि रहा है।

टास्क *टास्क* काव्य प्रयोजन से आप क्या समझते हैं?

संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रयोजन

आदि आचार्य भरतमुनि से लेकर अब तक सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप से इन काव्य-प्रयोजनों का विवेचन किया है।

नोट

भरतमुनिकृत काव्य-प्रयोजन–भरतमुनि के समय तक नाट्य और काव्य में कोई अंतर नहीं था। अत: उनके द्वारा जो प्रयोजन बताए गए हैं: वे नाट्य के संदर्भ में हैं: किंतु इन्हें काव्य के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। 'नाट्य शास्त्र' में उन्होंने काव्य-प्रयोजन का उल्लेख इस प्रकार किया है–

'दु:खार्त्तानां श्रमर्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥

अर्थात् वह नाट्य-शास्त्र दु:खों से, श्रम, से, शोक से पीड़ित तपस्वियों (लोगों) को संसार में सुख प्रदान करने वाला होगा। स्पष्ट है कि भरतमुनि काव्य का प्रयोजन दु:खों का हरण सिद्ध करते हैं। यहाँ दु:खों के हरण से तात्पर्य मानव हित से ही है।

उन्होंने काव्य का प्रयोजन न बताकर यहाँ पर अपनी-ग्रंथ रचना का प्रयोजन बतलाया है। दूसरे, इनमें आनंद प्राप्ति तथा स्वान्त: सुखाय का कहीं भी उल्लेख नहीं है। उन्होंने सांसारिक सुखों की ओर ही अपनी दृष्टि रखी है। 'रसास्वाद' का विवेचन करते समय वे 'हर्षादिश्वाधिगच्छन्ति' लिखकर आनंद को पूर्ण रूपेण स्वीकार करते हैं।

भामहकृत काव्य प्रयोजन–भरतमुनि के पश्चात् भामह के 'काव्यालंकार' में काव्य-प्रयोजनों पर विचार प्राप्त होता है। उन्होंने काव्य-प्रयोजनों का वर्णन दो आधारों पर किया है–कवि और पाठक को आधार मानकर तथा केवल कवि को आधार मानकर। कवि और पाठक को आधार मानकर उन्होंने काव्य रचना का निम्नलिखित प्रयोजन बताया–

धर्मार्थकामोक्षोषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीतिं कीर्ति च साधुकाव्य निबंधम्॥

उन्होंने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति काव्य का प्रयोजन माना है और साथ ही, कलाओं में विलक्षणता, कीर्ति और प्रीति भी उनके अनुसार काव्य के प्रयोजन ही हैं। लेकिन कवि की दृष्टि से उन्होंने काव्य का प्रयोजन कवि के नाम को अमर रखना बाताया है। कवि काव्य की सर्जना करके नाम तथा अपनी कीर्ति जगत में अमर रखता है।

दंडीकृत काव्य-प्रयोजन–दंडी ने काव्य-प्रयोजनों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, किंतु वाणी के लिए जो उन्होंने प्रयोजन दिए हैं, उनको ही काव्य के प्रयोजन के रूप में देखा जा सकता है।

वाणी की महत्ता का विवेचन करते हुए दंडी ने शब्द को तीनों लोकों को ज्ञान का प्रकाश देने वाला, कवि और राजा के यश को स्थायित्व प्रदान करने वाला बताया है–

इंद्रमंधं तम: कृतस्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥
आदिराजयशोविम्बंयादृशं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेपि न स्वयं पश्य नेय्यति॥

इस कथन के आधार पर दंडी के अनुसार, काव्य के अनुसार काव्य के प्रयोजन ज्ञान और यश की प्राप्ति माने जा सकते हैं। स्पष्ट है कि दंडी की दृष्टि भी सांसारिक ही अधिक रही है; उन्होंने दार्शनिक पक्ष का विवेचन कम ही किया है।

वामनकृत काव्य प्रयोजन–वामन ने कर्ता की दृष्टि से काव्य के प्रयोजनों पर विचार किया है। उनके अनुसार काव्य सर्जना के प्रयोजन दो हैं–एक दृष्ट प्रयोजन, दूसरा अदृष्ट प्रयोजन। दृष्ट प्रयोजन में आनंद अथवा प्रीति की उपलब्धि आती है और अदृष्ट काव्य-प्रयोजन में कीर्ति अथवा यश की प्राप्ति आती है। **यथा–**

"काव्यं सद्-दृष्टेष्वर्थ प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात्।"

वामन ने यह काव्य-प्रयोजन सहृदयों के आधार पर ही दिए हैं। कवि काव्य की सर्जना से अमरता प्राप्त करता है,

तब उसे यश की प्राप्ति होती है, उस यश से उसे आनंद की उपलब्धि होती है, इस प्रकार उन्होंने चतुर्वर्ग–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को काव्य का प्रयोजन माना है, क्योंकि इसकी सिद्धि से ही आनंद होता है, और आनंद से ही प्रीति उत्पन्न होती है।

रूद्रटकृत काव्य-प्रयोजन–रूद्रट ने काव्य प्रयोजन का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से वर्णन किया है। उनके काव्य-प्रयोजन पर विचार करने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि रूद्रट के समय में काव्य साधना किसी नायक के चरित्र पर आधृत होती थी, इसीलिए वे कवि तथा वर्ण्य नायक के यश को काव्य का प्रयोजन बताते हुए लिखते हैं–

ज्वलदुज्जलवाक् प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पनाल्यं प्रतनोति यशः परस्यापि।।

अर्थात् अलंकारों के कारण देदीप्यमान और दोषों के न होने के कारण निर्मल रचना का निर्माता महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ अपने तथा नायक के प्रत्यक्ष, युग-युगों तक रहने वाले यश का विस्तार करता है। इस प्रकार रूद्रट ने भी काव्य का प्रयोजन यश का विस्तार ही माना है।

आनंदवर्द्धनकृत काव्य-प्रयोजन–ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्द्धन ने काव्य प्रयोजन पर पृथक् रूप से कोई विचार नहीं किया। वे ध्वनि सिद्धांत की स्थापना में इसका संकेत देते हुए लिखते हैं–

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीयतमे तत्सवरूपम्।

इस आधार पर आनंदवर्द्धन सहृदय जनों का मनोरंजन काव्य का उद्देश्य मानते हैं। यह मनोरंजन अथवा आनंद काव्य के शरीर के सौंदर्य से उत्पन्न नहीं होता, अपितु पाठक अथवा श्रोताओं के मन की स्वाभाविक प्रक्रिया है।

अभिनव गुप्त ने भी आनंदवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धांत की व्याख्या करते हुए प्रीति को ही काव्य का प्रयोजन माना है। उनके अनुसार भी कवि को दो फल प्राप्त होते हैं–कीर्ति व प्रीति। कीर्ति से ही प्रीति (आनंद) उत्पन्न होता है। राजशेखर भी सहृदय की दृष्टि से आनंद और कवि की दृष्टि से कीर्ति को काव्य का प्रयोजन मानते हैं।

कुन्तककृत काव्य-प्रयोग–कुंतक ने लीक से हटकर काव्य-प्रयोजनों का विवेचन किया है। वह लिखते हैं–

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः।
काव्यबंधोऽभिजातानां हृदयाह्लाद कारकः।।

अर्थात् काव्य उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्तियों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाला और कोमल तथा मृदु शैली में लिखा हुआ धर्मादि सिद्धि का मार्ग है–

चतुर्वर्ग फलास्वाद्य व्यक्तिक्रम्य तद्विदर।
काव्यामृतरसनान्तश्चमत्कारों वितन्यते।।

अर्थात् काव्यामृत का रस उस काव्य को समझने वालों के अंतःकरण में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के आस्वाद से भी बढ़कर है।

इससे स्पष्ट है कि कुंतक ने चतुर्वर्ग की आस्वाद्यता से भी बढ़कर काव्य का आस्वाद माना है। इसलिए उनका काव्य-प्रयोजन परमानंद की प्राप्ति सिद्ध हो जाता है।

मम्मटकृत काव्य-प्रयोजन–मम्मट का काव्यशास्त्र में अन्यतम स्थान है। उन्होंने जो काव्य-प्रयोजन बतलाए हैं, वे पर्याप्त विस्तृत एवं स्पष्ट हैं–

काव्यं यशसेऽर्थयकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।।
सधः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयो पदेशयुजे।।

नोट

मम्मट के अनुसार, काव्य के प्रयोजन छह हैं–यश की प्राप्ति, धन की प्राप्ति, व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि, अशिव की क्षति, अलौकिक आनंद की प्राप्ति और पत्नी के समान उपदेश। यद्यपि इन काव्य-प्रयोजनों में कुछ नहीं है, किंतु संग्रह की दृष्टि से मम्मट का मत अन्यतम है और परवर्ती कवियों तथा काव्यशास्त्रियों ने मम्मट के मत से ही प्रेरणा ली है। आचार्य हेमचंद्र ने शब्द-भेद से इन्हीं के मत को दुहरा दिया है–

काव्यमाद्य यशसे, कान्तातुल्यतयोपदेशाय च।

हिंदी काव्य शास्त्र में काव्य प्रयोजन

हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों ने और भक्तिकालीन कवि गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य-प्रयोजन पर विचार किया है। यथा–

जस सम्पत्ति, आनंद अति दु:खन डारै खोई ।
होत कवित्त तें चतुराई, जगत गाम बस होई ॥

कुलपति–इन्होंने मम्मट के अनुसार वे ही छह काव्य-प्रयोजन माने हैं–

देव–इसी प्रकार आचार्यदेव केवल यश को ही काव्य का प्रयोजन मानकर भामह के कथन की पुष्टि करते हैं–

ऊँच नीच अरु कर्म बस, चलो जात संसार ।
रहत भव्य भगवंत जस, नव्य काव्य सुखसार ॥

भिखारीदास–भिखारीदास पर भी मम्मट का प्रभाव स्पष्ट है। वे तप पुंजों का फल (चतुर्वर्ग की प्राप्ति), संपत्ति, यश और आनंद काव्य का प्रयोजन मानते हैं–

एक लहैं, तपपुंजन के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गुसाईं ।
एक लहैं, बहु संपत्ति केशव, भूषन ज्यों बरवीर बड़ाई ॥
एकन्ह को जस ही सौ प्रयोजन, रसखानि रहीम की नाईं ॥
दास कवित्तन्ह की चर्चा बुद्धिवन्तन को सुखदै सब ठाईं ॥

गोस्वामी तुलसीदास–भक्त होने के नाते तुलसीदास किसी व्यक्ति विशेष की मुसाहिबी में नहीं थे। इसलिए उन्होंने काव्य का जो प्रयोजन बताया है, वह स्पष्ट निर्भीक और बुद्धिगम्य है। यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि तुलसीदास ने काव्य का प्रयोजन काव्यशास्त्र की विवेचना आदि में नहीं दिया है, अपितु वे तो काव्य की सर्जना करते समय स्वयं ही अपनी ग्रंथ रचना का प्रयोजन लिख देते हैं। उनके अनुसार कवि 'स्वांत: सुखाय' लिखता है।

'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा।'

यहाँ 'स्वान्त: सुखाय' से अर्थ 'आत्मसुख' से ही है। कविवर सुमित्रानंदन पंत भी काव्य का प्रयोजन 'स्वान्त: सुख' और 'लोकहित' मानते हैं–"एक विकसित कलाकार के व्यक्तित्व में, 'स्वांत: और बहुजन' में आपस में वही संबंध होता है जो गुण और राशि में; और एक के बिना दूसरा अधूरा है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सभी आचार्य इस बात पर सहमत हैं कि आनंदानुभूति काव्य भी सर्जना का मुख्य प्रयोजन है–यह आनंदानुभूति सहृदयों (पाठकों एवं श्रोताओं) को भी होती है। तथा स्वयं सर्जक कलाकार (कवि) को भी होती है। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य के प्रयोजनों पर विचार दो दृष्टियों से किया है–

(1) कवि, अर्थात् स्रष्टा की दृष्टि से।

(2) सहृदय, अर्थात् श्रोता व पाठक दृष्टि से।

कवि का प्रयोजन काव्य की सर्जना करते समय रहता है, और पाठक अथवा श्रोता का प्रयोजन काव्य को पढ़ते समय

नोट

अथवा सुनते समय निहित होता है। इन दोनों के मन में आनंदानुभूति मुख्य होती है। कोई भी काव्य तब तक नहीं पढ़ा या सुना जाएगा, जब तक उससे आनंद प्राप्त न हो; इसलिए सहृदयों का काव्य-प्रयोजन तो निश्चित रूप से आनंदानुभूति ही है।

विचारणीय यह है कि कवि क्यों लिखता है और काव्य का सर्जक किन प्रेरणाओं में अभिभूत होकर काव्य की सर्जना करता है? क्या स्वयं उसे भी आनंद की प्राप्ति होती है तथा यश और धन की प्राप्ति ही मुख्य प्रयोजन है? क्या अपने नाम को अमर करने के लिए ही वह काव्य की सर्जना करता है।

यदि इन प्रश्नों पर विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि भारतीय मनीषियों ने संसार की असारता पर बहुत पहले ही विचार कर लिया था। इस नश्वर संसार में कुछ भी अवशेष नहीं रहता, फिर यश ही क्या शेष रहेगा? काव्यशास्त्रियों ने 'यश की प्राप्ति' काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है, कुछ सीमा तक यह ठीक भी है, किंतु उसी को मुख्य नहीं माना जा सकता। कवि दारिद्रयपूर्ण तथा अभाव ग्रस्त जीवन को व्यतीत करता है, उससे धन की प्राप्ति भी मुख्य प्रयोजन नहीं माना जा सकता: क्योंकि धन की प्राप्ति तो इससे भी अधिक और अनेक उपायों से हो सकती हैं। यश के लिए भी यही तर्क है स्मारक आदि से यश अमर हो जाता है, पर काव्य-सर्जना के समय इसको विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वह लोकप्रिय होगा ही; यदि यश-प्राप्ति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है तो काव्य के विषयों में इतना विभेद क्यों? स्पष्ट है कि यदि यश-प्राप्ति ही मुख्य प्रयोजन होता तो एक ही रचना लिखकर यश पाया जा सकता था। यदि यहाँ कहा जाए कि दूसरे खंडन करके अपने मत की स्थापना से उसका यश भी स्वयं को मिलेगा तो इसका भी क्या भरोसा कि कोई दूसरा उसके मत का खंडन करके उसे भी यशहीन नहीं करेगा?

स्पष्ट है कि यश की प्राप्ति अथवा धन की प्राप्ति अथवा उपदेश देने की भावना को काव्य का गौण प्रयोजन भले ही स्वीकार कर लिया जाए, इसे काव्य का मुख्य प्रयोजन कथमेव स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपदेश तो कवि की अपेक्षा एक परिव्राजक भलीभाँति दे देता है और काव्य का अध्येता आनंद प्राप्ति की भावना से जब काव्य का अध्ययन करता है तो उपदेश कहाँ ग्रहण करता है?

तो अब भी हमारा मूल प्रश्न वैसा ही बना रहा–"कवि क्यों लिखता है अथवा काव्य सृजन का प्रयोजन क्या है?"

वस्तुत: कवि के मन में, सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि होने के कारण अनेक भाव तरंगें उठा करती हैं, और उन्हीं से प्रेरणा पाकर, उन भावों एवं अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की उसके मन में तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हो जाती है। अपने मन की भावनाओं को वह दूसरों तक पहुँचाने के लिए विकल हो जाता है; उसकी कल्पना तब नव-नवोमेषशालिनी प्रतिभा से चमत्कृत होकर 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के धरातल पर स्थिर होकर मन के आनंद की अनुभूति पाठक को कराने के लिए काव्य-सर्जना करने में प्रवृत्त होती है। उस समय कवि का अंतस्तल परिष्कृत और परम पुनीत होता है: अत: उसकी वाणी से निस्सृत शब्द सहृदयों में आनंद की सृष्टि करते हैं। इसीलिए डॉ. नगेंद्र काव्य का प्रयोजन कवि की आत्माभिव्यक्ति की भावना मानते हैं। उनके अनुसार "साहित्य का प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति है। कवि या लेखक के हृदय में जो भाव या विचार उठते हैं, उन्हें वह प्रकाशित करना चाहता है।" आत्म प्रकाशन की क्षमता को अवसर देना ही साहित्य का मूल प्रयोजन है।

डॉ. नगेंद्र के विचार स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करते हैं कि कवि अपने मन की प्रेरणा के वशीभूत होकर ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। मन की यही प्रेरणा स्वांत: सुखाय होती है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी भी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं, इसीलिए वे कवि को संसार में रहने की प्रेरणा देते हैं। जयशंकर प्रसाद की तरह कवि का पलायनवादी होना विशेषण से संबंध भी नहीं जोड़ते। वे काव्य की अनुभूति को एक पूर्ण आत्मिक व्यापार मानते हैं–

"काव्यानुभूति स्वत: एक अखंड, आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यक खंड व्यापार या वाद से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है।"

नोट

डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर' भी इसी की पुष्टि करते हुए लिखते हैं–"मैं यह मानता हूँ कि बसंत का गुलाब और कवि का स्वप्न अपने मन में पूर्ण होता है; वह किसी को कुछ सिखलाने के लिए नहीं होता है।"

इन विद्वानों के मतों का पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि ये सभी मत डॉ. नगेंद्र की उक्ति की पुष्टि कर रहे हैं। वस्तुत: सौंदर्य स्रष्टा कवि का संसार के हिताहित से कोई संबंध नहीं होता है। अनुभूति को सुंदर से सुंदर रूप में अभिव्यक्त करना ही उसका प्रयोजन होता है। इस विस्तृत संसार की विलक्षणता के दर्शनों से उत्कृष्ट होकर कवि का मन आह्लादित होता जाता है और वह नई-नई अनुभूतियों से भर जाता है। उस समय मन कुछ कहने को आकुल-व्याकुल हो जाता है, रोग-द्वेष से हीन होकर अलौकिक आनंद में लीन होकर लोकमंगल की कामना से प्रेरित होकर कवि लिखता है और ब्रह्मानंद की तरफ पाठक उसमें भी अलौकिक आनंद का अनुभव करते हुए यह समझने लगता है कि, "यद्गत्वा न विवर्तन्ते तद्धाम परमंमम।" की तरह काव्य भी लौकिक है, सत्यं शिवम्, सुंदर से अभिप्रेत है और परम आवश्यक है। वही काव्य का प्रयोजन है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. वाणी की महत्ता का विवेचन करते हुए दंडी ने 'शब्द' को तीनों लोकों को क्या देने वाला बताया है?

   (अ) अमृत (ब) ज्ञान का प्रकाश

   (स) अंधकार (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

5. 'स्वान्त: सुखाय' का क्या अर्थ है?

   (अ) आत्मसुख (ब) परसुख

   (स) परमार्थ (द) चिंतन

6. ''मैं यह मानता हूँ कि बसंत का गुलाब और कवि का स्वप्न अपने मन में पूर्ण होता है, वह किसी को कुछ सिखलाने के लिए नहीं होता'' यह कथन है–

   (अ) डा० नगेन्द्र (ब) हरिवंशराय बच्चन

   (स) डा० रामधारी सिंह 'दिनकर' (द) निराला

2.3 सारांश (Summary)

- बंध अर्थात् एक सुनिश्चित क्रम के आधार पर रचित भाव-प्रधान तथा विषय-प्रधान काव्य के दो प्रमुख भेद माने जाते हैं–प्रबंध-काव्य और मुक्तक-काव्य।
- मम्मट के अनुसार काव्य के प्रयोजन छह हैं–यश की प्राप्ति, धन की प्राप्ति, व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि, अशिव की क्षति, अलौकिक आनंद की प्राप्ति और पत्नी के समान उपदेश।

2.4 शब्दकोश (Keywords)

- चम्पू : (Mixed Poetry) गद्य और पद्य में लिखा गया नाटक (जैसे–चंपूकाव्य)
- महाकाव्य : (Epic) बहुत बड़ा और विस्तृत काव्य ग्रंथ ('महाभारत' महाकाव्य व्यास की रचना है।)

2.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. काव्य के प्रकारों की विवेचना कीजिए।
2. महाकाव्य से आप क्या समझते हैं?
3. काव्य प्रयोजन से क्या अभिप्राय है?
4. आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के कितने प्रयोजन हैं?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

1. भामह 2. चम्पू 3. अर्थ 4. (ब)
5. (अ) 6. (स)।

2.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. भारतीय काव्यशास्त्र – *डॉ. सत्यदेव चौधरी।*

नोट

इकाई–3 : उपन्यास के तत्त्व एवं वर्गीकरण

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
3.1 उपन्यास के तत्त्व एवं वर्गीकरण
3.1.1 कथावस्तु
3.1.2 पात्र एवं चरित्र-चित्रण
3.1.3 संवाद या कथोपकथन
3.1.4 उद्देश्य का बीज
3.1.5 देशकाल
3.1.6 शैली
3.2 सारांश (Summary)
3.3 शब्दकोश (Keywords)
3.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
3.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- उपन्यास के तत्त्वों की व्याख्या करने हेतु।
- उपन्यास की शैली को समझने हेतु।
- उपन्यास के उद्देश्य को समझने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

वास्तव में देखा जाए तो उपन्यास एक इकाई है। कोई भी विद्वान तत्त्वों का अध्ययन करके उपन्यास नहीं लिख सकता। किंतु आलोचना एवं अध्ययन को सुविधाजनक बनाने के लिए विद्वानों द्वारा विवेचित तत्त्वों का अध्ययन करना भी आवश्यक है। अत: जो उपन्यासकार अपने उपन्यास में तत्त्वों का जितना अधिक ध्यान रखता है, वह उतना ही अधिक सफल होता है।

3.1 उपन्यास के तत्त्व एवं वर्गीकरण

उपन्यास के तत्त्वों की विवेचना करते समय विद्वान एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार उपन्यास के तीन तत्त्व

हैं–(1) कथा, (2) पात्र, (3) घटना समूह।

अधिकांश विद्वानों ने उपन्यास के छह तत्त्व निर्धारित किए हैं। पाश्चात्य विद्वान भी इन छह तत्त्वों को मान्यता देते हैं। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं–

(1) कथावस्तु (Plot), (2) पात्र या चरित्र-चित्रण (Characterisation), (3) संवाद (Dialogue), (4) उद्देश्य (Aim), (5) देश-काल (Atmosphere), (6) शैली (Style)।

उपन्यास के तत्त्व

1. कथावस्तु (कथावस्तु का चयन)
2. पात्र या चरित्र-चित्रण
3. संवाद या कथोपकथन
4. उद्देश्य का बीज
5. देशकाल
6. शैली [कुछ विद्वान 'रस' को शैली के स्थान स्थान पर उपन्यास का तत्व मानते हैं।]

कुछ विद्वान शैली के स्थान पर रस को उपन्यास का तत्त्व मानते हैं। उपन्यासों में मनोभावों के चित्रण से पाठक एक अनुभूतिजन्य मनोदशा में पहुँच जाता है और वह रसास्वादन करने में समर्थ होता है। अत: उपन्यास के तत्त्वों में 'रस' का पर्याप्त महत्त्व है।

अब हम उपन्यास के उपर्युक्त छह तत्त्वों पर क्रमश: विचार करेंगे:

3.1.1 कथावस्तु

उपन्यास की मूल कहानी को कथावस्तु की संज्ञा दी जाती है। मूल कहानी में अनेक छोटी-छोटी घटनाएँ सम्मिलित होती हैं। इन सब घटनाओं के संगठन से ही मूल कथानक की सृष्टि होती है। उपन्यास में कहानी के संगठन का विशेष महत्त्व होता है। उसमें प्रत्येक घटना का महत्त्व होता है। कोई भी घटना ऐसी नहीं होनी चाहिए जिसके निकालने से उपन्यास में कोई दोष आए। अत: घटनाओं की संबद्धता की ओर उपन्यासकार को विशेष ध्यान देना चाहिए।

नोट्स उपन्यास की घटनाएँ मूल कथानक के विकास में सहायक होती हैं। मूल कथानक एक माला के समान होता है जिसमें प्रत्येक घटना अपना मोती के समान महत्त्व रखती है।

किंतु आधुनिक उपन्यासकार यह मानते हैं कि वास्तविक जीवन में घटनाएँ सुसंबंध नहीं होतीं। असंबद्ध घटनाओं का नाम ही जीवन है। अत: आधुनिक उपन्यासों में असंबद्ध एवं बिखरे हुए जीवन के चित्र खींचे जाने लगे हैं। उनमें दैनिक जीवन का वास्तविक परंतु असंबद्ध चित्र मिलता है।

3.1.2 पात्र एवं चरित्र-चित्रण

उपन्यास में कथावस्तु के बाद पात्रों का ही महत्त्व है अत: पात्रों के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार को अधिक सतर्कता से काम लेना चाहिए। पात्र ही कथावस्तु के निर्वाह में सहायक होते हैं। अत: चरित्र-चित्रण सजीव, स्वाभाविक एवं हृदयग्राही होना चाहिए। प्राचीनकाल में उपन्यासकार नायक अथवा नायिका के चरित्र को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित करते थे। अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। किंतु आधुनिक उपन्यासकार मनोविज्ञान से अधिक प्रभावित हुए हैं। आज के पात्र उपन्यासकार के हाथ की कठपुतली न रहकर अपना स्वतंत्र व सशक्त व्यक्तित्व रखते हैं। आधुनिक चरित्र-चित्रण में स्वाभाविक एवं सत्य का अधिक समावेश है। आज प्रत्येक पात्र अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। उनमें गतिशीलता है, स्थिरता नहीं।

उपन्यासों में हमें दो प्रकार के पात्र मिलते हैं–(1) व्यक्तिगत (Individual) (2) टाइप (Type) । वर्ग विशेष का प्रतिनिधि प्रेमचंद के उपन्यासों में अधिकतर द्वितीय प्रकार के चरित्र मिलते हैं।

नोट

क्या आप जानते हैं कुछ आलोचक पात्रों के दो भेद और मानते हैं–आदर्शवादी और यथार्थवादी। 'अति सर्वत्र वर्जयेत' के अनुसार हम उन्हीं उपन्यासों को श्रेष्ठ मान सकते हैं जिनके पात्रों में आदर्श और यथार्थ का संतुलित समन्वय हो।

3.1.3 संवाद या कथोपकथन

वस्तुत: संवाद नाटक का ही एक तत्त्व है, किंतु उपन्यास में भी इसकी आवश्यकता होती है। यह कथा-वस्तु के विकास में तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी सहायक सिद्ध होता है। सम्वाद द्वारा ही पात्रों की आंतरिक मनोवृत्तियों का सफल उद्घाटन होता है। कथोपकथन से उपन्यास में नाटकीयता आ जाती है। उसके प्रयोग में स्वाभाविकता एवं सजीवता भी आ जाती है। उपन्यासकार को इसका प्रयोग पात्रों के देश-काल, शिक्षा, भाषा एवं स्वभाव के अनुकूल करना चाहिए। प्रेमचंद के सम्वादों की यह विशेषता है कि उनकी भाषा पात्रों के स्वभाव के अनुसार परिवर्तित होती जाती है।

3.1.4 उद्देश्य का बीज

प्रत्येक उपन्यास का कुछ न कुछ उद्देश्य हुआ करता है। कुछ उपन्यासों में प्रेमालाप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। किंतु ऐसे उपन्यासों का भी कुछ उद्देश्य होता है। पाठकों का मनोरंजन करना इन उपन्यासों का उद्देश्य हो सकता है। कुछ उपन्यासकारों का मुख उद्देश्य समाज का उत्थान करना होता है। वास्तव में उपन्यास मानव जीवन की व्याख्या है। किंतु वास्तविकता के चित्रण के साथ-साथ उपन्यासकार लोकमंगल स्थापना का भी प्रयत्न करता है। 'कला कला के लिए' न होकर 'कला समाज की भलाई के लिये' होनी चाहिए। उपन्यासकार को जीवन के प्रति अपनी धारणाओं को उपन्यास में व्यक्त करना चाहिए। अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए उपन्यासकार पात्रों के परस्पर विरोधी विचारों का संघर्ष दिखाते हैं और अपने उस विचार की विजय दिखाते हैं जो उनका उद्देश्य होता है। लेखक का उद्देश्य सदैव महान् होना चाहिए। उसे अपने उद्देश्य को पाठकों पर बरबस थोपने का प्रयास नहीं करना चाहिए अन्यथा उसकी रचना में नीरसता और अराजकता आ जाएगी।

3.1.5 देशकाल

उपन्यास में देशकाल से तात्पर्य उस देश (स्थान) और समय से है जिसका वर्णन कलाकार अपनी कृति में करता है। इसे हम वातावरण की संज्ञा भी दे सकते हैं। उपन्यास में स्वाभाविकता लाने के लिए देशकाल का ध्यान करना आवश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल अथवा वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक नहीं अपितु अनिवार्य है। ऐतिहासिक उपन्यासकार को घटना का समय, स्थान एवं अन्य परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई लेखक अकबर को कार में बिठाए और हाथ में एक ट्रांजिस्टर रेडियो दे दे तथा अंग्रेजी भाषा में बात कराए तो यह उसकी मूर्खता का परिचय देगा। अत: उपन्यास में जिस समय अथवा स्थान की घटनाओं का वर्णन किया जाए, लेखक की वहाँ की सामाजिक अवस्था, रहन-सहन एवं अन्य परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान करके ही लिखना चाहिए अन्यथा कालगत अथवा देशगत दोषों के समावेश होने की संभावना रहेगी।

टास्क उपन्यास में देशकाल के महत्त्व को समझाइए।

3.1.6 शैली

कलाकार को आसानी से पहचानने की शैली ही एक कसौटी होती है। उपन्यास की रोचकता शैली की रोचकता पर निर्भर करती है। अत: शैली का रोचक होना अत्यावश्यक है। उपन्यास में व्यक्त श्रेष्ठतम विचार भी रोचक तथा सरस शैली के अभाव में नीरस हो जाते हैं। अत: उपन्यास को सरस शैली में अपनी बात व्यक्त करनी चाहिए। शैली की सरसता के लिए भाषा की सरसता भी आवश्यक है। भाषा का प्रयोग देश-काल तथा परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। पात्रानुकूल तथा भावानुकूल भाषा का होना उपन्यास की श्रेष्ठता का प्रतीक होता है। उक्त शैली के द्वारा लेखक अपने भावों, विचारों एवं मान्यताओं को साधारण पाठकों तक सुगमता से पहुँचा सकता है। अच्छी शैली ही पाठक और लेखक के बीच आत्मीयता स्थापित करती है।

उपन्यासकार की शैली में सजीवता होनी चाहिए। वाक्य योजना प्रवाहमय होनी चाहिए। उसके वर्णन एवं विवरणों में चित्रात्मकता का गुण होना चाहिए। उपन्यास में ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुणों का समावेश होना चाहिए। किंतु उक्त गुणों की संपुष्टि अवसरानुकूल होनी चाहिए। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की शैली में उक्त गुणों का समावेश उचित रीति से हुआ है। उसकी शैली को हम आदर्श शैली मान सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी उपन्यास की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें उक्त विश्लेषित तत्त्वों का किस साफल्य के साथ निर्वाह हुआ है। उक्त तत्त्वों के उपयुक्त प्रतिपादन के अभाव में किसी भी कलाकर की कृति को पूर्ण सफल नहीं माना जा सकता।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. अधिकांश विद्वानों ने उपन्यास के .... तत्त्व निर्धारित किये हैं।
2. उपन्यास की मूल कहानी को .... की संज्ञा दी जाती है।
3. उपन्यास में देशकाल से तात्पर्य उस देश (स्थान) और समय से है, जिसका वर्णन कलाकार अपनी .... में करता है।
4. उपन्यासकार की भाषा शैली में .... होनी चाहिए।

3.2 सारांश (Summary)

- उपन्यास की मूल कहानी को कथावस्तु की संज्ञा दी जाती है। मूल कहानी में अनेक छोटी-छोटी घटनाएँ सम्मिलित होती हैं।
- उपन्यास में कथावस्तु के बाद पात्रों का ही महत्त्व है अत: पात्रों के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार को अधिक सतर्कता से काम लेना चाहिए।
- कथोपकथन से उपन्यास में नाटकीयता आ जाती है। उसके प्रयोग में स्वाभाविकता एवं सजीवता भी आ जाती है।
- उपन्यासकार को जीवन के प्रति अपनी धारणाओं को उपन्यास में व्यक्त करना चाहिए।
- ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल अथवा वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक नहीं अपितु अनिवार्य है।
- भाषा का प्रयोग देशकाल तथा परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। पात्रानुकूल तथा भावानुकूल भाषा का होना उपन्यास की श्रेष्ठता का प्रतीक होता है।

नोट

3.3 शब्दकोश (Keywords)

- कथोपकथन : बातचीत, संवाद
- देशकाल : स्थान और समय

3.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. उपन्यास में कथोपकथन अथवा संवाद कितने महत्त्वपूर्ण हैं, विवेचना कीजिए।
2. उपन्यास की भाषा शैली कैसी होनी चाहिए?
3. उपन्यास के विभिन्न तत्त्वों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. छह
2. कथावस्तु
3. कृति
4. सजीवता

3.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – *रामचन्द्र शुक्ल।*

इकाई–4 : कहानी के तत्त्व एवं वर्गीकरण

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 कहानी के तत्त्व एवं वर्गीकरण

4.1.1 कथावस्तु या कथानक

4.1.2 पात्र एवं चरित्र-चित्रण

4.1.3 संवाद या कथोपकथन

4.1.4 देशकाल एवं वातावरण

4.1.5 भाषा और शैली

4.2 सारांश (Summary)

4.3 शब्दकोश (Keywords)

4.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

4.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- कहानी की कथावस्तु या कथानक को समझने हेतु।
- कहानी में पात्रों की भूमिका में अपने मत प्रस्तुत करने हेतु।
- कहानी में संवादों के महत्त्व को समझने हेतु।
- कहानी के उद्देश्यों की व्याख्या करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

कहानी की परिभाषा के बारे में विद्वानों में परस्पर उतनी सहमति नहीं है, जितनी कहानी के तत्त्वों के निर्धारण में। प्राय: सभी विद्वान कहानी के भी वही छह तत्त्व मानते हैं जो उपन्यास या नाटक के माने जाते हैं। इन छह तत्त्वों के नाम इस प्रकार हैं–

(1) कथावस्तु या कथानक, (2) पात्र या चरित्र-चित्रण, (3) कथोपकथन या संवाद, (4) देशकाल या वातावरण, (5) भाषा और शैली एवं (6) उद्देश्य।

एक-दो विद्वान ने 'भाव' नामक सातवें तत्त्व को भी स्वीकार किया है। किंतु इसे अलग से मानने की आवश्यकता नहीं। यह 'भाव' तत्त्व या तो 'उद्देश्य में समाहित रहता है या फिर इसे सभी छह तत्त्वों में अनुस्यूत देखा जा सकता

नोट

है। यदि इसका अभाव रहा तो सभी तत्त्व नीरस और प्रभावहीन हो जायेंगे। अतः इस तत्त्व की स्थिति उन सभी में है, अलग से यह कोई तत्त्व नहीं है।

4.1 कहानी के तत्त्व एवं वर्गीकरण

कहानी कला के आलोचक डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा ने कहानी के आठ तत्त्व स्वीकार किए हैं। उनके आठ तत्त्वों में प्रथम छह तत्त्व तो वही हैं जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है। शेष दो तत्त्वों के नाम इस प्रकार हैं–

(1) शीर्षक तथा (2) आरंभ और अंत।

किंतु उपर्युक्त दोनों तत्त्वों को पृथक् से मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'शीर्षक' नामक तत्त्व को कथानक का आभास देने वाला होने के कारण उसे कथानक से पृथक् नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार 'आरंभ और अंत' भी कथानक के विकास से द्योतक हैं, अतः इनकी पृथक् से कोई सत्ता नहीं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि कहानी के उपर्युक्त छह तत्त्व स्वीकार करने चाहिए।

अब हम संक्षेप में इन तत्त्वों का विवेचन करेंगे।

4.1.1 कथावस्तु या कथानक

कथावस्तु हम उसे कहते हैं जो कहानी में वर्णित होती है। अर्थात् कहानी में कहानीकार घटनाओं को लड़ी में पिरोकर जो कुछ कहता है उसे कथावस्तु कहा जाता है। कहानीकार या तो पहले से जानी, सभी सत्य घटनाओं के आधार पर कथावस्तु का निर्माण करता है या फिर उसे अपनी कल्पना द्वारा निर्मित करता है। पहले प्रकार की कथावस्तु का आधार इतिहास, पुराण आदि हो सकते हैं और दूसरे प्रकार की कथावस्तु लेखक के अपने अनुभवों के आधार पर तथा उसकी जन्मजात प्रतिभा के आधार पर निर्मित होती है।

नोट्स कहानी में कथावस्तु का महत्त्व सर्वोपरि माना गया है। कहानी की कथावस्तु उपन्यास की कथावस्तु की भाँति वृहत् नहीं होनी चाहिए, अपितु वह संक्षिप्त एवं मार्मिक होनी चाहिए साथ ही उसकी कथावस्तु जीवन और जगत से संबंधित होनी चाहिए।

कथावस्तु के अंग–कथावस्तु के चार अंग माने गये हैं–

(1) शीर्षक

(2) आरंभ

(3) मध्य या चरम बिंदु

(4) अंत।

1. शीर्षक–कहानी के नाम को ही कहानी का शीर्षक कहा जाता है। कहानी में शीर्षक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहानी का शीर्षक संक्षिप्त, आकर्षक, उपयुक्त एवं नवीन होना चाहिए। साथ ही वह कथावस्तु को उजागर करने वाला होना चाहिए।

कहानी का शीर्षक सात प्रकार का हो सकता है–

(1) प्रधान पात्र से संबंधित।

(2) प्रधान घटना से संबंधित।

(3) प्रधान विचार से संबंधित।

(4) स्थान विशेष से संबंधित।

(5) पारिवारिक संबंधों से संबंधित।

(6) कहानी के इतिवृत्त से संबंधित।

(7) कहानी के अंत से संबंधित।

2. आरंभ–कहानी का आरंभ भाग ही कहानी की सफलता का मापदंड होता है। कहानी का आरंभ रोचक, प्रभावोत्पादक एवं औत्सुक्य गुण संपन्न होना चाहिए। इसमें कहानी की प्रधान घटना, समस्या, पात्र अथवा वर्ण्य विषय की ओर संकेत होना चाहिए।

3. मध्य या चरम बिंदु–कहानी के मध्य भाग को कहानी का मध्य या चरम बिंदु कहा जाता है। यही कहानी का मुख्य भाग माना जाता है।

इसमें घटना, पात्रों का चरित्र एवं अंतर्द्वंद्व आदि का समावेश रहता है। इसमें बड़ी ही सावधानी से कहानी का विस्तार एवं संकुचन किया जाता है।

4. अंत–कहानी में उसके अंत का बड़ा महत्त्व है, इसका अंत कौतूहलपूर्ण, प्रभावोत्पादक एवं मर्मस्पर्शी होना चाहिए।

4.1.2 पात्र एवं चरित्र-चित्रण

पात्र या चरित्र-चित्रण का भी कहानी में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहानी की कथावस्तु पात्रों के द्वारा ही अग्रसर होती है, अत: वस्तु की प्रकृति कैसी भी हो, कहानी का स्वरूप या ढाँचा कैसा भी हो, पात्र की किसी-न-किसी रूप में आवश्यकता रहेगी ही।

क्या आप जानते हैं बिना पात्र के कहानी की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इतना अवश्य है कि कहानी में पात्रों की संख्या बहुत सीमित होती है। कहानी आकृति से प्राय: एक लघु और प्रकृति से एक कोमल रचना होती है, अत: वह उपन्यास में सुलभ घटनाओं व पात्रों का भार वहन नहीं कर सकती।

घटना प्रधान, चरित्र-प्रधान, वातावरण प्रधान सभी प्रकार की कहानियों में पात्रों का चरित्र-चित्रण, आवश्यकतानुसार होता है, किंतु चरित्र प्रधान कहानी में चरित्रों के चित्रण का महत्त्व सबसे अधिक होता है।

पात्रों के चरित्र के निरूपण की तीन प्रतिष्ठित शैलियाँ या पद्धतियाँ हैं–

(1) तथ्य-कथानक या वर्णनात्मक, (2) संवादात्मक या अभिनयात्मक और (3) संकेतात्मक या व्यंजनात्मक। चारित्रिक विशेषताओं का लेखक द्वारा सीधा कथन या वर्णन कलात्मक नहीं समझा जाता, यदा-कदा इसका प्रयोग हो सकता है पर सर्वत्र यही पद्धति लेखक की चरित्र-चित्रण कला की असमर्थता की द्योतक है। संवादात्मक पद्धति अपेक्षाकृत उत्तम है, पर उसकी अपनी मर्यादा है; संवादात्मकता का आद्यन्त निर्वाह तो नाटक की अपनी पद्धति है, कहानी की नहीं। वास्तव में चरित्र-चित्रण की कलात्मक पद्धति संकेतात्मक या व्यंजनात्मक ही समझी जा सकती है। घटना-क्रम अथवा कार्य-व्यापार द्वारा पात्रों का मूल चरित्र स्वत: ही प्रकट होता चले। न लेखक अपनी ओर से बल दे और न पात्रों के मुख से ही किसी गुणावगुण का अनुचित या अमर्यादित बखान हो। चरित्र-चित्रण में सांकेतिकता या ध्वनि पद्धति की पद्धति सर्वोत्तम मानी जाती है।

नोट

पात्र दो प्रकार के होते हैं—वर्ग-पात्र और व्यक्ति-पात्र। वर्ग पात्र एक व्यापक वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं जो अपनी निजी या एकान्त नवीन विशेषताएँ नहीं रखते। इसी कारण वे तुरंत समझ में आ जाते हैं—मन में इस प्रकार जल्दी उतर जाते हैं। ऐसे पात्रों से सामान्यत: शीघ्र ही पाठकों का तादात्म्य भी हो जाता है। दूसरे प्रकार के व्यक्ति पात्र होते हैं, इनकी रुचि में एक असाधारणता ऐसी होती है, जो सामान्यत: सभी में दिखाई देती है। जो लेखक मानव मन का गहरा पारखी और मनोविज्ञान का कुशल जानकार होता है, वह ऐसे व्यक्ति पात्रों का चित्रण करने में सफल होता है। प्रसाद जी ने अधिकांशत: ऐसे पात्रों की रचना अपनी कहानियों में की है। उनकी 'पुरस्कार' कहानी की नायिका 'मधूलिका' ऐसी ही पात्र है। प्रेमचंद की कहानियों में प्राय: पहले प्रकार के वर्ग-पात्र देखने को मिलते हैं। उनकी 'बड़े भाई साहब' कहानी के बड़े भाई हिंदू परिवार में जैसे बड़े भाई होते हैं, प्राय: उन्हीं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

4.1.3 संवाद या कथोपकथन

संवाद नाटक के तो प्राण माने जाते हैं अर्थात् बिना संवादों के नाटक का अस्तित्व संभव नहीं है, किंतु कहानी में उसकी स्थिति ऐसी अनिवार्य नहीं। इतना होने पर भी 'संवाद' को कहानी का तीसरा तत्त्व माना गया है, अत: अनिवार्य न होते हुए भी यह आवश्यक तो है ही। कहानीकार सब कुछ पात्र व पाठक के बीच में आकर स्वयं कहता चले—यह बात पाठकों को बहुत रुचिकर नहीं लगती। पाठक पात्रों के साथ घनिष्ठता स्थापित करना चाहते हैं, उनके कार्यकलापों को प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, उनकी बात अपने ही कान से सुनना चाहते हैं। इस दृष्टि से कहानी में पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप या संवाद का विधान कहानी की रोचकता व प्रभावशीलता के लिए बहुत आवश्यक है। परंतु आरंभ से लेकर अंत तक संवाद से ही काम नहीं चल पाता, क्योंकि कहानी नाटक नहीं है जो केवल संवादों में ही लिखी हो। कहानी में यत्र-तत्र संवादों के प्रयोग के साथ पात्रों को कार्य-व्यापारों की धारा में बहना भी आवश्यक होता है।

अच्छे संवादों की कुछ विशेषताएँ होती हैं—संवाद संक्षिप्त, सरल, सार्थक, स्वाभाविक—पात्रों की आयु, पद, व्यवसाय आदि के अनुरूप हों, कथा को विकसित करने वाले हों एवं पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले हों। इन गुणों व विशेषताओं से युक्त संवाद ही रोचक होते हैं और कहानी के प्रभाव को अभिवृद्ध करते हैं। संवादों में लंबी भाषणबाजी या उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति शैथिल्य उत्पन्न कर देती है।

4.1.4 देशकाल एवं वातावरण

प्रत्येक कहानी किसी-न-किसी देश या काल से संबंधित रहती है। कहानी को यथार्थता का रंग देने के लिए यह आवश्यक है कि देश और काल संबंधी तथ्य या विवरण यथासंभव सही प्रस्तुत किये जायें। वर्तमान जीवन, देश व काल से तो लेखक प्राय: सुपरिचित रहते ही हैं। ऐतिहासिक कहानियों में, उसमें चित्रित युग के वातावरण पर विचार करना आवश्यक होता है। ऐतिहासिक युगों के जीवन, वेश-भूषा, आचार-विचार, रीति-नीति आदि का सम्यक् व निर्भ्रांत ज्ञान हुए बिना उन युगों से संबंधित कहानियाँ लिखना अनाधिकार चेष्टा है। जहाँ इतिहास स्वयं मौन हो वहीं शृंखला जोड़ने की दृष्टि से तर्क सम्मत कल्पना की जा सकती है। गृहीत ऐतिहासिक वृत्त में कलात्मक चमत्कार या प्रभाव वृद्धि के लिए प्रसंगों या घटनाओं का थोड़ा-बहुत व्यतिक्रम भी मान्य समझा जा सकता है—यदि सत्य की हानि न हो और अर्थ का अनर्थ न हो। ऐतिहासिक सत्य को साहित्य में व्यापक सत्य बनाया जाता है। इस प्रकार कहानी में इतिहास शुष्क या नीरस न रहकर सरस और सजीव हो जाता है। जब हम चतुरसेन की कहानी, 'दु:खवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' नामक ऐतिहासिक कहानी पढ़ते हैं तो ऐसा नहीं लगता है कि डॉ० ईश्वरीप्रसाद लिखित भारतवर्ष के इतिहास के पृष्ठ पढ़ रहे हैं, बल्कि हमें तो ऐसा लगता है कि हम स्वयं उस मुगल युग में साँस ले रहे हैं। इस प्रकार कहानी में इतिहास का रस मिलने लगता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. कथावस्तु के आधार पर कहानी के चार अंग माने गए हैं–शीर्षक, आरंभ, ... एवं अन्त।
2. 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' नामक ऐतिहासिक कहानी .... ने लिखी है।
3. 'बड़े भाई साहब' नामक कहानी .... ने लिखी है।

टास्क कहानी में देशकाल या वातावरण कितना महत्त्व रखता है, समझाइए।

4.1.5 भाषा और शैली

भाषा और शैली का भी कहानी में बड़ा महत्त्व है। कहानी जितनी सशक्त भाषा में लिखी जायेगी, उतनी ही कहानीकार को सफलता मिलने की गुंजाइश रहेगी। मान लीजिए, कहानीकार के पास कहने के लिए बड़ी सुंदर और सशक्त कथावस्तु है, लेकिन इतना होने पर भी यदि वह उसे प्रभावोत्पादक शैली में और सशक्त भाषा में नहीं रख पाया तो उसकी कहानी सफल नहीं हो पायेगी और यह एक प्रकार से प्रभावहीन ही रह जाएगी। अनेक बार ऐसा भी होता है कि कहानीकार के पास कहने के लिए कोई बड़ी चीज या कथा नहीं होती, किंतु उसके पास कहने का ढंग (शैली या स्टाइल) ऐसा प्रभावोत्पादक और ऐसा सशक्त और आकर्षक होता है कि पाठक उस कहानी से प्रभावित हो उठता है। अतः यह स्पष्ट है कि कहानी में भाषा और शैली का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

कहानी की भाषा शैली के बारे में कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। जैसे कहानी की भाषा सरल, सजीव और साहित्यिक होनी चाहिए। साथ ही उसकी शैली आकर्षक और पाठकों के मन को बाँध लेने वाली होनी चाहिए। शैली की दृष्टि से कई प्रकार की कहानियाँ होती हैं, जिनमें मुख्य ये हैं–(1) वर्णनात्मक, (2) घटनात्मक, (3) संवादात्मक, (4) डायरी शैली, (5) पत्रात्मक शैली और (6) आत्मकथन शैली।

वर्णनात्मक शैली में कहानीकार घटनाओं, पात्रों, वातावरण आदि का तटस्थ भाव से वर्णन करता है। घटनात्मक भी पहले प्रकार की होती है, अंतर केवल यही है कि घटनात्मक में लेखक घटनाओं का ही वर्णन करता है, जबकि वर्णनात्मक में वह घटनाओं के अतिरिक्त पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का, वातावरण आदि का भी वर्णन करता है। संवादात्मक शैली की कहानी में संवादों का आधिक्य होता है। प्रसाद जी की 'आकाशदीप' ऐसी ही कहानी है। डायरी शैली की कहानी ऐसी होती है जैसे हम किसी की डायरी के कुछ पृष्ठ पढ़ रहे हों। यह रिपोर्ताज जैसी लगती है। पत्रात्मक शैली में लेखक पत्रों के आधार पर कहानी कहता है। आत्मकथन शैली में लेखक स्वयं मुख्य पात्र के रूप में अपनी ही कहानी को कहता है।

हर साहित्यिक कृति की रचना करते समय उसके रचनाकार के मन में कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है, अर्थात् वह रचना क्यों कर रहा है? इसका उत्तर उस रचना में अवश्य रहता है। अतः प्रत्येक कृति एक न एक उद्देश्य अपने में अवश्य छिपाए होती है। उद्देश्यविहीन रचना को रचना समझना भूल होगी। हाँ, यह बात अवश्य हो सकती है कि उस रचना का उद्देश्य मात्र मनोरंजन हो, किसी आदर्श की स्थापना या नीति अथवा उपदेश का कथन न हो, किंतु जैसा कि कविवर मैथिलीशरण गुप्त की उक्ति है–

> **"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए**
> **उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।"**

नोट

कहानी में मात्र मनोरंजन ही नहीं रहता अपितु किसी आदर्श की स्थापना या किसी पात्र के विशेष गुण का उद्घाटन कहानी का उद्देश्य हो सकता है। यों तो किसी भी कला-कृति का सर्वोच्च उद्देश्य शुद्ध आनंद ही होता है, पर आज की कहानी के सामने अपना एक स्पष्ट उद्देश्य है। शिक्षा, मनोरंजन व उपदेश तो कथा-साहित्य का सामान्य उद्देश्य है। घटनाओं से जुड़ी हुई रसात्मक इतिवृत्त धारा अब कहानी का रूप नहीं रहा। कहानी अब सिमट गई है। कहानी के बहाव पर दृष्टि डालने पर प्रकट होता है कि अब मनो-रहस्यों को खोलने और चरित्रों के गुण-दोषों का उद्घाटन करने के लिए एक छोटी-सी वृत्ति-भूमि पर जीवन के चित्र या झलकियाँ देना ही प्राय: पर्याप्त समझा जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति जितनी ही प्रभावोत्पादक और मार्मिक ढंग से कर दी जाती है, उतनी ही कहानी सफल समझी जाती है। अत: कहानी में उद्देश्य तत्त्व का भी अपना विशेष महत्त्व है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. 'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए...' पंक्तियाँ हैं–
   (अ) जयशंकर प्रसाद (ब) मैथिलीशरण गुप्त
   (स) रामधारी सिंह 'दिनकर' (द) इनमें से कोई नहीं
5. 'आकशदीप' कहानी के लेखक कौन हैं?
   (अ) जयशंकर प्रसाद (ब) मैथिलीशरण गुप्त
   (स) प्रेमचंद (द) इनमें से कोई नहीं
6. आत्मकथन शैली में लेखक मुख्य पात्र के रूप में किसकी कहानी लिखता है–
   (अ) स्वयं की (ब) प्रेमचंद की
   (स) मैथिलीशरण गुप्त की (द) इनमें से कोई नहीं

4.2 सारांश (Summary)

- कहानी में कहानीकार घटनाओं को लड़ी में पिरोकर जो कुछ कहता है उसे कथावस्तु कहा जाता है।
- पात्र या चरित्र-चित्रण का भी कहानी में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहानी की कथावस्तु पात्रों के द्वारा ही अग्रसर होती है।
- 'संवाद' को कहानी का तीसरा तत्त्व माना गया है।
- कहानी को यथार्थता का रंग देने के लिए यह आवश्यक है कि देश और काल संबंधी तथ्य या विवरण यथासंभव सही प्रस्तुत किये जायें।
- कहानी की भाषा सरल, सजीव और साहित्यिक होनी चाहिए। साथ ही उसकी शैली आकर्षक और पाठकों के मन को बाँध लेने वाली होनी चाहिए।
- कहानी में मात्र मनोरंजन ही नहीं रहता अपितु किसी आदर्श की स्थापना या किसी पात्र के विशेष गुण का उद्घाटन कहानी का उद्देश्य हो सकता है।

4.3 शब्दकोश (Keywords)

- कथानक : छोटी कथा, रचना का आदि से अंत तक सामूहिक रूप, कथा-सार।
- मर्म : भेद, रहस्य (जैसे–हृदय का मर्म), शरीर का अत्यंत नाजुक स्थान (जैसे–मर्म पर आघात करना)

4.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. कहानी से आप क्या समझते हैं?
2. कहानी में संवादों की महत्ता का वर्णन कीजिए।
3. कहानी के विभिन्न तत्त्वों की व्याख्या कीजिए।
4. कहानी के उद्देश्यों को समझाइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. मध्य 2. चतुरसेन 3. प्रेमचंद 4. (ब)

5. (अ) 6. (अ)।

4.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – *आचार्य रामचंद्र शुक्ल।*

नोट

इकाई–5 : नाटक के तत्त्व एवं वर्गीकरण

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 नाटक के तत्त्व एवं वर्गीकरण

5.1.1 कथावस्तु

5.1.2 पात्र योजना एवं चरित्र-चित्रण

5.1.3 कथोपकथन एवं संवाद

5.1.4 भाषा-शैली

5.1.5 देशकाल एवं वातावरण

5.1.6 नाटकीयता एवं अभिनेयता

5.1.7 रस

5.2 सारांश (Summary)

5.3 शब्दकोश (Keywords)

5.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

5.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- नाटक के विभिन्न तत्त्वों को समझने हेतु।
- पाश्चात्य आचार्यों द्वारा बताये नाटक के विभिन्न तत्त्वों को जानने हेतु।
- नाटकीय संवादों के भेद समझने हेतु।
- अभिनय के विभिन्न प्रकारों को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

रंगमंच पर अभिनय की जा सकने योग्य रचना नाटक कहलाती है। नाटक की पूर्ण सफलता पात्रों की सजीवता पर निर्भर करती है। नाटक के विभिन्न तत्त्वों में कथावस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल एवं वातावरण, भाषा शैली आदि को शामिल किया जाता है। भारतीय नाटकों में नायक कथा को कल की ओर ले जाता है। दर्शक उसी के विकास-उत्थान में रुचि रखते हैं। जबकि पाश्चात्य नाटकों में नायक परिस्थितियों के चक्र में घूमता रहता है।

नोट

5.1 नाटक के तत्त्व एवं वर्गीकरण

(क) भारतीय दृष्टिकोण से–तत्त्व नाटक के स्वरूप का निर्माण करते हैं। भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक तत्त्व पृथक्-पृथक् माने हैं। भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्व माने हैं–वस्तु, नेता और रस। परंतु अनुकृति को भी विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। दशरूपककार ने लिखा है कि 'अवस्थानुकृति नाट्यम' अर्थात् विविध अवस्थाओं की अनुकृति नाट्य है। इस कथन से नाटक के अभिनय तत्त्व का संकेत प्राप्त होता है। इसके साथ ही कतिपय आचार्यों ने वृत्ति तत्त्व को भी स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र में वृत्तियों को 'नाट्य भारत' कहा गया है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों के अनुसार नाटक के पाँच तत्त्व हैं–(1) वस्तु, (2) नेता, (3), (4) अभिनय और (5) वृत्ति।

संस्कृत के नाटक के तीन तत्त्व माने गए हैं–

'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः'–दशरूपक।

नोट्स वस्तु, नेता और रस–ये तीनों तत्त्व प्रबंध काव्यों के सामान्य सिद्धांत हैं किंतु गठन अभिव्यक्ति तथा रचना विधान के भेद से ही नाट्य कला और काव्य कला में अंतर होता है।

नाटक में रंगमंच, संवाद एवं दृश्य विधान की अतिरिक्त आवश्यकता होती है।

(ख) पाश्चात्य दृष्टिकोण से–पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक के छः तत्त्व माने हैं–(1) कथावस्तु (2) पात्र एवं चरित्र-चित्रण, (3) संवाद एवं कथोपकथन, (4) देशकाल एवं वातावरण, (5) शैली एवं भाषा, (6) उद्देश्य।

(ग) नाटकीय तत्त्वों का समन्वित रूप–पूर्व और पश्चिम के आचार्यों में नाटकीय तत्त्वों से संबंधित कोई सैद्धांतिक अंतर नहीं है। केवल दोनों मनोवृत्तियों में अंतर होने से भारतीय मनीषियों ने इस पर अधिक जोर दिया है और पश्चिमी विद्वानों ने उद्देश्य में समस्या को महत्त्व प्रदान किया है। कहने का आशय यह है कि भारतीय विचार रसपरक है और पाश्चात्य दृष्टि उद्देश्यपरक है। ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि भारतीय तत्त्वों में पाश्चात्य तत्त्वों का भी सम्मिश्रण है। उसे इस प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) वस्तु (कथावस्तु),

(2) नायक (पात्र, कथोपकथन तथा देशकाल),

(3) रस (शैली और उद्देश्य)।

उपर्युक्त प्रकार के विवेचन का अध्ययन करने के पश्चात् निम्नलिखित तत्त्व स्पष्ट होते हैं–(1) कथावस्तु, (2) पात्र योजना एवं चरित्र-चित्रण, (3) कथोपकथन एवं संवाद, (4) भाषा-शैली, (5) देशकाल एवं वातावरण, (6) नाटकीयता एवं अभिनेयता, (7) रस और (8) उद्देश्य।

अब हम भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से संक्षेप में विवेचन करेंगे।

5.1.1 कथावस्तु

नाटक के इस तत्त्व को वस्तु, कथानक या इतिवृत्त भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इसी को प्लॉट (plot) कहते हैं। दृश्य काव्य के कथानक या कहानी को कथावस्तु कहा जाता है। भारतीय मनीषियों ने अंतिम फल की दृष्टि से वस्तु के दो भेद किए हैं–

(1) आधिकारिक कथा, (2) प्रासंगिक कथा।

नोट

आधिकारिक कथा—"अधिकार: फलस्वाभ्यम् अधिकारी चतत्प्रभू" अर्थात् फल का स्वामित्व अधिकार है और उस फल का प्राप्तकर्ता अधिकारी कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि फल प्राप्ति के आधिकारी अर्थात् नायक के जीवन से निकटतम संबंधित कथा आधिकारिक कहलाती है। यह कथा आरंभ से अंत तक चलती है।

प्रासंगिक कथा—आधिकारिक कथा को फल-प्राप्ति की ओर उन्मुख करने वाली कथा प्रासंगिक कहलाती है। यह उसके कार्य व्यापार एवं विकास में सहायक होती है। यह समुंद्रोमुखी किसी सरिता में मिलने वाली उपसरिताओं की भाँति एक या अनेक होती हैं।

भारतीय नाटकों में कथावस्तु की ऐतिहासिकता के आधार पर तीन भेद किये गये हैं—

(1) प्रख्यात, (2) उत्पाद्य,

(3) मिश्र।

(1) प्रख्यात—प्रख्यात कथा ऐतिहासिक एवं पुराण प्रसिद्ध कथा होती है। नाटककार इसमें परिवर्तन नहीं कर सकता है।

(2) उत्पाद्य—इसके विषय में 'उत्पाद्य कविकल्पित'। अतएव इसका कथानक कल्पित होता है। इसका प्रयोग केवल प्रकरण, भाषा, प्रहसन आदि कुछ रूपकों में ही शास्त्रोक्त है।

(3) मिश्र—यह कथा किसी प्रख्यात कथा के आधार पर कवि कल्पना द्वारा नवीन रूप कथा होती है।

कथावस्तु के भारतीय दृष्टिकोण से स्थूल रूप से दो भेद माने गये हैं—

(1) दृश्य, (2) सूच्य।

(1) दृश्य कथावस्तु—वह अंक तथा घटना व्यापार जिसे पात्रों के माध्यम से रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है, वह दृश्य कथावस्तु होती है।

(2) सूच्य कथावस्तु—नाटक में कुछ ऐसी बातें भी रहती हैं जिनका दिखाना या तो रंगमंच पर असंभव होता है या सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अनुचित होता है, उन्हें सूच्य रीति से प्रस्तुत किया जाता है। इसी को सूच्य कथावस्तु की संज्ञा प्रदान की जाती है। सूच्य कथावस्तु को प्रस्तुत करने के पाँच भेद माने गये हैं—

क्या आप जानते हैं नाटक में कुछ ऐसी बातें भी रहती हैं जिनका दिखाना या तो रंगमंच पर असंभव होता है या सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अनुचित होता है, उन्हें सूच्य रीति से प्रस्तुत किया जाता है।

(क) कार्य-अवस्थाएँ

प्रारंभ—प्रधान फल की उत्सुकता को प्रारंभ कहते हैं।

प्रयत्न—फल प्राप्ति की इच्छा के लिए प्रयत्न किया जाता है। दुष्यंत का शकुंतला के विषय में सलाह करना प्रयत्न है।

प्राप्त्याशा—जब नायक फल प्राप्ति की आशा करने लगता है और उसे आशा पूर्ण होने की संभावना हो जाती है।

नियताप्ति—जब फल की प्राप्ति की आशा-सी हो जाती है तो वह निश्चय का रूप धारण कर लेती है यही नियताप्ति है।

फलागम—इस अवस्था में फल की प्राप्ति हो जाती है। नायक नायिका का मिलन हो जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने संघर्ष को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उनके अनुसार भी कथानक की पाँच अवस्थाएँ हैं–

आरंभ–आरंभ में विरोध उत्पन्न करने वाली कुछ घटनाएँ होती हैं।

विकास–इसके पश्चात् विरोध या संघर्ष का विकास होता है।

चरमसीमा–इसमें किसी एक पक्ष की विजय का आरंभ होता है।

उतार–इस अवस्था में विजयी दल की विजय निश्चित हो जाती है।

अंत या समाप्ति–इस अवस्था में विरोध या संघर्ष की समाप्ति हो जाती है।

(ख) अर्थ-प्रकृतियाँ

अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के उन विभागों को कहते हैं जो नाटक के प्रयोजन फल अथवा लक्ष्य की गतिविधि की सूचक होती हैं। अर्थ-प्रकृतियों के पाँच भेद हैं–

बीज–बीज से कार्य की उत्पत्ति होती है। यही मुख्य फल का हेतु है।

बिंदु–बिंदु से कार्य का प्रसरण होता है। समाप्त होने वाली अवांतर कथा को प्रधान कथा से जोड़ देना ही इसका मुख्य कार्य है।

पताका–यह प्रासंगिक कथावस्तु का भेद है जो अधिकाधिक कथानक को गति प्रदान करती है और दूर तक अधिकाधिक कथा का साथ देती है।

प्रकरी–वह प्रासंगिक कथावस्तु है जो आधिकारिक कथानक को फल की प्राप्ति की ओर उन्मुख करके बीच में ही समाप्त हो जाती है।

कार्य–कार्य नाटक का प्रधान साध्य है। इसी के हेतु समस्त उपकरण एकत्र किए जाते हैं।

(ग) संधियाँ

अर्थ-प्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं को जोड़ने के लिए आचार्यों ने पंच संधियों की व्यवस्था की है। उनके नाम इस प्रकार हैं–

(1) मुख संधि, (2) प्रतिमुख संधि, (3) गर्भ संधि, (4) विमर्श-संधि और (5) निर्वहण संधि।

मुख-संधि–मुख-संधि में प्रारंभ अवस्था और बीज अर्थ-प्रकृति का संयोग होता है।

प्रतिमुख संधि–प्रयत्न अवस्था और बिंदु अर्थ प्रकृति का मेल प्रतिमुख संधि में होता है।

गर्भ संधि–प्राप्त्याशा और पताका के योग को गर्भ संधि कहते हैं।

विमर्श संधि–नियताप्ति और प्रकरी का संयोग विमर्श-संधि में होता है।

निर्वहण-संधि–फलागम और कार्य के संयोग को निर्वहण-संधि कहते हैं।

अर्थ प्रकृतियाँ वस्तु के तत्त्वों से, अवस्थाएँ कार्य व्यापार से और संधियाँ रूपक-रचना के विभागों से संबंध रखती हैं।

भारतीय आचार्यों ने कथोपकथन के आधार पर कथावस्तु के तीन भेद माने हैं–

(1) सर्वश्राव्य,

(2) नियतश्राव्य,

(3) अश्राव्य।

नोट

किसी पात्र की उक्ति को रंगशाला में उपस्थित यदि सब पात्र सुनें तो यह **'सर्वश्राव्य'** है, यदि उनमें कुछ ही सुनें तो **'नियतश्राव्य'** कहते हैं। परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह इस प्रकार कोई बात कहता है, मानो वह किसी को सुनाना नहीं चाहता और न कोई उनकी बात सुनता ही है, ऐसे कथन को 'अश्राव्य', 'स्वगत' या 'आत्मगत' कहते हैं। 'नियतश्राव्य' के भी दो भेद किए गए हैं—जनांतिक और अपवारित। आधुनिक विचार के अनुसार नाटकों में स्वगत-कथन कृत्रिम माना जाने लगा है, क्योंकि पात्र रंगशाला मे उपस्थित होते हुए भी सुनी-अनसुनी करते हुए मान लिये जाते हैं यद्यपि सामाजिक (दर्शक) दूर बैठे हुए भी सुन लेते हैं। यही बात नियतश्राव्य और उसके भेदों के विषय में भी है। यदि स्वगत-कथन की आवश्यकता प्रतीत होती है तो कोई पात्र वैसी स्थिति में ही अपने मन की बात व्यक्त करता हुआ दिखाया जाता है, जब रंगमंच पर उसके अतिरिक्त कोई पात्र नहीं रहता।

5.1.2 पात्र योजना एवं चरित्र-चित्रण

पात्रों का चरित्र-चित्रण नाट्य का सर्वप्रमुख एवं स्थायी तत्त्व है। नाटक की पूर्ण सफलता पात्रों की सजीवता उनकी वास्तविकता पर ही निर्भर रहती है। इस तत्त्व के संबंध में भी कथावस्तु की तरह पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोणों में विभिन्नता नहीं है। इस संबंध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया जाता है। संस्कृत नाटक-सिद्धांतों में 'नेता' के अंतर्गत नायक-नायिका, अन्य पात्र तथा उसके चरित्रों का अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जायेगा। नेता अथवा नायक वह प्रधान पुरुष पात्र है जो कथा को फल की ओर ले जाता है। दर्शक-पाठक उसी के विकास, उत्थान आदि में रुचि रखते हैं। यह पात्र कभी पुरुष और कभी नारी के रूप में होता है। पुरुष प्रमुख पात्र को नायक कहते हैं और नारी प्रमुख पात्र को नायिका कहते हैं। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में नायक कोई भी हो सकता है। वह साधारण स्थिति का व्यक्ति भी हो सकता है और असाधारण भी। इसके विपरीत पाश्चात्य नाटकों में नायक परिस्थितियों के चक्र में घूमता रहता है। इसके साथ-साथ हमको यह भी समझ लेना चाहिये कि भारतीय नाटक सुखांत होते हैं। इसलिए नायक की विजय होना अनिवार्य होता है। नायक में अनेक गुणों का समन्वय होना चाहिए। विजय जिस नायक के लिए आवश्यक हो वह असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति और प्रतापी तो होगा ही, इसके साथ-साथ उत्साही, कलावान्, शास्त्रज्ञ, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए। उसमें विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवंद, शुचि, रक्तलोक, वाग्मी, रूढिवंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान्, स्मृति-संपन्न का भी गुण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोण में एक अंतर यह भी है कि भारतीय नायक के भेद होते हैं परंतु पाश्चात्य नायकों के भेद नहीं होते हैं। भारतीय परंपरा के आधार पर नायक चार प्रकार के माने गए हैं—

(1) धीरोदात्त नायक (2) धीरललित नायक, (3) धीर प्रशांत नायक और (4) धीरोद्धत नायक।

(1) धीरोदात्त नायक—धीरोदात्त ही सर्वोत्तम तथा प्रधान नायक होता है जिसके विशेष लक्षण हैं—विनीत, मधुर, त्यागी, दया, प्रियवंद, शुचि, रक्त-लोक, वाग्मी, रूढ़िवंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान, स्मृत्ति संपन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रज्ञ, आत्म-सम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक पुरुष ही इस श्रेणी का अधिकारी हो सकता है। भारतीय दृष्टि से उच्च संस्कृति तथा शील ही नायक के मुख्य गुण हैं। अधिकांश रूप से इस प्रकार का नायक राजा या देवता होता है।

(2) धीरललित नायक—धीरललित नायक कोमल स्वभाव का, सुख का अन्वेषक, कलावान एवं निश्चिन्त प्रकृति का होता है। शृंगार प्रधान नाटक इसी प्रकार के होते हैं। दुष्यंत में धीरललित नायक के सभी गुण पाये जाते हैं।

(3) धीर प्रशांत नायक—यह नायक शांत स्वभाव का होता है। इसमें नायक के सभी उचित गुणों का समावेश होता है। यह नायक प्राय: ब्राह्मण या वैश्य होता है। जैसे 'मालती माधव' में माधव, 'मृच्च कटिक' में चारुदेव आदि।

(4) धीरोद्धत नायक—यह मायावी, उग्रचपल, अहंकार और दर्प से पूर्ण तथा आत्मश्लाघी होता है। इसे अपने बल तथा वैभव का बड़ा गर्व रहता है। साहित्य में इस प्रकार के नायक बहुत कम मिलते हैं। गौण पात्रों तथा प्रतिनायकों में अवश्य ही इस प्रकार के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। रावण, परशुराम, भीमसेनादि इसके उदाहरण हैं।

नाटक में चरित्र-चित्रण निम्न प्रकार से होता है–

(1) कथोपकथन द्वारा–जब पात्र आपस में वार्तालाप करते हैं तब हम पात्रों की बातचीत के ढंग से उनके चरित्र का अनुमान लगा सकते हैं। जब वे एक-दूसरे के विषय पर बातचीत करते हैं तो वे स्वयं दूसरों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित करते हैं।

(2) कार्यकलाप–"मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं के उद्‌घाटन का एक प्रमुख साधन है क्योंकि हम मनुष्य की उच्चता और नीचता का आमुख उसके कार्यों द्वारा ही कर सकते हैं। चरित्र-चित्रण की उत्कृष्टता पर ही नाटक की सफलता आधारित है।"

(3) स्वगत-कथन–एकांत में जब मनुष्य अपने आप सोचता है और अपने मन के विचारों को अभिव्यक्त करता है तो वह स्वयं ही अपनी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित कर देता है। आंतरिक संघर्ष का चित्रण भी स्वगत कथन द्वारा हो सकता है।

नायिका–प्राय: नायक की पत्नी या प्रिया को नायिका कहा जाता है परंतु पाश्चात्य नाटक में मुख्य कथा को आगे ले चलने में जो नारी पात्र सबसे अधिक सहायक होता है अथवा जिस नारी पात्र को नाटक का अंतिम फल प्राप्त होता है वह भी नायिका कहलाती है। इस प्रकार की नायिका रूपवती, गुण, शील, यौवन, मधुरता और शक्ति से युक्त, प्रसन्न, स्नेहपूर्ण, मधुर, स्निग्ध, भावपूर्ण मधुर वचन बोलने वाली, योग्य, क्षोभरहित, लय-ताल का ज्ञान रखने वाली और रसयुक्त होती है। नायिका के रूप और गुणों का आकर्षण नायक के लिए महत्त्वपूर्ण है तथा नाटक की कथावस्तु के विकास के लिए प्रेरणा रूप होता है। इसके अतिरिक्त अन्य सामान्य महत्त्व के पात्र नाटक में काम करते हैं।

5.1.3 कथोपकथन एवं संवाद

नाटक के पात्रों का पारस्परिक संलाप कथोपकथन कहलाता है। नाटक का सारा इतिवृत्त कथोपकथन के द्वारा ही नदी में तरंगों की भाँति आगे बढ़ता है। कथोपकथन नाट्‌यकला की आत्मा है। नाटक में कथोपकथन का उद्देश्य होता है। नाटक के पात्रों के भावों, विचारों, प्रवृत्तियों आदि के विकास और विरोध का ज्ञान कराना होता है। पाश्चात्य आचार्य नाटक के इस तत्त्व पर विशेष बल देते हैं। इससे अभिनय में सप्राणता, स्फूर्तिमयता और गतिमयता आती है। नाटक की उत्कृष्टता बहुत कुछ कथोपकथन विधान पर निर्भर है। यदि पात्रों के कथन चुस्त सव्यापार उपयुक्त भाषा में आबद्ध और छोटे-छोटे हैं तो सामाजिक अनवरत् आकृष्ट रहते हैं। बड़े-बड़े उपदेशात्मक कथन नाटक में नीरसता एवं शिथिलता उत्पन्न कर देते हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में इन कथोपकथनों की विशेष उपादेयता है। कथोपकथन के द्वारा चरित्र-चित्रण की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। प्रथम तो कुछ पात्रों के आपस में वार्तालाप द्वारा उनके जीवन-चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है और दूसरे जब कोई पात्र किसी दूसरे पात्र का वर्णन करता है या चित्रण करता है तब उस चित्रण या उल्लेख द्वारा अन्य पात्र का परिचय प्राप्त होता है।

नाटकीय संवादों के तीन भेद होते हैं–

(अ) सर्वश्राव्य,

(ब) नियत श्राव्य,

(स) अश्राव्य।

(अ) सर्वश्राव्य–जो बात इस प्रकार से कही जाए मानो उसे रंगमंच पर उपस्थित सब लोग सुन सकते हैं। इसे प्रकाश भी कहते हैं।

(ब) नियत श्राव्य–इस कथोपकथन का श्राव्यत्व परिमित पमित लोगों तक ही रहता है। नियत श्राव्य के दो भेद हैं–(क) अपकरित और (ख) अनान्तिक।

नोट

(स) अश्राव्य–अश्राव्य ऐसे संवाद होते हैं जो किसी अन्य के सुनने योग्य नहीं होते। इन संवादों को आत्मगत या स्वगत कथन भी कहते हैं। इन सब संवादों के अतिरिक्त एक प्रकार का और संवाद होता है, जिसमें पात्र स्वयं कहकर स्वयं उसका उत्तर देता जाता है। वह आकाश की ओर देखता है इसे आकाश-भाषित कथन कहते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. भारतीय आचार्यों ने नाटक के जो तीन तत्त्व माने हैं उनमें ...., नेता और रस शामिल हैं।
2. .... मायावी, उग्र चपल, अहंकार और दर्प से पूर्ण होता है।
3. .... से कार्य की उत्पत्ति होती है, यही मुख्य फल का हेतु होता है।

5.1.4 भाषा-शैली

नाटक को उपस्थित करने के ढंग को शैली कहते हैं। इसे नाटक का परिधान भी कहते हैं। कहने का आशय यह है कि भाषा और बोली तत्त्व नाटक के कलापक्षीय सौंदर्य में श्रीवृद्धि करता है। नाटक की भाषा सरल, सुबोध, सजीव और स्वाभाविक, परिष्कृत और प्रवाहपूर्ण होनी चाहिए।

अंग्रेजी साहित्य में जिसे शैली माना गया है भारतीय नाट्यशास्त्र में उसे वृत्तियाँ कहते हैं। वृत्तियों के चार प्रकार हैं–(क) भारती वृत्ति, (ख) सात्वती वृत्ति, (ग) कैशिकी वृत्ति और (घ) आरभटी वृत्ति।

टास्क नाटक की भाषा-शैली कैसी होनी चाहिए, चर्चा कीजिए।

5.1.5 देशकाल एवं वातावरण

नाटक में देशकाल का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक बात के लिए नाटकीय वातावरण का ध्यान रखा जाता है। कथावस्तु जिस देशकाल से संबंध रखती है उसी के अनुरूप वातावरण की सृष्टि करनी चाहिए। इस तत्त्व से नाटक में स्वाभाविकता और सजीवता का संचार होता है। इसके लिए यूनानी नाट्यशास्त्रों ने संकलन-त्रय (three unit)पर अधिक जोर दिया है। संकलन-त्रय में निम्नलिखित बातें होती हैं–(1) वस्तु-संकलन (unity of action) (2) स्थान संकलन (unity of place), और (3) काल-संकलन (unity of time)।

1. वस्तु संकलन (Unity of Action)–कथावस्तु एकरस होनी चाहिए। इस एकरसता को निभाने के लिए प्रासंगिक कथाओं को स्थान नहीं मिल सकता था। इस नियम को कार्य की एकता (unity of time) कहते हैं।

2. स्थान संकलन या स्थल की एकता (Unity of Place)–प्राचीन नाटकों में स्थल, काल और कार्य की एकता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। वे चाहते थे कि जो घटनाएँ नाटक में दिखाई जायें, उनका संबंध एक ही स्थान से हो। यह नहीं है कि एक दृश्य आगरा का हो तो दूसरा दृश्य कलकत्ते का। इसी को स्थल की एकता (unity of place) कहते हैं।

3. समय की एकता या काल संकलन (Unity of Time)–जो घटना नाटक में दिखाई जाये वह वास्तव में उतने समय की हो जितना कि नाटक के अभिनय में लगता हो। उसको समय की एकता (unity of time) कहते हैं। ऐसा करने में वास्तविक समय का रंगमंच के समय से ऐक्य हो जाता है।

आधुनिक नाटकों में जो संकलनत्रय की प्रवृत्ति रक्षित हो रही है वह वस्तुत: घटनाक्रम का ऐसा विकसित रूप है जो समय, स्थान तथा कार्य के वैविध्य को लिये हुए भारतीय आदर्श के अनुरूप ऐक्य रक्षित किए हुए है।

5.1.6 नाटकीयता एवं अभिनेयता

नाटक का पात्रों द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण अभिनय कहलाता है। नाटक अभिनय की वस्तु है, कथा और आख्यान आदि को केवल पढ़े-लिखे लोग ही पढ़कर आनंद ले सकते हैं किंतु नाटक का अभिनय होने से पढ़े-अनपढ़े सभी समान आनंद और लाभ प्राप्त करते हैं। इसलिए नाटक से जनरुचि का जितना परिष्कार संभव है उतना काव्य आदि से नहीं। अतः अभिनय से नाटक को सजीव किया जाता है। रंगशाला में कुशल अभिनेता ही अपने नृत्य, गीत और कथोपकथन के माध्यम से कथावस्तु का सफल विन्यास नाटककार का कौशल है। अभिनय द्वारा भी चरित्र की विशेषता का उद्घाटन हो सकता है, परंतु यह गौण उपक्रम है। अभिनय से नाटक का उदय हुआ है और अभिनय तथा रंगमंच के सुभीतों की कमीबेशी के साथ-साथ भिन्न देशों का नाट्यकला में विकास हुआ है। अभिनय के चार प्रकार माने जाते हैं–

1. **आंगिक,**
2. **वाचिक,**
3. **आहार्य और**
4. **सात्विक।**

1. **आंगिक–**अंगों के माध्यम से अनुकरण को आंगिक अभिनय कहा जाता है।
2. **वाचिक–**गीत गाने, वार्तालाप करने आदि को वाचिक अभिनय की संज्ञा दी जाती है।
3. **आहार्य–**अभिनय वस्त्र और आभूषणों की साज-सज्जा से प्रकट किया जाता है।
4. **सात्विक–**सात्विक-अभिनय से आशय यह है कि स्तंभ, स्वेद, रोमांस, कंप और अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्विक अभिनय है।

5.1.7 रस

भारतीय परंपरानुसार नाटकों में रस को मुख्यतया दी गई है और पाश्चात्य परंपरा में उद्देश्य को। हमारे देश का रस विवेचन पहले-पहल नाटक के ही संबंध में किया गया था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. अंग्रेजी साहित्य में जिसे शैली माना गया है, भारतीय नाट्यशास्त्र में उसे क्या कहते हैं?

   (अ) कविता (ब) अभिनय

   (स) देशकाल (द) वृत्तियां

5. नाटक कैसी वस्तु है?

   (अ) अभिनय की (ब) पढ़ने की

   (स) भाषण देने की (द) इनमें से कोई नहीं

6. भारतीय परंपरानुसार नाटकों में किसे प्रमुखता दी गई है?

   (अ) अलंकार (ब) चौपाई

   (स) दोहा (द) रस

नोट

5.2 सारांश (Summary)

- भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्व माने हैं–वस्तु, नेता और रस। नाट्यशास्त्र में वृत्तियों को 'नाट्य भारत' कहा गया है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों के अनुसार नाटक के पाँच तत्त्व हैं–(1) कथावस्तु, (2) नेता, (3) कथोपकथन (4) अभिनय और (5) वृत्ति।
- दृश्य काव्य के कथानक या कहानी को कथावस्तु कहा जाता है।
- नाटक की पूर्ण सफलता पात्रों की सजीवता उनकी वास्तविकता पर ही निर्भर रहती है। इस तत्त्व के संबंध में भी कथावस्तु की तरह पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोणों में विभिन्नता नहीं है।
- कथोपकथन नाट्यकला की आत्मा है। नाटक में कथोपकथन का उद्देश्य होता है। नाटक के पात्रों के भावों, विचारों, प्रवृत्तियों आदि के विकास और विरोध का ज्ञान कराना होता है।
- नाटक की भाषा सरल, सुबोध, सजीव और स्वाभाविक, परिष्कृत और प्रवाहपूर्ण होनी चाहिए।
- कथावस्तु जिस देशकाल से संबंध रखती है उसी के अनुरूप वातावरण की सृष्टि करनी चाहिए।

5.3 शब्दकोश (Keywords)

- नाटक : रंगमंच पर अभिनय की जा सकने योग्य रचना
- गौण : अप्रधान, जो मूल अर्थ से भिन्न हो।

5.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. नाटक से आप क्या समझते हैं?
2. नाटक के विभिन्न तत्त्वों की व्याख्या कीजिए।
3. नाटक की रचना में रस कितना महत्त्वपूर्ण है? समझाइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self-Assessment)

1. वस्तु   2. धीरोद्धत   3. बीज   4. (द)
5. (अ)   6. (द)।

5.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – *आचार्य रामचंद्र शुक्ल।*

इकाई–6 : निबंध का स्वरूप

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 निबंध की परिभाषा

6.2 निबंध और लेख

6.3 निबंध के प्रकार/वर्गीकरण

6.4 निबंध के तत्त्व

6.5 सारांश (Summary)

6.6 शब्दकोश (Keywords)

6.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

6.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- निबंध का अर्थग्रहण कर उसकी व्याख्या करने हेतु।
- निबंध के प्रकारों को समझने हेतु।
- निबंध के विभिन्न तत्त्वों को जानने हेतु।
- निबंध और लेख में अंतर स्पष्ट करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

निबंध, हिंदी-साहित्य के आधुनिक काल की प्रमुख गद्य-विधा है। निबंध का शाब्दिक अर्थ है बँधा हुआ। प्राचीन संस्कृत साहित्य में निबंध शब्द का प्रयोग एकत्र करना, बाँधना आदि अर्थों में ही होता था। भोजपत्रों आदि पर लिखी गई खुले पृष्ठों की पोथियों को बाँधने की प्रक्रिया निबंधन कहलाती थी। निबंधन का एक अर्थ एकत्र करना, एक साथ समेटना भी है। अत: कालांतर में इसी के समानार्थों में, प्रबंधन (प्रबंध) और ग्रंथन (ग्रंथ) आदि शब्दों का भी विकास हुआ। अर्थ की दृष्टि से निबंध का आशय भले ही विचारों को एक साथ किसी रचना में अनुस्यूत करना हो, परंतु स्वरूप की दृष्टि से आज का निबंध अंग्रेजी के 'एस्से' शब्द से ही प्रभावित है।

6.1 निबंध की परिभाषा

स्वरूप और रचना शैली की दृष्टि से आज निबंध इतना बहुआयामी हो गया है कि उसकी निश्चित और सर्वमान्य परिभाषा करना सुकर नहीं रह गया है। वर्तमान अर्थों में निबंध की जन्मभूमि पश्चिम में, इसकी परिभाषा और स्वरूप

नोट

निर्धारण को लेकर काफी ऊहापोह रहा। निबंध के जनक मोन्तेन से लेकर जॉनसन, ऑस्बर्न जैसे निबंध-लेखक-समीक्षकों ने निबंध के स्वरूप पर पर्याप्त विचार किया, परंतु उनके विवेचनों में भी कोई अधिक मान्य परिभाषा उभरकर सामने नहीं आई। जे. बी. प्रीस्टले ने निबंध को जिम्मेदार विधा मानते हुए कहा कि–

"A genuine expression of an original personality an artful and enduring kind of talk."

परंतु इससे भी निबंध का कोई स्पष्ट परिभाषित स्वरूप सामने नहीं आया। 'Modern Essay' के लेखक क्रिस्टोफर मोरले ने, शिपले के साहित्यकोश के आधार पर निबंध को साहित्य-विधा के बदले एक मन: स्थिति माना। बेकन जैसे समर्थ निबंधकार ने भी निबंध को 'Dispersed Meditation' ही कहा। परंतु इन सबकी अपेक्षा ओ. विलियम्स की परिभाषा निबंध की प्रकृति के अधिक अनुकूल पड़ती है–

"The most delightful, airy mould of thought which admits of every literary grace and every high quality of mind, compatible with its essential smallness of scale."

हिंदी में जब निबंध-रचना का प्रारंभ हुआ तब तक पश्चिम में निबंध-लेखन की एक लंबी परंपरा विकसित हो चुकी थी। भारतेंदु, द्विवेदी और यहाँ तक कि शुक्ल-काल के निबंधकारों एवं शुक्ल जी ने स्वयं भी पश्चिम की निबंध-शैलियों का परिचय प्राप्त किया। संस्कृत के गद्य-लेखकों ने जैसे 'गद्य को कवियों की कसौटी' कहा वैसे ही आचार्य शुक्ल ने 'निबंध को गद्य की कसौटी' कहा। उनका मानना है कि भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव हो सकता है।

हिंदी-निबंध पर विचार करते हुए बाबू गुलाबराय ने निबंध की अच्छी परिभाषा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार, "निबंध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन, एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।"

क्या आप जानते हैं 'हिंदी-साहित्य-कोश' में निबंध पर संकलित टिप्पणी में कहा गया है कि "निबंध लेखक की विचार-प्रगल्भता, अनुभवशीलता और प्रौढ़ता का परिचय देता है परंतु वह एक विशेष मनोदशा (mood) में लिखा जाता है इसलिए उसमें परिपूर्णता स्वभावत: नहीं होती।

'हिंदी-साहित्य-कोश' में निबंध पर संकलित टिप्पणी में कहा गया है कि "निबंध लेखक की विचार-प्रगल्भता, अनुभवशीलता और प्रौढ़ता का परिचय देता है परंतु वह एक विशेष मनोदशा (mood) में लिखा जाता है इसलिए उसमें परिपूर्णता स्वभावत: नहीं होती। परंतु ऐसा नहीं कि वह लेखक के किसी भी विषय-संबंधी विचारों का संक्षेप व सार हो, प्रत्युत सीमित दृष्टिकोण से किसी विशेष मनोदशा के अंतर्गत लेखक उसमें अपने विचार प्रकट करता है। परिणामस्वरूप निबंध का आकार साधारणतया अधिक लंबा नहीं हो सकता।" कोश की टिप्पणी में निबंध में वैयक्तिकता और आत्मनिष्ठता पर भी जोर दिया गया है।

इस प्रकार निबंधों की परिभाषाओं के संदर्भ में अगर देखें तो इनमें स्वच्छंदता, सरलता, आडंबरहीनता, घनिष्ठता, आत्मीयता अथवा आत्मनिष्ठता आदि अनेक लक्षण उभरकर सामने आते हैं। परिणामस्वरूप निबंध की एक परिभाषा इस प्रकार बन सकती है–

"निबंध गद्य की वह विधा है जिसमें विचारों की सुसंबद्धता, तर्कशीलता, सहजता तथा वैयक्तिकता के साथ विषय का स्वच्छंद प्रतिपादन हो।"

6.2 निबंध और लेख

आज भले ही निबंध और लेख में स्पष्ट अंतर मिट गया हो और इन दोनों शब्दों का समानार्थी प्रयोग चल पड़ा हो,

फिर भी इनमें अंतर है। निबंध का धातुगत अर्थ है–विचारों का सुगठित निबंधन। और लेख का अर्थ है–लिखा हुआ। 'लिखा हुआ' निबंध भी हो सकता है। किंतु दोनों की विषय-प्रतिपादन शैली में अंतर है। व्यक्तित्वविहीन किसी भी विषय का सांगोपांग विवेचन लेख होता है और व्यक्तित्वनिष्ठ, विषय का सुसंबद्ध प्रतिपादन निबंध कहलाता है। निबंध की विशेषता ही व्यक्तिनिष्ठता अथवा आत्मनिष्ठता है। लेख में लेखक अपने मत के समर्थन, प्रतिपादन में दूसरे मतों की सहायता भी ग्रहण कर लेता है। किंतु निबंध में मत-प्रतिपादन का अवकाश नहीं होता। इसीलिए आलोचकों का मानना है कि निबंध गद्य की वह रचना है जिसकी शैली और विषय में अपनापन रहता है।

लेख की अपेक्षा निबंध का क्षेत्र व्यापक है। एक ही विषय पर लिखे गए, निबंध, शैली-भेद से अलग वर्गीकृत किए जा सकते हैं, किंतु एक ही विषय पर लिखे गए लेखों का वर्गीकरण संभव नहीं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. आज का निबंध अंग्रेजी के .... शब्द से प्रभावित है।
2. निबंध को Disperesed Meditation निबंधकार .... ने कहा है।
3. निबंध को गद्य की कसौटी .... ने कहा है।
4. लेख का अर्थ है .... हुआ।

6.3 निबंध के प्रकार/वर्गीकरण

मुख्य रूप से निबंध के तीन प्रकार माने जा सकते हैं–

(1) वर्णनात्मक (Descriptive)

(2) विचारात्मक (Reflective)

(3) भावात्मक (Emotional)

1. वर्णनात्मक निबंध–वर्णनात्मक निबंध किसी वस्तु के वर्णन विशेष से युक्त होता है। इसमें वर्णन की स्थूलता तथा विषय की सरलता रहती है। यह अधिकतर सूचनात्मक तथा अपेक्षाकृत नीरस होता है। इसमें प्राकृतिक दृश्यों, जड़-चेतन पदार्थों, यात्रा दिनचर्या, त्योहारों, मेलों आदि का यथातथ्य वर्णन रहता है।

कुछ आलोचकों ने निबंध का एक प्रकार विवरणात्मक भी माना है। वास्तव में यह भी वर्णन-प्रधान ही होता है। यद्यपि यह विशेष वर्णन से युक्त हो सकता है। निबंध का एक कथात्मक प्रकार Narrative या 'आख्यात्मक' कहा जाता है। वह भी एक प्रकार से वर्णनात्मक निबंध ही है। हाँ, उसमें किसी वृत्तांत अथवा कथा को निबंध की शैली में प्रस्तुत किया जाता है।

नोट्स आज साहित्य का एक स्मारक रूप निबंधों की कोटि के अंतर्गत आता जा रहा है, जिसमें संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज आदि गिनाए जा सकते हैं।

2. विचारात्मक निबंध–ये प्रायः विचार प्रधान होते हैं। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक या साहित्यिक कोई भी समस्या इन निबंधों का विषय हो सकती है। इन निबंधों का प्रतिपाद्य, गंभीर तथा बौद्धिकता से युक्त होता है। विषय की गहराई के साथ, भाषा और शैली भी गंभीर हो जाती है। विचार प्रधान निबंधों के बारे में शुक्ल जी का कहना है कि "शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरमोत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार

नोट

दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचार खंड के लिए हों।" विचारप्रधान निबंधकारों में रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि रेखांकनीय निबंधकार हैं।

3. **भावात्मक निबंध**–इस प्रकार के निबंधों में विचार गौण और भाव प्रधान होता है। मनोवेगों की तीव्रता और भावों की बहुलता इन निबंधों के गुण हैं। इन निबंधों में बुद्धि के बदले हृदयपक्ष प्रभावी रहता है। इस प्रकार के निबंधों की शैली ललित भी हो जाती है। आत्मनिष्ठता और अनुभूति की मार्मिकता भी सहज ही आकार ग्रहण कर लेती है।

शुक्लोत्तर निबंधकारों ने भाव-प्रधान निबंधों की शैली विकसित की है। शुक्ल जी ने यद्यपि स्वयं भी 'चिंतामणि' में कुछ भाव-प्रधान निबंध लिखे हैं, परंतु उन्होंने प्रधानतया विचारात्मक निबंधों के क्षेत्र में ही लेखन किया है।

भाव प्रधान निबंधों को व्यक्तिनिष्ठ, व्यक्तिव्यंजक अथवा ललित निबंध भी कहते हैं। लालित्य, शैली का एक गुण है और व्यक्तिव्यंजकता निबंध का। व्यक्तित्व-निरपेक्ष के द्वारा निबंधकार विषय को अधिक आत्मीयता के साथ ग्रहण करता है और उससे एक प्रकार के अपनेपन के साथ 'डील' करता है। भाव-प्रधान व्यक्तिव्यंजक अथवा ललित निबंधों के अग्रणी निबंधकारों में हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय तथा विवेकी राय आदि उल्लेखनीय हैं।

निबंधों के इन प्रधान-प्रकारों के अतिरिक्त, विचारधाराओं की दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि तथा वृत्तियों के आधार पर हास्य-व्यंग्यादि निबंध भी कहे जाते हैं।

टास्क निबंध के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

6.4 निबंध के तत्त्व

हर विधा में कुछ निर्णायक तत्त्व काम करते हैं। निबंध-विधा के संबंध में भी यह बात लागू होती है। हिंदी निबंध के तत्त्वों को इस प्रकार गिनाया जा सकता है–

1. व्यक्तिनिष्ठता, 2. स्वच्छंदता, 3. एकान्विति, 4. वैचारिकता, 5. कलात्मकता तथा 6. संक्षिप्तता।

1. **व्यक्तिनिष्ठता**–कोई भी साहित्यिक विधा व्यक्तित्व निरपेक्ष नहीं होती। न्यूनाधिक रूप में व्यक्तित्व का अंश सभी विधाओं में रहता ही है, किंतु निबंधों में यह अधिक मात्रा में निहित होता है। निबंधों में व्यक्तित्व की उपस्थिति उसकी मुख्य विशेषता है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।" बाबू गुलाबराय का भी मत है कि निबंध में व्यक्तित्व को छिपाया नहीं जा सकता। निबंध में लेखक का चूँकि अपना दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिए उसमें व्यक्तिनिष्ठता का आ जाना स्वाभाविक ही है।

2. **स्वच्छंदता**–निबंध में स्वच्छंदता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं होता। यहाँ स्वच्छंद रहकर भी निबंधकार को संयमित रहना पड़ता है। निबंधों में स्वच्छंदता वैयक्तिकता के कारण आती है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है।" निबंध में स्वच्छंदता कल्पना प्रवणता पर भी निर्भर करती है।"

3. **एकान्विति**–निबंध में एकान्विति इसे सुगठित बनाती है। विचारों का असंबद्ध नियोजन निबंध के मूल अभिप्रायों को नष्ट कर देता है। विचारों की अनुसूत्रता यहाँ आवश्यक रूप से वांछनीय है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने भी इसी बात को पुष्ट करते हुए कहा है कि "निबंध में वर्णित बातें एक-दूसरे से कितनी भी असंबद्ध क्यों न लगें, उनमें एकसूत्रता होनी चाहिए।"

4. वैचारिकता–निबंध को विचार-प्रधान होना चाहिए। वैचारिकता उसका आवश्यक तत्त्व है। चिंतन-विहीन निबंध लेख की कोटि में ही गिना जाएगा। वैचारिकता बुद्धि का परिणाम है। इस बुद्धि प्रधान युग में वैचारिक-साहित्य का अधिक निर्माण हुआ है, निबंध उसमें प्रमुख हैं।

निबंधों में वैचारिकता विश्वसनीयता को जन्म देती है। तर्कशीलता इसका आनुषंगिक तत्त्व है।

5. कलात्मकता–यूँ तो कलात्मकता हर साहित्यिक विधा के लिए अनिवार्य है, किंतु निबंध के लिए, जो साहित्य का अपेक्षाकृत सरस रूप नहीं है, कला तत्त्व अत्यावश्यक है। भाव-विचारानुरूप भाषा का संयोजन यदि हो तो निबंध में कलात्मकता आती है। निबंध का यह गुण निबंधकार के द्वारा प्रयत्न साध्य होता है। किसी भी विषय की प्रतिपादन शैली उसमें कलात्मकता लाती है। वैसे भाषा और प्रतिपादन शैली के समन्वय का नाम ही कलात्मकता है।

6. संक्षिप्तता–निबंध चूँकि प्रबंध नहीं होता इसलिए उसका संक्षिप्त होना वांछनीय है। विस्तार में निबंध का सार बिखर जाता है। संक्षिप्तता समास-शैली का गुण है, विषय का अनावश्यक विस्तार निबंध में सही नहीं। निबंध को अपने कथ्य के अनुरूप ही फैलना चाहिए। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र निबंध में संक्षिप्तता को महत्त्व न देकर विचारान्विति को महत्त्व देते हैं। किंतु विचारान्विति निबंध का आंतरिक तत्त्व है, जबकि संक्षिप्तता उसका आकार और स्वरूपगत गुण।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. निम्नलिखित में से कौन निबंध का एक प्रकार भी है–

   (अ) संगीतात्मक (ब) वर्णनात्मक

   (स)रचनात्मक (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

6. यह किसका मत है कि 'निबंध में व्यक्तित्व को छिपाया नहीं जा सकता'–

   (अ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (ब) प्रेमचंद

   (स) बाबू गुलाबराय (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

7. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र निबंध में किसे महत्त्व देते हैं–

   (अ) संक्षिप्तता (ब) विचारान्विति

   (स) कलात्मकता (द) स्वच्छंदता

6.5 सारांश (Summary)

- निबंध का शाब्दिक अर्थ है बँधा हुआ। प्राचीन संस्कृत साहित्य में निबंध शब्द का प्रयोग एकत्र करना, बाँधना आदि अर्थों में ही होता था।
- संस्कृत के गद्य-लेखकों ने जैसे 'गद्य को कवियों की कसौटी' कहा वैसे ही आचार्य शुक्ल ने 'निबंध को गद्य की कसौटी' कहा।
- लेख में लेखक अपने मत के समर्थन, प्रतिपादन में दूसरे मतों की सहायता भी ग्रहण कर लेता है। किंतु निबंध में मत-प्रतिपादन का अवकाश नहीं होता।
- हिंदी निबंध के तत्त्वों को इस प्रकार गिनाया जा सकता है–

  1. व्यक्तिनिष्ठता, 2. स्वच्छंदता, 3. एकान्विति, 4. वैचारिकता, 5. कलात्मकता तथा संक्षिप्तता।

नोट

- निबंध चूँकि प्रबंध नहीं होता इसलिए उसका संक्षिप्त होना वांछनीय है। विस्तार में निबंध का सार बिखर जाता है।

6.6 शब्दकोश (Keywords)

- निबंधावली : निबंध संग्रह
- स्वच्छंदता : स्वच्छंद होने का भाव (मनमाना) बिना किसी भय, विचार या संकोच के

6.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. निबंध से क्या अभिप्राय है?
2. निबंध और लेख में क्या अंतर है?
3. निबंध के विभिन्न तत्त्वों का उल्लेख कीजिए।
4. निबंध के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self-Assessment)

1. एस्से	2. बेकन	3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	4. लिखा
5. (ब)	6. (स)	7. (ब)।	

6.8 संदर्भ-पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – *आचार्य रामचंद्र शुक्ल।*

इकाई–7 : एकांकी, आत्मकथा, जीवन-परिचय, विशेषताएँ एवं तत्त्व

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
7.1 एकांकी
  7.1.1 एकांकी का विकास
  7.1.2 एकांकी के प्रकार
7.2 आत्मकथा
  7.2.1 आत्मकथा-लेखक के लिए अपेक्षित गुण/विशेषताएँ
  7.2.2 आत्मकथा के रूप
7.3 जीवनी
  7.3.1 जीवनी-लेखक के लिए ध्यातव्य बातें/विशेषताएँ
  7.3.2 जीवनी के तत्त्व
7.4 सारांश (Summary)
7.5 शब्दकोश (Keywords)
7.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
7.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- एकांकी का अर्थ समझने हेतु।
- आत्मकथा को जानने हेतु।
- जीवनी लेखन में ध्यान रखने वाली बातों को समझने हेतु।
- जीवनी के विभिन्न तत्त्वों को समझने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

हिंदी एकांकियों की परंपरा को जिस तरह अतीत के रूपकों-उपरूपकों से जोड़ने का प्रयास किया गया है, उसी प्रकार अंग्रेज़ी-साहित्य के इतिहास-लेखक भी अंग्रेज़ी एकांकियों को अतीत में दूर तक घसीट ले जाते हैं। किंतु वहाँ भी आधुनिक एकांकी का जन्म बीसवीं शती के पहले दशक में हुआ। कुछ इतिहास-लेखक 1903 में लंदन के 'वेस्ट एंड थिएटर' में खेले गए पट-उत्थानक (करटेन-रेज़र) 'बंदर का पंजा' से एकांकी का जन्म मानते हैं। पहले इंग्लैंड

नोट

में यह प्रथा थी कि दर्शक प्रेक्षागृह में नाटक शुरू होने के पहले पहुँच जाते थे। दर्शकों के आने के समय तथा नाटक आरंभ होने के बीच के वक्त में छोटे-मोटे नाटकों का आयोजन किया जाता था। पर 'बंदर का पंजा' जो पट-उत्थानक के रूप में खेला गया था, उसका प्रभाव दर्शकों पर इतना अधिक पड़ा कि लोग मूल नाटक देखे बिना ही वापस चले गए। इसके फलस्वरूप पट-उत्थानक की व्यवस्था हटा दी गई। किंतु कालांतर में यही करटेन-रेज़र एकांकी के रूप में बदल गया।

7.1 एकांकी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है—"दो-एक व्यक्ति अंग्रेज़ी में एक अंकवाले आधुनिक नाटक देख उन्हीं के ढंग के दो-एक एकांकी नाटक लिखकर उन्हें बिलकुल एक नई चीज कहते हुए सामने लाए। ऐसे लोगों को जान रखना चाहिए कि एक अंकवाले कई उप-रूपक हमारे यहाँ बहुत पहले से माने गए हैं।" जाहिर है कि शुक्ल जी एकांकी नाटकों की एक लंबी परंपरा स्थापित कर रहे थे। महाकवि भास का 'उरुभंग' और नीलकंठ का 'कल्याण सौगंधिक' एकांकी के आदि रूप हैं। यही नहीं, मनोज मोहन रूपकों में भाण, व्यायोग वीथी, ईहामृग, अंक और प्रहसन एक ही अंक के होते हैं। उपरूपकों में गोष्ठी, नाट्यरासक, काव्य, प्रेक्षण, रासक, श्रीगदित, विलासिका, हल्लीश और भाणिका एक अंक के ही माने गए हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने संस्कृत नाट्य-परंपरा के अनुरूप अनेक रूपकों-उपरूपकों की रचना की। उपरूपकों में धनंजय विजय (व्यायोग,) विषस्य विषमौषधम् (भाण), भारत दुर्दशा (नाट्यरासक) और अंधेर नगरी (प्रसहन) एक प्रकार के एकांकी हैं। 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' के अतिरिक्त अन्य उपरूपक एक अंग के ही हैं। पता नहीं भारतेंदु ने 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' को एक अंक में क्यों नहीं लिखा, जबकि संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमानुसार उन्हें एक अंक में ही लिखा जाना चाहिए था। संभवतः यह भूल से हो गया। इनके अंतर्गत जहाँ अंक लिखा गया है, वहाँ दृश्य होना चाहिए था। ऐसा करने पर इनका ढाँचा एकांकी जैसा हो जाएगा। ऐसी स्थिति में भारतेंदु को ही एकांकी का जन्मदाता मानना होगा। भारतेंदु के सहयोगियों में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने भी भारतेंदु के ढर्रे पर एकांकी लिखे। किंतु उनके एकांकियों में न रंग-निर्देश है और न भारतेंदु के एकांकियों की कार्य-गति की क्षिप्रता। यह सब होते हुए भारतेंदु ने एक अंकवाले नाटकों को एकांकी नहीं कहा है। उस समय 'एकांकी' की अवधारणा प्रादुर्भूत नहीं हुई थी।

भारतेंदु के बाद जब लोगों की रुचि नाटक लिखने की ओर न रही तो एकांकी लेखन की चिंता कौन करता? महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग में संस्कृत, बाँग्ला और अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवादों की भरमार रही। रामकृष्ण वर्मा और रूपनारायण पांडेय ने बाँग्ला के पुरोहित गोपीनाथ ने अंग्रेजी के, ज्वालाप्रसाद मिश्र और सत्यनारायण कविरत्न ने संस्कृत नाटकों के अनुवाद किए। जिस तरह से नाटक-उपन्यास के क्षेत्र में बाँग्ला साहित्य से बहुत कुछ प्रेरणा ली गई, उसी प्रकार एकांकी लेखन के लिए भी ली होगी।

हिंदी में आधुनिक एकांकी अंग्रेजी एकांकियों से दो दशक बाद लिखा जाने लगा। सामान्यतः जयशंकर प्रसाद का 'एक घूँट' (1999) हिंदी का प्रथम एकांकी स्वीकार कर लिया गया है। पहला एकांकी होने के कारण इसकी अपनी खामियाँ है। संवाद, कार्य, गत्वरता आदि का जहाँ तक संबंध है, इसका पल्ला पुरानी परिपाटी से नहीं छूट पाया है। फिर भी इसमें नव्यतर तत्त्वों की उपेक्षा नहीं हुई है।

7.1.1 एकांकी का विकास

सन् 1936 में भुवनेश्वर के एकांकियों का संग्रह 'कारवाँ' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के एकांकियों पर शॉ और इब्सन की विचारधारा और शैली दोनों का प्रभाव है। जाहिर है कि उन्हीं की तरह भुवनेश्वर ने भी स्वच्छन्दता-विरोधी रुख अपनाया है और बुद्धिवाद का समर्थन किया है। समस्या प्रधान एकांकियों के अतिरिक्त उन्होंने विरल कथावस्तु के

माध्यम से ऊलजलूल या एब्सर्ड एकांकियों की भी सृष्टि की है। भुवनेश्वर की यथार्थवादी दृष्टि बाह्याभास की तह में घुसकर तथाकथित आदर्शों को बेनकाब कर देती है। व्यंग्य, हास्य और बेतुके संवादों ने भाषा में यथार्थ के पुट के साथ उसे नाट्यमान भी बना दिया है। पश्चिमी प्रभाव की अतिशयता से भारतीय नैतिक बोध किंचित उपेक्षित हो गया। पर सब मिलाकर भुवनेश्वर के एकांकियों में अद्‌भुत ताजगी मिलती है। सन् 1938 में 'हंस' का एकांकी विशेषांक निकला। इसके अनंतर एकांकी लेखन की रफ्तार तेज हो गई।

नोट्स डॉ. रामकुमार वर्मा हिंदी-एकांकी के जन्मदाताओं और उन्नायकों में गिने जाते हैं। छायावादी कवि होने के कारण उनके एकांकियों में आदर्श का गहरा पुट होता है।

डॉ. रामकुमार वर्मा हिंदी-एकांकी के जन्मदाताओं और उन्नायकों में गिने जाते हैं। छायावादी कवि होने के कारण उनके एकांकियों में आदर्श का गहरा पुट होता है। त्याग, तपश्चर्या, दया, करुणा आदि का सन्निवेश प्राय: सर्वत्र मिलेगा। वर्मा जी ने सामान्यत: सामाजिक और ऐतिहासिक एकांकी लिखे हैं। इनके पात्र औदात्यपूर्ण, सुशिक्षित और सुसंस्कृत होते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी ने अपने एकांकियों के लिए अपने नाटकों की तरह ही मध्ययुगीन कथावस्तुओं का चुनाव किया है। सेठ गोविन्ददास के एकांकियों की संख्या भी कम नहीं है। पर प्रेमी और सेठ जी मन के सूक्ष्म स्पन्दनों को पकड़ पाने में उतने समर्थ नहीं हैं।

उदयशंकर भट्ट ने नाटकों के लिए पौराणिक कथाएँ चुनीं और एकांकियों के लिए सामाजिक समस्याएँ। नाटकों और एकांकियों के लिए वे किसी सुनिश्चित सामाजिक उद्देश्य का होना जरूरी समझते हैं। उग्र, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है।

उपेंद्रनाथ अश्क इस क्षेत्र में बाद में आए, किंतु थोड़े ही दिनों में उनकी गणना श्रेष्ठ नाटककारों में होने लगी। अपने एकांकियों के लिए उन्होंने मध्यवर्ग की समस्याएँ ली हैं, अत: उनके पात्र जाने-पहचाने लगते हैं। पारिवारिक असंतुलन के भीतर पैठकर उसका मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में वे सिद्धहस्त हैं। एकांकियों और नाटकों को मंचोपयुक्त बनाने की जो पहल उन्होंने की, उसका निरंतर विकास होता गया।

रंगमंच और प्रयोग की दृष्टि से जगदीशचंद्र माथुर का 'भोर का तारा' संग्रह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अश्क की अपेक्षा माथुर की समस्याएँ कहीं अधिक जटिल हैं। अपने समसामयिक जीवन में समाहित मानवीय विकृतियों और आदमी के परार्थीकृत होने की क्रमिक प्रक्रिया को उन्होंने निकट से देखा है। अत: उनके एकांकियों में वैविध्य के साथ गंभीरता भी आ गई है। विष्णु प्रभाकर के एकांकियों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का गहरा रंग है। भगवतशरण उपाध्याय ने भी कुछ बहुत अच्छे एकांकी लिखे हैं, जिनकी ओर लोगों की दृष्टि नहीं गई है। जब रेडियो-स्टेशनों से प्रसारित करने के लिए एकांकियों की माँग हुई तो लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, वृंदावनलाल वर्मा आदि भी एकांकी लिखने लगे।

इधर के एकांकीकारों में लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, सत्येंद्रशरत, सुरेंद्र वर्मा, मुद्राराक्षस, गिरिराज किशोर आदि उल्लेख्य हैं।

रचना-विधान

एकांकी के प्रादुर्भाव के मूल में औद्योगिक युग की जटिल सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। आज के व्यस्त जीवन में मनुष्य के पास इतना अवकाश नहीं है कि रात-रातभर बैठकर वह नाटकों का मंचन देख सके। अब नाटकों के प्रदर्शन का समय भी घटा दिया गया है। शिक्षण-संस्थाओं में भी समयाभाव के कारण एकांकी नाटकों का खेला जाना ही अधिक सुगम है।

नोट

नाटक और एकांकी दोनों का संबंध रंगमंच से है। फिर भी दोनों की संरचना में काफ़ी अंतर है। कहानी-उपन्यास में जो संरचनात्मक अंतर दिखाई पड़ता है, बहुत कुछ वैसा ही अंतर एकांकी और नाटक में देखा जा सकता है। उपन्यास और नाटक जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करते हैं तो कहानी और एकांकी जीवन के किसी एक पहलू की मार्मिक छवि। एकांकी की कथावस्तु सीधी, सरल किंतु मर्मस्पर्शी होती है। एकांकी में पहाड़ी नदी की गत्वरता होती है तो नाटक में मैदानी नदी की मंथरता। नाटक के अभिनय में डेढ़ से ढाई घंटे तक समय लग सकता है, जबकि एकांकी के लिए दस मिनट से एक घंटे का समय पर्याप्त है।

तत्त्व

एकांकी के चार प्रमुख तत्त्व होते हैं—कथावस्तु, पात्र, संवाद और उद्देश्य। नाटकों की तरह एकांकियों में आधिकारिक और प्रासंगिक कथा-वस्तुओं के लिए अवकाश नहीं रहता।

क्या आप जानते हैं एकांकी की कथावस्तु इकहरी होती है। पर एकांकी की कथावस्तु होने के लिए स्थितियों, घटनाओं और व्यापारों आदि को इस ढंग से विन्यस्त होना पड़ता है कि वे नाट्य बिंब प्रस्तुत कर सकें।

कथावस्तु

कथावस्तु की प्रगति के मुख्यत: तीन चरण होते हैं—आरंभ, विकास और चरमोत्कर्ष। संस्कृत नाट्यशास्त्र में इसी का नाम कार्यावस्था है। कहानी के आरंभ की तरह एकांकी का आरंभ भी अधिक-से-अधिक आकर्षक होना चाहिए। इसके संबंध में नियम नहीं बनाए जा सकते। कभी रंगमंच पर जोर का शोरगुल सुनाई पड़ता है, कभी करुणार्द्र संगीत सुनाई पड़ता है तो कभी आँधी-तूफान की गड़गड़ाहट।

विकास का प्राण है संघर्ष। संघर्ष व्यक्ति का अपने से भी हो सकता है, जिसे आत्मसंघर्ष कहते हैं। आत्मसंघर्ष से आगे बढ़कर संघर्ष दो पात्रों, परिस्थितियों और मूल्यों के बीच भी होता है। संघर्ष से ही एकांकी विकास होता है। उसे गति प्राप्त होती है। साकांक्षता भी इसी के कारण आती है। एकांकी को गत्यात्मक बनाए रखने के लिए साकांक्षता का कहीं से भी क्षरण नहीं होना चाहिए।

जहाँ संघर्ष अपनी पूरी ऊँचाई पर पहुँच जाता है और कथा तनाव और सघनतम क्षणों से गुजरने लगती है, वहाँ चरमोत्कर्ष होता है। परिणति चरमोत्कर्ष से भिन्न नहीं है। वास्तव में चरमोत्कर्ष पर ही एकांकी का समापन होना चाहिए। अब चरमोत्कर्ष पर समस्या की गाँठें नहीं खोली जातीं, बल्कि दर्शक को सोचने के लिए भी कुछ छोड़ दिया जाता है। आधुनिक कहानियों की तरह एकांकी का अंत भी खुला हुआ (ओपेन) होता है।

नाटकों और एकांकियों की संरचना में अन्विति-त्रयी का विशेष महत्त्व है। अन्विति-त्रयी में काल, स्थान और कार्य की अन्वितियों की गणना की जाती है। काल अन्विति के बारे में अरस्तु ने बहुत पहले विचार किया था। उसके मतानुसार नाटक में चौबीस घंटे में घटित घटना का ही समावेश होना चाहिए। रंगमंच पर बीस साल पहले की घटना उपस्थित करने के बाद यदि आज की घटना उपस्थित की जाएगी तो यह दर्शकों को स्वाभाविक नहीं प्रतीत होगी; पर कालान्विति का उल्लंघन बराबर होता आया है।

इसी प्रकार यदि एक घटना काशी में घटित होती है और उसी से संबद्ध दूसरी घटना मास्को में घटित होती है तो उन्हें रंगमंच पर स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इससे तारतम्यता भंग होगी। अब सामान्यत: नाटक या एकांकी इस ढंग से लिखा जाता है कि घटना एक ही स्थान पर घटित हो। यह नाटक के लिए उतना आवश्यक

नहीं है जितना एकांकी के लिए। एकांकी एक ही दृश्यबंध में थोड़ा-बहुत फेरबदल कर एक दूसरे स्थान का भी बोध कराया जा सकता है।

एकांकियों के लिए व्यापार की अन्विति अनिवार्य है। इसीलिए इसकी कथा इकहरी होती है, पात्र कम होते हैं, व्यापारों का बाहुल्य नहीं होता। एक मुकम्मल संरचना तथा घनीभूत प्रभावान्विति के लिए व्यापारों की एकात्मकता तथा रंग-निर्देश पर विशेष ध्यान रखा जाता है।

पात्र

चूँकि एकांकी में मंचन के लिए कालावधि काफ़ी कम होती है, इसलिए उसके पात्रों की संख्या भी सीमित होती है। अब तो एकांकियों में एक या दो पात्रों से ही काम चला लिया जाता है। ज़ाहिर है कि इनमें न व्यापारों के विस्तार का अवकाश है और न व्यवहारों की जटिलता की गुंजाइश। एकांकीकार का ध्यान प्रभावों की तीव्रता पर टिका रहता है, इसलिए पात्रों में वैविध्य भी नहीं होता।

नाटककार को उपन्यास की तरह अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करने के लिए कोई अवकाश नहीं है। यह उसकी सीमा है। किंतु इसका एक लाभ भी है। वह पात्रों को विशिष्ट परिस्थितियों में डालकर तनाव का तीव्रतम रूप खड़ा करता है। पात्रों के रूप-रंग, अवस्था आदि का संक्षिप्त परिचय रंग-निर्देश में मिल जाता है। वास्तव में पात्रों को उनके सघनतम तनावों में उपस्थित करने के लिए कथावस्तु की संरचना में विशेष कौशल अपेक्षित है। इसलिए अरस्तु नाटक में कथावस्तु को सर्वाधिक महत्त्व देता है।

संवाद

यदि कथावस्तु नाटक और एकांकी की काया है, तो संवाद प्राण है। नाट्य में गति ले आने और उसे विकासमान बनने में इसका खास महत्त्व है। संवादों द्वारा चरित्रों की विशेषताएँ उद्घाटित होती हैं और परिवेश का बोध होता है। संवादों के गठन में भाषा-शैली का तो महत्त्व है ही, शब्दों के चुनाव का भी कम महत्त्व नहीं है। भाषा बोल-चाल के निकट होनी चाहिए पर उसका नाट्यमान होना भी उतना ही आवश्यक है। नाट्यमानता के अभाव में संवाद निष्प्राण हो जाते हैं।

कविता में ही शब्दों का महत्त्व नहीं है, एकांकी में उसका महत्त्व दोहरे अर्थों में होता है। एक ओर वे नाट्य-बिंब प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर गत्यात्मकता। क्रिया का ही दूसरा नाम गत्यात्मकता है। एकांकी के संवादों में लघुता, व्यंजनात्मकता और क्षिप्रता का होना जरूरी।

उद्देश्य

एकांकी ज्वलंत मूल्यों से जुड़ा रहता है। इसके अभाव में उसकी प्रभावान्विति में कमी आ जाएगी। हर लेखक का अपना दृष्टिकोण होता है। इस दृष्टिकोण के आधार पर ही वह वस्तुविन्यास करता है। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि उद्देश्य का प्रक्षेपण एकांकी की साहित्यिकता नष्ट कर देता है। दृष्टिकोण और एकांकी के अपने आंतरिक नियमों में एक द्वंद्वात्मक संबंध होता है। इस संबंध की रक्षा और निर्वाह से ही एकांकी में प्राणवत्ता आती है।

7.1.2 एकांकी के प्रकार

सामान्यत: किसी भी साहित्यिक विधा को दो दृष्टियों से वर्गीकृत किया जाता है–विषयवस्तु की दृष्टि से और रूप की दृष्टि से। विषयवस्तु की दृष्टि से एकांकियों को भी अन्य विधाओं की तरह सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक वर्गों में बाँटा जा सकता है। रूप की दृष्टि से उसके दो भेद हैं–दृश्य-एकांकी और ध्वनि-एकांकी। दृश्य-एकांकी को मंच पर खेला जाता है, लेकिन ध्वनि-एकांकी रेडियो से प्रसारित किए जाते हैं। दृश्य-एकांकी के पुन: दो भेद किए जा सकते हैं–पद्य-एकांकी और गद्य-एकांकी। ध्वनि-एकांकी के भी दो भेद हैं–ध्वनि-रूपक (रेडियो फीचर) और ध्वनि-नाटक (रेडियो ड्रामा)। इसे निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

नोट

- एकांकी
  - दृश्य-एकांकी
    - पद्य-एकांकी
    - गद्य-एकांकी
  - ध्वनि-एकांकी
    - ध्वनि-रूपक (रेडियो फीचर)
    - ध्वनि-नाटक (रेडियो ड्रामा)

पद्य-एकांकी का माध्यम काव्य तो होता है, पर काव्य में मुख्यता नाट्यमानता की होती है। यह रंगमंच पर भी खेला जा सकता है और रेडियो से प्रसारित भी होता है। गद्य-एकांकी का माध्यम मुख्यत: गद्य होता है। यथावसर पद्य का समावेश वर्जित नहीं है। फैंटेसी, प्रहसन आदि इसी के अंतर्गत आते हैं।

ध्वनि-नाटक के अंतर्गत काव्य-रूपक, संगीत-रूपक, झलकियाँ आदि आते हैं। ध्वनि-एकांकी में ध्वनि का ही महत्त्व होता है। ध्वनि में ही दृश्य का समाहार कर लिया जाता है। रेडियो नाटकों में कथा का विवरण देने के लिए एक सूत्रधार या नरेटर भी होता है, जो यथास्थान वर्णनात्मक प्रसंगों को सूचित करता चलता है।

टास्क एकांकी के प्रकारों को समझाइए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. 'अंधेर नगरी' नाटक की रचना .... ने की है।
2. .... द्वारा रचित 'एक घूँट' (1992) को हिन्दी का प्रथम एकांकी स्वीकार कर लिया गया है।
3. वर्ष .... में भुवनेश्वर के एकांकियों का संग्रह 'कारवां' प्रकाशित हुआ।

7.2 आत्मकथा

जीवनी साहित्य की भाँति ही आत्मकथा भी हिंदी गद्य साहित्य की एक सरस संस्मरणात्मक विधा है। संस्मरणात्मक होते हुए भी यह विधा संस्मरण साहित्य से भिन्न है। यह भी हिंदी की आधुनिक नवीन विधाओं में एक मुख्य विधा है। हिंदी साहित्य में आत्मकथा का प्रचलन अन्य भाषाओं की अपेक्षा बहुत कम है। तथ्य-विवेचना के संदर्भ में हिंदी की अन्य विधाओं की तुलना में आत्मकथा को अधिक पुष्ट एवं प्रामाणिक माना जाता है। जब कोई व्यक्ति स्वयं अपने बीते जीवन का व्यवस्थित वर्णन लिखता है, तब आत्मकथा की सृष्टि होती है।

आत्मकथा आशय–आत्मकथा का शाब्दिक अर्थ है– 'अपनी कथा'। जिस विधा में लेखक स्वयं ही अपना जीवन-वृत्त प्रस्तुत करे, उसे 'आत्मकथा' कहते हैं। अर्थात् आत्मकथा ऐसी जीवन-कथा है, जो उसी व्यक्ति द्वारा लिखी जाती है, जिसके जीवन-वृत्त का वर्णन अभीष्ट है। दूसरे शब्दों में अपने विषय में लिखे गए संस्मरणों का अधिक व्यवस्थित और विस्तृत रूप ही आत्मकथा है। इसे कुछ विद्वान् 'आत्मचरित' या 'आत्मचरित्र' भी कहते हैं।

आत्मकथा में लेखक निष्पक्ष भाव से अपने गुण-दोषों की सम्यक अभिव्यक्ति करता है और अपने चिंतन, संकल्प-विकल्प, उद्देश्य एवं अभिप्राय को व्यक्त करने हेतु जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों को उद्घाटित करता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इस साहित्यिक विधा में लेखक अपने वैयक्तिक जीवन के ही खट्टे-मीठे अनुभवों को क्रमानुसार बाह्य सामग्रियों तथा स्मृति के आधार पर लिपिबद्ध करता है।

वास्तव में आत्मकथा एक प्रकार का इतिहास भी है जिसमें तटस्थ भाव की अपेक्षा रहती है। इसमें लेखक पूरे युग और परिवेश का एक प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। स्मृति की धारा पर लिखी जाने के कारण यह विधा एक ओर जहाँ जीवनी के निकट जान पड़ती है तो वहीं दूसरी ओर वैयक्तिक घटनाओं के प्रस्तुतीकरण के कारण डायरी के समीप प्रतीत होती है। किंतु जीवनी की अपेक्षा 'आत्मकथा' व्यक्तिनिष्ठ अधिक होती है। अनुकूलताओं के साथ इसमें लेखक को अनेक प्रतिकूलताओं को भी चित्रित करना पड़ता है। अत: आत्मकथा में अविश्वसनीय यथार्थ एवं कल्पित बातों का समावेश वर्जित रहता है। बिना कुरूपता या अवगुण को छिपाये अतीत जीवन की सम्यक अभिव्यक्ति ही शुद्ध आत्मकथा बन जाती है। आत्मकथा में चित्रण की अपेक्षा वर्णन का प्राधान्य रहता है। संस्मरण की तरह इसमें भी आत्मीयता, स्पष्टवादिता, सुसंगठितता, स्वभाविकता आदि गुण विद्यमान रहते हैं। फिर भी, आत्मकथा संस्मरण का ही एक रूप है।

7.2.1 आत्मकथा-लेखक के लिए अपेक्षित गुण/विशेषताएँ

'आत्मकथा' लेखन एक कठिन कार्य है। दिनकर जी भी आत्मकथा-लेखन को बड़े साहस का कार्य मानते थे। शरच्चन्द्र के प्रशंसकों ने उनसे आत्मकथा लिखने का आग्रह किया तो उनका कथन था–'यदि मुझे यह मालूम होता है कि 'आत्मकथा' लिखनी होगी, तो कुछ और ही जीवन जिया होता।' आत्मकथा लिखने में लेखक को तटस्थ और अपने प्रति निर्मम होना पड़ता है। यदि आत्म-निरीक्षण से प्राप्त तथ्यों को तटस्थ होकर अभिव्यक्त न किया गया तो आत्मकथा-लेखन का कोई अर्थ नहीं है। आत्मकथा-लेखन में एकान्तिक वातावरण की अपेक्षा होती है, साथ ही लेखक को ईमानदार होना आवश्यक है। इसमें साधक, साध्य और सिद्धि का केंद्रबिंदु एक ही है और वह है स्वयं लेखक की आत्मा। अत: आत्मवादी हुए बिना उत्कृष्ट आत्मकथा नहीं लिखी जा सकती है।

आत्मकथा में लेखक का प्रतिपाद्य स्वयं लेखक होता है। अपने जीवन का सांगोपांग विश्लेषण करने के लिए ही आत्मकथा लिखी जाती है। आत्मकथा वास्तव में एक महापुरुष की जीवन-गाथा का महाकाव्य है। इस आत्मकथा-रूपी महाकाव्य का नायक, दर्शक, पाठक और लेखक वह स्वयं होता है। महात्मा गाँधी, डॉ. राजेंद्र प्रसाद, राहुल सांकृत्यायन आदि की आत्मकथाएँ इसके उदाहरण हैं।

7.2.2 आत्मकथा के रूप

आत्मकथा में मानव-जीवन का वृत्तांत उसके शब्द-शब्द में व्यक्त होता है। समाज के जिस क्षेत्र का व्यक्ति होगा, तदनुरूप उसकी आत्मकथा होगी। हिंदी साहित्य में आत्मकथा साहित्य बहुत कम रचा गया है। जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उसको प्रवृत्तिगत विभिन्नताओं के आधार पर डॉ. गोविंद त्रिगुणायत ने तीन वर्गों में बाँटा है–

(1) धार्मिक प्रवृत्ति-प्रधान व्यक्तियों की आत्मकथाएँ–धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों की आत्मकथाएँ धर्म-प्रधान होती हैं। इस कोटि की आत्मकथाओं में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं। यथा–

1. वियोगी हरि कृत 'मेरा जीवन-प्रवाह'।
2. हरिभाऊ उपाध्याय कृत 'साधना के पथ पर'।
3. भवानीदयाल संन्यासी कृत 'प्रवासी की कहानी'।

(2) राजनीतिक प्रवृत्ति-प्रधान व्यक्तियों की आत्मकथाएँ–राजनीतिक नेताओं का जीवन एक संघर्ष का जीवन होता है। उत्थान-पतन उनके जीवन के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष होते हैं। भाग्य-चक्र उन्हें किस समय किस पक्ष की ओर ले जाकर पटकता है, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। इन लोगों की आत्मकथाओं का सौंदर्य भाग्य के इसी उत्थान-पतन की कहानी को सच्चाई से अभिव्यक्त करने में निहित रहता है। महात्मा गाँधी, डॉ. राजेंद्र प्रसाद, पं. जवाहरलाल नेहरू कृत 'मेरी कहानी' आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इसी कोटि के अंतर्गत आती हैं।

(3) साहित्यकारों के जीवन की आत्मकथाएँ–साहित्यकार के आत्मकथात्मक वर्णनों में एक प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति रहती है और सुरभि भी। हिंदी के अनेक साहित्यकारों ने भी अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं। यथा–डॉ. श्यामसुंदरदास कृत 'मेरी आत्म-कहानी', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' कृत' 'अपनी खबर', देवेंद्र सत्यार्थी कृत

नोट

'चाँद-सूरज के बीरन', कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी कृत 'स्वप्न-सिद्धि की खोज में', सेठ गोविंददास कृत 'आत्म-निरीक्षण' भाग-3, यशपाल कृत 'सिंहावलोकन' भाग-3, वृंदावनलाल वर्मा कृत 'अपनी कहानी', राजकमल चौधरी कृत 'भैरवी-तंत्र', राहुल सांकृत्यायन कृत 'मेरी जीवन-यात्रा', डॉ. रामविलास शर्मा कृत 'घर की बात' अमृतलाल नागर कृत 'टुकड़े-टुकड़े दास्तान', बच्चन कृत चार-खंडीय आत्मकथा आदि प्रमुख हैं।

सारतः, हिंदी का संस्मरण साहित्य 20 वीं शताब्दी में जन्मा है, परंतु अल्पकाल में ही उसमें उल्लेखनीय प्रगति हुई है। आज हर साहित्यकार अपने संपर्क में आये महान् व्यक्ति विशेष के संबंध में अपने संस्मरणात्मक विचारों को रूपायित कर अपने अनुभवों को स्थायी बनाना चाहता है। हिंदी में संस्मरण साहित्य की प्रगति देखकर लगता है कि भविष्य में संस्मरण-साहित्य निबंध, कहानी और उपन्यास से अधिक रोचक एवं उत्कृष्ट हो जाएगा और अपने अपूर्व भंडारण से हिंदी गद्य को महार्घ अवदान प्रदान करेगा। अस्तु, हिंदी का संस्मरण साहित्य आज बहुत समृद्ध और पर्याप्त लोकप्रिय हो चुका है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. 'टुकड़े-टुकड़े दास्तान' आत्मकथा किसकी रचना है?

   (अ) कन्हैयालाल (ब) रामविलास शर्मा

   (स) अमृतलाल नागर (द) राहुल सांकृत्यायन

5. 'आत्मकथा' अधिक होती है–

   (अ) व्यक्तिनिष्ठ (ब) वस्तुनिष्ठ

   (स) न (*a*) और न (*b*) (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

6. भवानी दयाल संन्यासी द्वारा लिखी 'प्रवासी की कहानी' है–

   (अ) कर्मप्रधान (ब) धर्मप्रधान

   (स) व्यापारप्रधान (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

7.3 जीवनी

साहित्यिक विधाओं के अंतर्गत जीवनी साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विधा में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्य परिवेश से प्रभावित महामानवों, मनीषियों और कलाकारों का जीवन-वृत्त वर्णित होता है। यह लेख-कला का सबसे सुकोमल और सहानुभूतिपूर्ण स्वरूप है। साहित्य की यह विधा यद्यपि प्राचीन है तथापि इसका वास्तविक विकास आधुनिक युग में ही हुआ। जैसे कि डॉ. रामचंद्र तिवारी ने लिखा है–"आधुनिक युग में वैज्ञानिक और बौद्धिक जीवन-दृष्टि के विकास के साथ ही जीवनी-साहित्य लिखने की परंपरा पल्लवित हुई और अब तो जीवनी-साहित्य हिंदी-गद्य की एक पृथक् विधा के रूप में मान्य है।" जीवनी साहित्य का एक छोर स्फुट संस्मरण तक माना जाता है और दूसरा छोर उस जीवनी को जिसमें जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत तक का इतिहास हो।

अर्थ-परिभाषा एवं स्वरूप–'जीवन' शब्द जहाँ व्यक्ति-जीवन की बाह्य, घटनाओं को उद्घाटित करता है, वहाँ चरित्र उसकी आंतरिक विशेषताओं को प्रकट करता है। इस प्रकार 'जीवनी का आशय है–'जीवन-चरित'। जीवन चरित का अभिप्राय-जीवनवृत्त, जीवनवृत्तांत और जीवन चरित्र है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष के बाह्य एवं आंतरिक जीवन का प्रकाशन होता है। अंग्रेजी में इसे 'लाइफ' अथवा 'बायोग्राफी' कहते हैं। हिंदी में जीवनी को जीवन चरित्र या जीवन चरित भी कहा जाता है।

जीवनी साहित्य-विधा के शास्त्रीय पक्ष का विवेचन अभी तक हिंदी में न के बराबर है। पाश्चात्य विद्वानों ने अवश्य इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न किया है। यहाँ कुछ प्रसिद्ध पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों द्वारा दी गई पारिभाषिक व्याख्याएँ इस प्रकार हैं–

1. **पाश्चात्य विद्वान जान्सन के अनुसार–**"जीवनीकार का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रियाकलापों का रंजक वर्णन करना होता है, जो व्यक्ति विशेष की बड़ी से बड़ी महानता से लेकर छोटी से छोटी घरेलू बातों तक से संबंधित होती हैं।" यह परिभाषा बहुत पुरानी है। आज की साहित्यिक जीवनी विधा के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने में असमर्थ सी है।

2. **पाश्चात्य विद्वान् प्रो. शिप्ले के मतानुसार–**"जीवनी किसी व्यक्ति विशेष की जीवन-घटनाओं का विवरण है। अपने आदर्श रूप से वह प्रयत्नपूर्वक लिखा गया इतिहास है, जिसमें व्यक्ति-विशेष के संपूर्ण जीवन या उसके किसी अंश से संबंधित बातों का विवरण मिलता है। यह आवश्यकताएँ उसे एक साहित्यिक विधा का रूप प्रदान करती हैं।" प्रो. शिप्ले की यह परिभाषा भी अस्पष्ट है।

3. **वाइवियन डी. सोला का कथन है–**"इतिहास की दृष्टि से जीवनी-आलोचनात्मक, प्रज्ञा तटस्थ उत्सुकता, विवरणों के औचित्यपूर्ण-विश्लेषण और चयन पर बल देती है। साहित्य की दृष्टि से इसमें अवयव संबंधी एक सूत्रता रहती है। इसमें सहृदयों की सौंदर्यात्मक वृत्ति की परितुष्टि कारिणी विशेषता भी पाई जाती है। इतिहास और साहित्य के अतिरिक्त जीवनी व्यक्ति विशेष का अध्ययन भी है।...........उसकी अभिव्यक्ति इस ढंग से की जानी चाहिए कि उससे यह प्रतीत हो कि लेखक का उस व्यक्ति विशेष से जिसकी जीवनी वह लिख रहा है–घनिष्ठ संबंध रहा है, उससे वह बहुत बेतकल्लुफ है। उसकी इस बेतकल्लुफी की अभिव्यक्ति जीवनी में अवश्य होनी चाहिए। .... जीवनी की अभिव्यक्ति बहुत स्वाभाविक और सहज-गति से अथवा बेतकल्लुफी से की जानी चाहिए।

उपर्युक्त परिभाषाओं में जीवनी को तीन तत्त्वों की त्रिवेणी से स्पष्ट किया गया है। एक ओर तो जीवनी इतिहास है, दूसरी ओर साहित्यिकता से अनुप्राणित होती है। और तीसरी ओर वह व्यक्ति-विशेष का तटस्थ किंतु बेतकल्लुफी पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करती है। वस्तुत: जीवनी का वास्तविक स्वरूप यही है। इस प्रकार जीवनी साहित्यिक विधा होते हुए भी व्यक्ति विशेष के जीवनवृत्त का ऐतिहासिक प्रस्तुतीकरण है।

4. **जीवन के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ. गोविंद त्रिगुणायत ने लिखा है–**"जीवन-कथा वह साहित्यिक विधा है–जिसमें भावुक कलाकार किसी व्यक्ति के संपूर्ण जीवन या उसके जीवन के किसी भाग का वर्णन परम सुपरिचित ढंग से इस प्रकार व्यक्त करता है कि उस व्यक्ति की सच्ची जीवन-गाथा के साथ-साथ कलाकार का हृदय भी मुखरित हो उठता है।"

अत: स्पष्ट है कि किसी भी उल्लेखनीय, महत्त्वपूर्ण महामानव के जीवन-चरित को जब लेखक तटस्थ भाव से द्रष्टा बनकर जिस विधा में व्यक्त करता है, उसे जीवनी कहते हैं। दूसरे शब्दों में किसी व्यक्ति द्वारा लिखित महान् पुरुषों के क्रमबद्ध जीवन परिचय को जीवनी कहते हैं। इसमें व्यक्ति विशेष के जीवन की जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं की रुचिर और सुंदर रसात्मक अभिव्यक्ति होती है। व्यक्ति की छोटी से छोटी बात भी उपेक्षणीय नहीं होती, क्योंकि वही उसके व्यक्तित्व की प्रकाशिका होती है।

जीवनी में घटनाएँ यथार्थ और वास्तविक होती हैं। लेखक उनके सजाने, सँवारने और संयोजन में अपनी उर्वर कल्पनाशक्ति का उपयोग करता है। संयोजन और व्यवस्थापन में जो एक सूत्रता रहती है, वही कलात्मक होती है और वही जीवनी साहित्य को इतिहास से भिन्न कर देती है।

लेखक जीवनी लिखने में जो वृत्ति अपनाता है, वह तटस्थता की नहीं होती, अपितु घनिष्टता की होती है। ऐसा लगता है कि वह जिसके जीवन का वृत्तांत लिख रहा है, उसका वह अंतरंग रहा है और उसकी बाह्य-आंतरिक बातों की उसे पूर्ण जानकारी है। उसकी अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता और सहजता अपेक्षित है।

जीवनी-लेखन के लिए लेखक में ऐसी दृष्टि होनी चाहिए जो चरितनायक के जीवन की बिखरी हुई घटनाओं को एक सूत्रता में पिरो सके। यह एक ऐसा साहित्यिक विधा है जिसमें न कोरा तथ्य निरूपित हो और न कोरी कल्पना।

ऐसा ही डॉ. हरदयाल का भी कहना है–"साहित्यिक विधा के रूप में जीवनी-लेखक का अपना एक दृष्टिकोण होना चाहिए, जिससे कि चरित नायक के जीवन की बिखरी हुई घटनाओं को एकसूत्रता प्रदान की जा सके। यदि घटनाओं की अंतर्वर्तिनी एकता को खोज सकने वाली दृष्टि का जीवनी-लेखक में अभाव है तो जीवनी-चाहे उसका चरितनायक कितना भी रोचक एवं महान् व्यक्तित्व-संपन्न, व्यक्ति क्यों न हो स्थायी महत्त्व की कलात्मक रचना नहीं बन सकती।"

> *नोट्स* जीवनी इतिहास नहीं है। इतिहास में व्यक्ति का स्वरूप देश-सापेक्ष होता है जबकि जीवनी में सारी विवृत्ति व्यक्ति-सापेक्ष होती है।

ऐतिहासिक तथ्यों में नीरसता की संभावना अधिक रहती है किंतु जीवनी में कलाकार के भावुक हृदय के उच्छ्वास की झलक उठने के कारण उपन्यास जैसी रोचकता आ जाती है। इतना अवश्य है कि जीवनी से देश काल की घटनाओं पर किंचित प्रकाश पड़ जाता है, फिर भी, उसमें व्यक्तित्व की ही प्रधानता निहित रहती है। जीवनी-लेखक को अपनी संपूर्ण विवृत्ति में आत्मीयता और सहानुभूतिपूर्ण वातावरण बनाए रखने की आवश्यकता पड़ती है। उसके लिए यह जरूरी नहीं होता कि वह जिसकी जीवनी लिख रहा है, उससे प्रत्यक्ष परिचित ही हो। वह ऐसे व्यक्ति की भी जीवनी लिख सकता है, जिससे उसका कोई परिचय न हो। जीवनी में घटनाओं का अंकन ही नहीं होता, अधिक चित्रण भी होता है क्योंकि उसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्णतया उभर कर आता है। वास्तव में जीवनी व्यक्तित्व का यथार्थ और सच संप्रेषण है।

7.3.1 जीवनी-लेखक के लिए ध्यातव्य बातें/विशेषताएँ

जीवनीकार के लिए यह अपेक्षित होता है कि वह प्रामाणिक तथ्यों को एकत्र कर उन्हें सहानुभूतिपूर्ण शैली में संयोजित कर दे। वह जिस व्यक्ति चरित्र को अंकित कर रहा है, उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि अपनाकर यथावसर उसके गुण-दोषों को उजागर करता जाए। उसे यह भी ध्यान में रखना पड़ता है कि जीवनी लेखन में अनावश्यक बातों का समावेश न होने पाए और आवश्यक बातें छूट न जाएँ। इतना नहीं बल्कि जीवनी लिखते समय जीवनी लेखक व्यक्ति के जीवनी की घटनाओं को विश्रृंखलित नहीं कर सकता। उसे घटना का तटस्थ भाव से वर्णन करना पड़ता है। इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए पं. श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि "जीवनी किसी व्यक्ति के जीवन का शब्द-चित्र है और इसलिए जीवनी-लेखक की लेखनी-तालिका से अंकित चित्र यथार्थ होना चाहिए। उसे निष्पक्ष रूप से न्यायाधीश की भाँति जीवनी-नायक के जीवन पर सम्मति देना चाहिए। हाँ, लेखन कला-कौशल इसमें है कि जीवनी-चित्र में रंग आवश्यकता से अधिक गहरा या फीका न हो और चरित्र-विश्लेषण का आधा जीवनी नायक की घटनाओं अथवा दुर्घनाओं संबंधी सामग्री होना चाहिए न कि अपनी मनोभावना मात्र।"

डॉ. कमलेश ने भी जीवनी-लेखन को एक दुरुह कर्म बताते हुए कहा है–"जीवनी लिखना श्रम-साध्य कार्य है और उसमें बहुत कुछ सतर्कता बरतनी पड़ती है। चरितनायक के देवत्व अथवा राक्षसत्व का संतुलित रूप समक्ष रखकर ही कठिन कार्य संपन्न हो सकता है और उसी से पाठक तक जीवनोपयोगी तथ्यों का संकलन कर सकता है। अत्यधिक प्रशंसा अथवा अत्यधिक निंदा से बचना जीवनी लेखक के लिए नितांत आवश्यक है।"

7.3.2 जीवनी के तत्त्व

मनीषियों, आलोचकों एवं विद्वानों ने जीवनी को कहानी और उपन्यास के अत्यंत निकट की वस्तु स्वीकार किया है। अत: जो तत्त्व कहानी और उपन्यास में आवश्यक होते हैं उन्हीं तत्त्वों को जीवनी में भी होना चाहिए।

1. **घटना**–जीवनी का अपना स्वयं एक इतिहास होता है। इसका वास्तविकता से संबंध होता है। इसलिए लेखक पूरे इतिहास को न लिखकर केवल महत्त्वपूर्ण घटनाओं को ही लिखता है। अस्तु, जीवनी में सही-वास्तविक घटनाओं एवं तथ्यों का ही समावेश पाया जाता है।

नोट

2. चरित्र–जीवनी-लेखक द्वारा लिखे जाने वाले विषय पर चरित्र-नायक केवल वही व्यक्ति होता है। जिसने देश, जाति या इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया हो।

3. देशकाल–देश-काल का जीवनी में बड़ा महत्त्व होता है। जीवनी में देश-काल का प्रत्यक्ष चित्रण नहीं होता। जब लेखक नायक से संबंधित घटनाओं का उल्लेख करता है तब देश-काल अथवा वातावरण स्वत: ही उभरकर सामने आ जाता है।

4. भाषा-शैली–जीवनी की भाषा-शैली घटनाओं के चयन, विश्लेषण और उसके प्रस्तुतीकरण के आधार पर होनी चाहिए। इसके साथ ही जीवनी में निरपेक्षता का भाव भी होना आवश्यक है; क्योंकि सापेक्षिता में तो अंध-भक्ति की प्रधानता होती है। जीवनी की भाषा संतुलित, सहृदयतापूर्ण तथा शैली सहज, सरल, भावपूर्ण तथा चित्ताकर्षक होनी चाहिए।

जीवनी की विशेषताएँ–डॉ. भगवान् शरण भारद्वाज ने जीवनी की अधोलिखित सात विशेषताओं का निर्देश किया है–

1. **ऐतिहासिक सत्यता**–जीवनी को इतिहास की दृष्टि से सत्य होना चाहिए, नहीं तो उसे प्रामाणिक नहीं माना जाएगा।
2. **तटस्थता**–जीवनी-लेखक को तटस्थ रहना आवश्यक होता है, क्योंकि लेखक यदि तटस्थ नहीं रहेगा तो सही तथ्य सामने नहीं आ सकेंगे। फिर जीवनी 'जीवनी' न रहकर स्तुति-ग्रंथ बन जाएगी।
3. **वैज्ञानिकता**–जीवनी-लेखक को चाहिए कि सामग्री का चयन और उसका विश्लेषण वैज्ञानिक आधार पर करे।
4. **मनोदशा का विश्लेषण**–जीवनी में नायक की मनोदशा का भी वर्णन होना चाहिए और यह तभी संभव है जब लेखक इतना सामर्थ्यवान हो कि वह नायक की मन: स्थिति का समग्रदृष्टि से विश्लेषण कर सके।
5. **साहित्यिकता**–जीवनी में साहित्यिकता भी होनी चाहिए, क्योंकि जीवनी एक साहित्यिक विधा है।
6. **मानवीयता**–जीवनी में आवश्यक मानवीयता का पुट होना अति आवश्यक है।
7. **देशकाल**–देशकाल का निरूपण भी जीवनी में होना अपेक्षित है।

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. 'जीवनी' को अंग्रेजी में बायोग्राफी कहा जाता है।
8. 'जीवनी' का आशय है–जीवन चरित।
9. 'जीवनी' बिना प्रामाणिक तथ्यों के भी लिखी जा सकती है।
10. 'जीवनी' में साहित्यिकता भी होनी चाहिए क्योंकि युद्ध एक साहित्यिक विधा है।

7.4 सारांश (Summary)

- महाकवि भास का 'उरुभंग' और नीलकंठ का 'कल्याण सौगंधिक' एकांकी के आदि रूप हैं।
- हिंदी में आधुनिक एकांकी अंग्रेजी एकांकियों से दो दशक बाद लिखा जाने लगा। सामान्यत: जयशंकर प्रसाद का 'एक घूँट' (1999) हिंदी का प्रथम एकांकी स्वीकार कर लिया गया है।
- नाटक और एकांकी दोनों का संबंध रंगमंच से है। फिर भी दोनों की संरचना में काफ़ी अंतर है। कहानी-उपन्यास में जो संरचनात्मक अंतर दिखाई पड़ता है, बहुत कुछ वैसा ही अंतर एकांकी और नाटक में देखा जा सकता है।
- एकांकी ज्वलंत मूल्यों से जुड़ा रहता है। इसके अभाव में उसकी प्रभावान्विति में कमी आ जाएगी।

नोट

- आत्मकथा वास्तव में एक महापुरुष की जीवन-गाथा का महाकाव्य है। इस आत्मकथा-रूपी महाकाव्य का नायक, दर्शक, पाठक और लेखक वह स्वयं होता है।
- जीवनी साहित्य का एक छोर स्फुट संस्मरण तक माना जाता है और दूसरा छोर उस जीवनी को जिसमें जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत तक का इतिहास हो।

7.5 शब्दकोश (Keywords)

- प्रहसन – प्रसन्नतापूर्वक हँसना
- तटस्थता – उदासीनता, नव लेखन में प्रचलित वह स्थति जिसमें साहित्यकार किसी मतवाद को स्वीकार न करें।

7.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. एकांकी से क्या अभिप्राय है? इसके विभिन्न प्रकार बताइए।
2. आत्मकथा से आप क्या समझते हैं? आत्मकथा के विभिन्न रूप लिखिए।
3. जीवनी साहित्य क्या है?
4. जीवनी के तत्त्वों को लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. भारतेन्दु हरिश्चंद्र	2. जयशंकर प्रसाद	3. 1936	4. (स)
5. (अ)	6. (अ)	7. सत्य	8. सत्य
9. असत्य	10. सत्य।		

7.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. बिहार का संस्मरण साहित्य – *डा. आशा कुमारी।*

इकाई–8 : रेखाचित्र, संस्मरण तथा रिपोर्ताज का परिचय

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
8.1 रेखाचित्र
8.1.1 रेखाचित्र के लिए ध्यातव्य बातें
8.2 संस्मरण
8.2.1 संस्मरण-लेखक के लिए ध्यातव्य बातें/विशेषताएँ
8.2.2 संस्मरण के तत्त्व या उपकरण
8.3 रिपोर्ताज : परिभाषा, स्वरूप एवं विकास
8.4 सारांश (Summary)
8.5 शब्दकोश (Keywords)
8.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
8.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- रेखाचित्र का अर्थ जानने हेतु।
- संस्मरण का अर्थ ग्रहण कर, उसकी व्याख्या करने हेतु।
- संस्मरण के तत्त्वों को समझने हेतु।
- रिपोर्ताज के तत्त्वों को समझने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

रेखाचित्र हिंदी साहित्य की अभ्यतम, महत्त्वपूर्ण और आधुनिक विधा है। यह चित्रकला और साहित्य के सुंदर सुहाग से उद्‌भूत एक अभिनव कला-रूप है। रेखाचित्र-लेखक साहित्यकार के साथ-साथ चित्रकार भी होता है। थोड़े-से शब्दों में किसी वस्तु, घटना, तथ्य और दृश्य को अंकित कर देना अथवा किसी व्यक्ति का सजीव चित्र शब्दांकित कर देना बहुत ही कठिन काम है। "जिस प्रकार चित्रकार को चित्र-निर्मिति के समय तूलिका को बहुत ही कुशलता और सफाई से चलाना पड़ता है, अन्यथा रंग के किंचित् गहरे या हल्के हो जाने से चित्र बिगड़ सकता है, उसी प्रकार रेखाचित्रकार को अपने शब्द-चित्र की निर्मिति में बहुत ही सावधान रहना पड़ता है। एक-एक शब्द की प्रयुक्ति में उसकी कुशलता अपेक्षित होती है।" रेखाचित्र में किसी वस्तु, स्थान घटना, दृश्य अथवा व्यक्ति के बाह्य रूप के

नोट

माध्यम से उसकी आंतरिक विशेषता को उद्‌घाटित करने का यत्न किया जाता है। चित्रकला के समान ही रेखाचित्र की विषयवस्तु की संघटना देशानुरूप होती है।

8.1 रेखाचित्र

रेखाचित्र का शाब्दिक अर्थ है–'रेखाओं से बने चित्र।' अँग्रेजी में इसे 'थंब-नेल स्केच' अर्थात् 'अँगूठे के नाखून से निर्मित रेखांकन' कहते हैं। पर साहित्य-क्षेत्र में इसका कोई अर्थ नहीं निकलता। रेखाचित्र का साहित्यिक आशय है–'शब्द-चित्र'। वस्तुत: 'रेखाचित्र' अंग्रेजी 'स्केच' का हिंदी पर्याय है। 'रेखाचित्र' के लिए हिंदी में 'व्यक्ति-चित्र', 'शब्द-चित्र', 'व्यक्ति-चित्र-लेख' आदि अन्य नामों का भी प्रयोग होता है। इन तीनों नामों से अधिक उपयुक्त शब्द 'रेखाचित्र' ही है जो आजकल इस विधा के लिए रूढ़ हो चुका है।

'रेखाचित्र' को एक निश्चित परिभाषा में बाँध पाना निश्चय ही दुष्कर कार्य है। डॉ. गोविंद त्रिगुणायत ने रेखाचित्र को परिभाषित करते हुए कहा है, कि "जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका के कलामय स्पर्श से चित्र-पटल पर अंकित विशृंखल रेखाओं में से कुछ अधिक उभरी हुई रेखाओं को सँवारकर एक सजीव रूप प्रदान कर देता है, उसी प्रकार रेखाचित्रकार मन:पटल पर विशृंखल रूप में बिखरी हुई शत-शत स्मृति-रेखाओं में से उभरी हुई रमणीय रेखाओं को अपनी कला की तूलिका से स्वानुभूति के रंग में रंजित कर जीते-जागते शब्द-चित्र में परिणत कर देता है। यही शब्द-चित्र रेखाचित्र कहलाता है।"

नोट्स डॉ. भागीरथ मिश्र के अनुसार–"संपर्क में आए किसी विलक्षण व्यक्तित्व अथवा संवेदना को जगाने वाली सामान्य विशेषताओं से युक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र के मर्मस्पर्शी स्वरूप को, देखी-सुनी या संकलित घटनाओं की पृष्ठभूमि में इस प्रकार उभार कर देखना कि उसका हमारे हृदय में एक निश्चित प्रभाव अंकित हो जाए 'रेखाचित्र' या 'शब्द-चित्र' कहलाता है।"

तात्पर्य यह है कि रेखाचित्र संवेदना को जगाने वाली किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना का शब्दों द्वारा विनिर्मित वह मर्मस्पर्शी और भावमय रूप-विधान है जिसमें लेखक का संवेदनशील हृदय और उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-दृष्टि अपना निजीपन उड़ेल कर प्राण-प्रतिष्ठा कर देती है।

संक्षेप में रेखाचित्र साहित्य की वह गद्यात्मक विधा है जो अपने सीमित कलेवर में किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान, घटना, दृश्य अथवा भाव का शब्द-रेखाओं से संवेदनशील चित्र उद्‌घाटित करती है। इसमें पात्रों का चरित्रोद्‌घाटन तथा देशकाल पर विशेष ध्यान दिया जाता है। अपनी संक्षिप्त परिधि में जो कुछ इसमें चित्रित होता है, उसमें समस्त जीवन की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति की मूर्तिमत्ता ही रेखाचित्र की आत्मा है।

8.1.1 रेखाचित्र के लिए ध्यातव्य बातें

रेखाचित्र में उकेरे गए चित्र स्थिर और गत्यात्मक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। चित्र चाहे जैसा हो, पर वह लेखक की संवेदनशीलता और भाव-प्रवणता से प्रभावित अवश्य होना चाहिए।

क्या आप जानते हैं लेखक जितना ही अधिक संवेदनशील और उन्मुक्त व्यक्तित्व का होगा, वह उतनी ही सफलता के साथ रेखाचित्र का अंकन कर सकता है।

फिर भी रेखाचित्र-लेखक को शब्दांकन में तीन बातों पर विशेष ध्यान देना अपेक्षित होता है। (1) विशद स्थूल चित्रण। (2) क्रियाओं या कृत्यों का आकलन और (3) देशकालानुरूप भाषा का प्रयोग।

विशेषताएँ–रेखाचित्र की विशेषता यह है कि यदि वह एक बार हृदय को संस्पर्श कर ले, तो उसका चित्र वर्षों तक हृदय-पटल पर धूमिल नहीं होता, उसका प्रभाव अमिट-अमर होता है। साकारता, सजीवता, भावनात्मकता तथा बिंबविधान रेखाचित्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

अपेक्षित तत्त्व–रेखाचित्र हिंदी गद्य साहित्य की एक नवीन किंतु सशक्त विधा है। इसकी सुस्पष्ट रेखा प्रस्तुत करना आलोचकों के लिए चिंतन का विषय है। कारण कि इसमें कुछ तत्त्व निबंध के हैं कुछ कहानी के। किंतु यह न तो निबंध है और न ही कहानी। निबंध इस कारण नहीं है कि यह उसकी तरह शुष्क और तथ्यात्मक नहीं होता। कहानी इसलिए नहीं कि इसमें काल्पनिकता कम और अभिव्यक्ति यथार्थपरक होती है। वस्तुत: रेखाचित्र कहानी और निबंध के बीच एक स्वतंत्र विधा है। रेखाचित्र के अग्रलिखित तत्त्व माने जाते हैं–

1. **विषय-वस्तु**–रेखाचित्र की वर्ण्य वस्तु कुछ भी हो सकती है। व्यक्ति, घटना, वस्तु, वातावरण, दृश्य, भाव, विचार, समस्या आदि में किसी पर रेखाचित्र लिखा जा सकता है। विषय-वस्तु रेखाचित्र की आत्मा है। अत: विषयवस्तु में सूक्ष्मता और तीव्रता आवश्यक है। तीव्रता के साथ-सजीव रेखाचित्र के लिए विषय-वस्तु में सांकेतिकता भी होनी चाहिए।

2. **चारित्रिक उभार**–रेखाचित्र में पात्रों की बाह्य वेश-भूषा तथा आकृति-चित्रण पर विशेष बल दिया जाता है। रेखाचित्र-लेखक में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह मानव-मन की अतुल गहराइयों में पैठ कर भाव-रूपी मोती को उद्घाटित कर सके। उसे मानव-स्वभाव का सूक्ष्म पारखी भी होना चाहिए।

3. **भाव-व्यंजना**–भाव-व्यंजना रेखाचित्र की वह भित्ति है जिस पर उसका भव्य महल खड़ा होता है। दृश्य अथवा व्यक्ति के संपर्क में आने से लेखक के मन में जो भाव उठते हैं, उन्हें पाठक के मन:पटल पर अंकित करना वास्तव में रेखाचित्रकार का उद्देश्य होता है। भावात्मकता के साथ-साथ रेखाचित्र को तटस्थ दृष्टि अपनाना अनिवार्य है।

4. **तथ्यपरक यथार्थ चित्रण**–रेखाचित्र वही सुंदर और श्रेष्ठ माना जाता है, जो तथ्यपरक यथार्थ से युक्त हो। इसके लिए रेखाचित्रकार ऐसे पात्रों को चुनता है जिनमें निजी और वर्गगत विशेषताएँ एक साथ प्रस्तुत की जा सकें।

5. **त्वरामूलक संकेतात्मकता**–रेखाचित्र में गतिशीलता और संकेतात्मकता का होना आवश्यक है। संकेतात्मकता का आशय है–कतिपय वाक्यांशों द्वारा संपूर्ण परिवेश का चित्रांकन। ये संकेत विवरणात्मक, प्रतीकात्मक, मनोवैज्ञानिक, संवेदनामूलक, समस्यामूलक, वातावरण-विषयक आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं। ऐसा प्रयोग एक कुशल लेखक ही कर सकता है। रेखाचित्रकार अपने उद्देश्य की ओर त्वरा-मूलक या तीव्र गति के साथ बढ़ता है। उसे थोड़े समय में कम शब्दों के माध्यम से संपूर्ण वातारण का आंतरिक एवं बाह्य चित्र अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अंकित करना होता है।

6. **शैली**–अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम शैली है। रेखाचित्रों में शैली के जिन गुणों का विशेष महत्त्व है, उनमें चित्रात्मक शैली का प्रथम स्थान है। शब्द-शक्तियों का अवसरानुकूल प्रयोग रेखाचित्र शैली की द्वितीय विशेषता है। रेखाचित्र की भाषा में चित्रोपमता का होना अनिवार्य है।

7. **सोद्देश्यता**–रेखाचित्र में उद्देश्य उपदेश की भाँति ऊपर से थोपा नहीं जाता, अपितु वह रचना के भीतर निहित रहता है। रेखाचित्र मात्र का उद्देश्य है–लेखक के संपर्क में आए व्यक्ति विशेष अथवा देखे गए दृश्य का मर्मस्पर्शी एवं भावपूर्ण अंकन करना।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. रेखाचित्र को अंग्रेजी में .... कहा जाता है।

नोट

2. विषय-वस्तु रेखाचित्र की .... है।
3. रेखाचित्र वही सुंदर माना जाता है, जो .... यथार्थ से युक्त हो।

8.2 संस्मरण

रेखाचित्र की तरह आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य में संस्मरण भी एक आकर्षक एवं आत्मनिष्ठ आधुनिकतम विधा है। जीवनी-परक साहित्य का यह अत्यंत ललित एवं लघु कलात्मक अंग है। जीवन-अभिव्यक्ति का यह रूप संस्मरण पर आधारित है। वस्तुत: संस्मरण किसी स्मर्यमाण की स्मृति का शब्दांकन है। संस्मरणकार अपनी स्मृति के धरातल पर अपने व्यक्तिगत जीवन में अपने संपर्क में आए हुए अन्य व्यक्तियों के जीवन के विशिष्ट पहलू को कथात्मक शैली में रेखांकित करता है। हर व्यक्ति अपने जीवन में अनेक व्यक्तियों के संपर्क में आता है। सामान्य व्यक्ति उन क्षणों को विस्मृत कर देता है, किंतु संवेदनशील एवं भावुक व्यक्ति इन स्मृतियों को अपने मन: पटल पर अंकित कर लेता है। इन क्षणों की स्मृति जब कभी उसे आकुल कर देती है तभी संस्मरण साहित्य की सृष्टि होती है।

संस्मरण के मूल में अतीत की स्मृतियाँ निहित रहती हैं, जो व्यक्तिगत संपर्क का परिणाम होती हैं। उन्हीं स्मृतियों को संस्मरणकार सजीव रूप में प्रस्तुत करता है। 'संस्मरण-लेखक जो कुछ देखता है और अनुभव करता है, उसे अपनी अनुभूतियों में राग-संजित कर प्रस्तुत कर देता है। वह इतिहाकार की भाँति तथ्यपरक विवरण भर नहीं देता, वरन् अपनी अनुभूतियों को साहित्यिकता से अभिमंडित कर उपस्थित करता है। संस्मरणकार केवल महत्त्वपूर्ण बातों को ही नहीं लेता है, अपितु छोटी-से-छोटी घटना को भी चारुता के साथ अंकित कर देता है।

अंग्रेज़ी में संस्मरण के लिए दो शब्द प्रचलित हैं–(1) रेमिनिसेंसेज (2) मेम्वॉयर्स। जब लेखक अपने विषय में संस्मरण लिखता है तो उसे 'रेमिनिसेंसेज' कहा जाता है और जब वह किसी अन्य व्यक्ति के लिए लिखता है तो उसे 'मेम्वॉयर्स' कहते हैं। पर हिंदी में इन दोनों के लिए एक ही शब्द है–'संस्मरण' जो अधिक आत्मपरकता-द्योतक शब्द है।

'संस्मरण' शब्द 'सम् + स्मृ + ल्युट् (अण) से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है–'सम्यक् स्मरण', 'भली प्रकार से स्मृति'। सम्यक् शब्द का अर्थ है–'पूर्णरूपेण' और पूर्णरूपेण का आशय है–'सहज आत्मीयता तथा गंभीरता से किसी व्यक्ति, घटना, दृश्य, वस्तु आदि का स्मरण करना'। तात्पर्य यह कि संस्मरण का मूलाधार स्मृति है। अस्तु, स्मृति करने के कार्य के फल को संस्मरण कहते हैं अथवा स्मृति पर आधारित आत्मकथा का रूप संस्मरण है।

परिभाषा–भारतीय काव्यशास्त्र में संस्मरण अलंकार रूप में प्रयुक्त होता आया है। पर आज संस्मरण एक विशिष्ट साहित्यिक विधा के रूप में प्रचलित है। इसकी अपनी शास्त्रीय विशेषताएँ हैं। इस विधा को विभिन्न विद्वानों ने अनेक ढंग से परिभाषित किया है। डॉ. रामचंद्र तिवारी के अनुसार-"संस्मरण किसी स्मर्यमाण की स्मृति का शब्दांकन है।" डॉ. तिवारी के आगे के उद्‌गार भी द्रष्टव्य हैं जो उनकी मान्यता को और स्पष्ट करते हैं–"स्मर्यमाण के जीवन के वे संदर्भ और वे चारित्रिक वैशिष्ट्य जो स्मरणकर्ता को स्मृत रह जाते हैं, उन्हें वह शब्दांकित करता है। स्मरण वही रह जाता है जो महत्, विशिष्ट, विचित्र, और प्रिय हो। डॉ. गोविंद त्रिगुणायत संस्मरण में व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है–भावुक कलाकार जब अतीत का अनंत स्मृतियों में से कुछ रमणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अनुरंजित कर व्यंजना-मूलक संकेत-शैली में अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से विशिष्ट कर रोचक ढंग से यथार्थ रूप में व्यक्त कर देता है, तब उसे संस्मरण कहते हैं।" स्मृति की महत्ता को स्वीकारते हुए डॉ. नगेंद्र ने संस्मरण के विषय में लिखा है–"वैयक्तिक अनुभव तथा स्मृति से रचा गया इति-वृत्त अथवा वर्णन ही संस्मरण है।"

नोट्स संस्मरण वह रचना है जिसमें लेखक अपने जीवन का वृत्तांत अथवा अपने जीवन में घटित घटनाओं का वर्णन करता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का परीक्षण करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्मरण में 'स्मृति:' मूल तत्त्व है। व्यतीत होते ही सब कुछ स्मृति का अंग बन जाता है और दृष्टि वहीं से उपलब्ध होती है। इस प्रकार, अतीत के अनुभवों और प्रभावों को स्मृति के सहारे शब्दों में रूपायित करने वाली विशिष्ट गद्य विधा 'संस्मरण' है।

संस्मरण यथार्थपरक होता है, पर संस्मरण-लेखक तटस्थ नहीं हो पाता। यह नवोद्भूत विधा आत्मकथा के अधिक निकट होती है, किंतु दोनों में तात्विक अंतर है। आत्मकथा में पूर्णता का आग्रह रहता है, जबकि संस्मरण में पूर्णता का अभाव। 'संस्मरण' संस्मरण-लेखक के सिद्धांतों का प्रतिबिंब होता है। संस्मर्ण्य के जीवन का वह अंश जिसे संस्मरण का विषय बनाया जाता है, वह स्वयं लेखक के भी जीवनादर्श का सूचक होता है। इस प्रकार संस्मरण अतीत को सजीव करते हैं और अपने पाठकों को जीवन के विविध पक्षों का साक्षात्कार कराते हैं। इसलिए इनमें स्वभावत: रोचकता, मनोरंजकता के साथ स्वयं की अनुभूतियाँ और संवेदना निहित रहती है।

संस्मरण घटनात्मक घटित होते हैं। घटनाएँ प्राय: सत्य होती हैं और वर्णित व्यक्ति या वस्तु के चरित्र का परिचय देती हैं। संस्मरणकार जो कुछ भी लिखता है वह अपनी संपूर्ण भावना, आदर्श, निष्ठा, पसंद-नापसंद आदि को दृष्टिपथ में रखकर लिखता है। संस्मरण को कुछ असंबद्ध घटनाओं का नोट भी कहा जा सकता है जो लेखक के जीवन से संबंध रखता है। लेखक का संपूर्ण जीवन-दर्शन इसमें रूपायित रहता है।

अस्तु, "संस्मरण सहृदय के स्मृति-कोष की अमूल्य आनंददायिनी निधि है। अनुभव से इसका प्रत्यक्ष संबंध है। संस्मरण-लेखक जो स्वयं देखता है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है, उसी का वर्णन करता है। उसके वर्णन में उसकी अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ भी रहती हैं। तात्विक दृष्टि से संस्मरण स्मृति की अभिव्यक्ति है। स्मरणीयता इसकी पहली शर्त है। पुन: स्मृत कर जो लिखा जाता है, वही संस्मरण है।"

टास्क संस्मरण से क्या अभिप्राय है?

8.2.1 संस्मरण-लेखक के लिए ध्यातव्य बातें/विशेषताएँ

संस्मरण-लेखक में सहानुभूतिपूर्ण हृदय, सूक्ष्म विश्लेषण, सजीव चित्रण-शक्ति और सहज स्वाभाविकता की अपेक्षा रहती है। इनके बिना वह सफल संस्मरण नहीं लिख सकता। छोटी-से-छोटी घटना, पात्र, स्थान, अवसर को रूपायित करने हेतु यह आवश्यक होता है कि लेखक उन बातों को लिपिबद्ध करता जाए जो उसे अच्छी और महत्त्वपूर्ण लगें। संस्मरण-लेख के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह निंदा व स्तुति के अतिरेक को अपनाकर न चले। जहाँ तक संभव हो, तटस्थ किंतु सहानुभूतिपूर्ण वृत्ति अपनाकर शब्दांकन करे। संस्मरणकार संवेदनशील हो और उसकी स्मृति गतिशील हो। उसमें अतीत पर आधारित रमणीय अनुभूतियों का अच्छा कोष हो। उसकी कल्पनाशक्ति अत्यंत प्रबल हो। उसमें अनुभूत स्मृतियों को व्यंजनामूलक संकेत-शैली में रोचक ढंग से अभिव्यक्त करने की क्षमता होनी चाहिए। संस्मरण-लेखन वास्तव में दुष्कर कार्य है। इस प्रकार, संस्मरण-लेखन में संस्मरणकार को बहुत ही सावधान रहना आवश्यक होता है।

8.2.2 संस्मरण के तत्त्व या उपकरण

संस्मरण की रचना के निम्नलिखित तत्त्व या उपकरण माने जाते हैं–

(1) वर्ण्य विषय (2) पात्र-योजना (3) परिवेश (4) भाषा-शैली (5) उद्देश्य।

1. वर्ण्य-विषय–इसमें वर्ण्य विषय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। संस्मरण में जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण घटना या जीवन-संपर्क में आए किसी अविस्मरणीय चरित्र की झाँकी प्रस्तुत की जाती है। संस्मरण अपने वर्ण्य-विषय

नोट

वास्तविक, विश्वसनीय और बोधगम्य होते हैं। कभी-कभी संस्मरण में यह अंत: सलिला के समान मनोहर छटा-सी बिखेरती रहती है।

2. पात्र-योजना–संस्मरण का दूसरा प्रमुख तत्त्व पात्र-योजना है। संस्मरण-लेखक के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह किसी-न-किसी रूप में वर्ण्य चरित्र के निकट संपर्क में रहे। पात्र-योजना के माध्यम से ही संस्मरण-लेखक स्वयं के संबंध में ही नहीं, वरन् दूसरों के विषय में भी अपने अनुभव अंकित कर बहुमूल्य जानकारी पाठक को देता है। संस्मरण की पात्र-योजना के अंतर्गत केवल प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध व्यक्ति का जीवन-चरित्र नहीं होता अपितु मानवेत्तर प्राणियों का भी चित्रांकन हो सकता है।

3. परिवेश–वास्तविकता का संज्ञान कराने में परिवेश का विशिष्ट स्थान होता है। संस्मरणकार देश-काल की सीमाओं में आबद्ध रहता है। महादेवी वर्मा परिवेश के महत्त्व को स्वीकार करती हुई लिखती हैं–"देशकाल की सीमा में आबद्ध जीवन न इतना असंगत होता है कि अपने परिवेश और परिवेशियों से उसका कोई संघर्ष न हो और न यह संघर्ष इतना सरल होता है कि उसके आघातों के चिह्न शेष रहें।" इस प्रकार, वातावरण की पृष्ठभूमि के बिना संस्मरण स्पष्ट ही नहीं हो सकता। पात्रों का चित्रांकन और घटनाक्रम परिवेश के माध्यम से ही विश्लेषित किए जाते हैं। अत: संस्मरण-लेखक परिवेशगत यथार्थ से बँधा रहता है। परिवेशगत चित्रण कथा और पात्रों की विश्वसनीयता में वृद्धि करते हैं। इस कारण संस्मरण की रोचकता, रमणीयता और विश्वसनीयता बढ़ जाती है।

4. भाषा-शैली–भाषा-शैली संस्मरण विधा का एक अनिवार्य तत्त्व है। पत्रकारिता से संस्मरण की भाषा उपजी है। अन्य गद्य-विधाओं की अपेक्षा संस्मरण की भाषा सीधी, सरल, वर्णनात्मक तथा अभिधामूलक होती है। हर्बर्ट रीड के अनुसार–"संस्मरण में लेखक को अपनी भाषा को सबके योग्य बनाने के लिए सरलता की सतह पर ऐसी रंजक इकाइयाँ चुननी पड़ती हैं जो साहित्य या साहित्यिक सभी प्रकार की रुचियों के अनुकूल हों।" जिस प्रकार संस्मरणकार संस्मरण में अपनी कथा को कम से कम लिखना चाहता है, उसी प्रकार अपनी भाषा का भी कम-से-कम उपयोग करना चाहता है।

भाषा की तरह संस्मरण की शैली में भी विशिष्टता होती है। संस्मरण प्राय: सिंहावलोकन-शैली में लिखे जाते हैं। हिंदी के अधिकांश संस्मरण इसी शैली में लिखे गए हैं।

अस्तु, संस्मरण की संरचना में भाषा-शैली का विशेष महत्त्व है।

5. उद्देश्य–हर रचना में रचनाकार का कोई-न-कोई उद्देश्य निहित होता है। हिंदी की अन्य गद्य विधाओं की भाँति ही संस्मरण भी संप्रेषण और रंजन का आधार लेकर पाठकों तक पहुँचता है। किसी व्यक्ति की महत्ता, विशेषता, उपलब्धि, जीवन-हानि, प्रसंग-विशेष, स्थान-विशेष या काल-विशेष, खास घटना, विशिष्ट अवसर, परिस्थिति आदि से संस्मरण-लेखक प्रभावित और प्रेरित होता है और स्मृति के सहारे संस्मरण-लेखन में जुट जाता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. 'संस्मरण' में मूल तत्व है–

(अ) स्मृति (ब) भाषा

(स) देशकाल (द) चरित्र

5. अंग्रेजी में संस्मरण के लिए जो दो शब्द प्रचलित हैं, उनमें पहला 'रेमिनिसेंसेज' है, जबकी दूसरा है–

(अ) फॉरगोटन (ब) मेमौरी

(स) मेम्वॉयर्स (द) इनमें से कोई नहीं

8.3 रिपोर्ताज : परिभाषा, स्वरूप एवं विकास

'रिपोर्ताज' गद्य साहित्य की नवीनतम गद्य विधा है। यह शब्द मूलत: फ्रेंच भाषा का है। इस विधा का नामकरण अंग्रेजी शब्द रिपोर्ट के आधार पर हुआ है। वैसे इसे 'सूचनिका' भी कहा जाता है। किसी घटना को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर देना रिपोर्ट कहलाता है परंतु उसी को साहित्यिक सरसता तथा कलात्मकता के साथ प्रस्तुत करना 'रिपोर्ताज' है। 'रिपोर्ट' और 'रिपोर्ताज' दोनों शब्दों में अंतर है। 'रिपोर्ट' केवल सूचना होती है, 'रिपोर्ताज' में सूचना के साथ-साथ उसका साहित्यिकता से युक्त होना अत्यंत आवश्यक है। साहित्यिकता ही ऐसा तत्त्व है जो रिपोर्ट तथा रिपोर्ताज में भेद का आधार है। रिपोर्ताज लेखक, समाचार और साहित्यकार दोनों के दायित्व का एक साथ निर्वाह करता है।

'रिपोर्ताज' रोचक पत्रकारिता का अंग है। समाचार पत्रों के लिए लिखी गई रिपोर्ट की तरह यह भी तथ्यपरक, तात्कालिक और वस्तुनिष्ठ साहित्य विधा है। प्रो० प्रकाश चंद्र गुप्त के शब्दों में, "'रिपोर्ताज' तीव्र भावना में रँगी साहित्यिक रिपोर्ट के अतिरिक्त कोई और वस्तु नहीं। संघर्ष की खंदकों में निर्मित यह कला रूप है।" डॉ० सत्यपाल चुघ के मतानुसार, "पात्र की जिस घटना को सत्य की रक्षा करते हुए, कलात्मक रूप में संवेदनानुभूति के साथ प्रस्तुत किया जाता है, वह रिपोर्ताज नामक साहित्यक विधा की कोटि में आता है।" प्रसिद्ध 'रिपोर्ताज' लेखक कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर का विचार है, 'रिपोर्ताज' घटना का हो, दृश्य का हो, या ऐसे उत्सव का हो, ओम प्रकाश सिंहल का कथन है, "जिस रचना में वर्ण्य-विषय का आँखों देखा तथा कानों सुना ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जाए कि पाठक की हृतंत्री के तार झंकृत हो उठें और वह उसे भूल न सके, उसे 'रिपोर्ताज' कहते हैं। इस प्रकार किसी घटना का ऐसा वर्णन करना कि वस्तुगत सत्य पाठक को सहज ही प्रभावित कर सके 'रिपोर्ताज' कहलाता है।

रिपोर्ताज' के तत्त्व–'रिपोर्ताज' आज एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा है। इसे महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए निम्नांकित विधायक तत्व हैं–

1. यथातथ्यता 2. नाटकीयता 3. जीवंतता 4. कथात्मकता 5. हार्दिकता 6. चित्रोपमता 7. रोचकता 8. रसात्मकता 9. कलात्मकता।

रिपोर्ताज की विशेषताएँ–'रिपोर्ताज' की रचना केवल तथ्यों के चित्रण मात्र से नहीं होती, वरन उसके लिए कलात्मक सूझबूझ का होना आवश्यक है। 'रिपोर्ताज' आँखों देखी और कानों सुनी घटनाओं पर लिखा जाता है। यह विधा वस्तुगत होते हुए भी लेखक के व्यक्तित्व की झाँकी भी प्रस्तुत करता है। 'रिपोर्ताज' लेखक को पत्रकार और कलाकार की दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है। 'रिपोर्ताज' एक पृष्ठ से लेकर कई सौ पृष्ठों तक का हो सकता है। यह देखभाल की क्षुद्र सीमाओं के बंधन को स्वीकार नहीं करता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

6. रिपोर्ताज में सूचना के साथ-साथ उसका साहित्यिकता से युक्त होना अनिवार्य है।
7. 'रिपोर्ताज' की रचना केवल तथ्यों के चित्रण से होती है।
8. 'रिपोर्ताज' तीव्र भावना में रँगी साहित्यिक रिपोर्ट के अतिरिक्त कोई और वस्तु नहीं है।
9. 'रिपोर्ताज' एक पृष्ठ का ही हो सकता है।

8.4 सारांश (Summary)

- रेखाचित्र हिंदी साहित्य की अभ्यतम्, महत्त्वपूर्ण और आधुनिक विधा है। यह चित्रकला और साहित्य के सुंदर सुहाग से उद्‌भूत एक अभिनव कला-रूप है।

नोट

- रेखाचित्र में किसी वस्तु, स्थान घटना, दृश्य अथवा व्यक्ति के बाह्य रूप के माध्यम से उसकी आंतरिक विशेषता को उद्घाटित करने का यत्न किया जाता है।
- संस्मरण के मूल में अतीत की स्मृतियाँ निहित रहती हैं, जो व्यक्तिगत संपर्क का परिणाम होती हैं। उन्हीं स्मृतियों को संस्मरणकार सजीव रूप में प्रस्तुत करता है।
- संस्मरण-लेखक में सहानुभूतिपूर्ण हृदय, सूक्ष्म विश्लेषण, सजीव चित्रण-शक्ति और सहज स्वाभाविकता की अपेक्षा रहती है।
- भाषा-शैली संस्मरण विधा का एक अनिवार्य तत्त्व है। पत्रकारिता से संस्मरण की भाषा उपजी है।
- 'रिपोर्ताज' गद्य साहित्य की नवीनतम गद्य विधा है। 'रिपोर्ट' केवल सूचना होती है, 'रिपोर्ताज' में सूचना के साथ-साथ उसका साहित्यिकता से युक्त होना अत्यंत आवश्यक है।
- समाचार पत्रों के लिए लिखी गई रिपोर्ट की तरह यह भी तथ्यपरक, तात्कालिक और वस्तुनिष्ठ साहित्य विधा है।
- 'रिपोर्ताज' एक पृष्ठ से लेकर कई सौ पृष्ठों तक का हो सकता है।

8.5 शब्दकोश (Keywords)

- संस्मरण : बार-बार स्मरण करना
- रिपोर्ताज : रिपोर्ट के रूप में घटनाओं का विवरण, क्रमिक घटना वर्णन से पूर्ण साहित्यिक रचना।

8.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. रेखाचित्र से क्या अभिप्राय है?
2. संस्मरण से आप क्या समझते हैं?
3. संस्मरण के विभिन्न तत्त्वों को लिखिए।
4. रिपोर्ताज के तत्त्वों को समझाइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. थंबनेल स्केच	2. आत्मा	3. तथ्यपरक	4. (अ)
5. (स)	6. सत्य	7. असत्य	8. सत्य
9. असत्य।			

8.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र – *सत्यदेव चौधरी एवं शान्तिस्वरूप गुप्त।*

इकाई–9 : भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
9.1 काव्यशास्त्र : शब्दार्थ एवं विविध अभिधान
9.2 भारतीय काव्यशास्त्र : ऐतिहासिक सर्वेक्षण
9.2.1 प्रथम चरण (अज्ञात से आचार्य भरत तक)
9.2.2 द्वितीय चरण (भामह से आनंदवर्धन पूर्व तक)
9.2.3 तृतीय चरण (आनंदवर्धन से मम्मट पूर्व)
9.2.4 चतुर्थ चरण (मम्मट से विश्वेश्वर पांडेय तक)
9.3 हिंदी काव्यशास्त्र का उद्भव और विकास
9.3.1 पद्यकाल
9.3.2 गद्यकाल
9.4 सारांश (Summary)
9.5 शब्दकोश (Keywords)
9.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
9.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- काव्यशास्त्र का अर्थ ग्रहण करने हेतु।
- काव्यशास्त्र के विविध अभिधानों को जानने हेतु।
- संस्कृत काव्यशास्त्र के उद्भव एवं विकास को जानने हेतु।
- हिंदी काव्यशास्त्र का उद्भव और विकास को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

काव्यशास्त्र शब्द अस्तित्व में आने से पूर्व चिरकाल तक भारतीय काव्यशास्त्र अलंकारशास्त्र के नाम से भी अभिहित हुआ था। इतना तो निश्चित है कि संस्कृत में काव्य की समालोचना का प्रारंभ अलंकारों से हुआ था; क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र के आरंभिक आचार्यों ने काव्य के लिए अलंकार की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया था। इतना ही नहीं आरंभ में काव्य के सौंदर्य का मानक अलंकार था और काव्य विवेचक ग्रंथों के नामकरण में अलंकार पद का प्रयोग मिलता है। इस संदर्भ में आचार्य भामह कृत 'काव्यालंकार', उद्भट कृत 'अलंकारसार संग्रह', वामन कृत

नोट

'काव्यालंकार सूत्र' और आचार्य रुप्यक कृत 'अलंकार सर्वस्व' काव्यशास्त्रीय ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि काव्यशास्त्र के आरंभिक युग में आचार्यों के अलंकार के प्रति अतिरिक्त आग्रह के कारण काव्यशास्त्र के लिए 'अलंकारशास्त्र' का प्रयोग हुआ था।

9.1 काव्यशास्त्र : शब्दार्थ एवं विविध अभिधान

काव्यशास्त्र सामासिक शब्द है, जो काव्य और शास्त्र शब्दों के योग से निष्पन्न है। इसका सामान्य शाब्दिक अर्थ है: काव्य का शास्त्र। विद्वानों ने काव्य को कवि व्यापार और काव्य लक्षणों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। कवि व्यापार की दृष्टि से आचार्य अभिनव गुप्त कवनीयम् इति काव्यं अर्थात् कवि रचना व्यापार को काव्य मानते हैं। इसी प्रकार आचार्य मम्मट लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति कराने वाली कवि की भाषिक अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं–

नियतिकृत नियम रहितां ह्लादैकमनीयमनव्य परतंत्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मित्रिदधती भारती कवेर्जयति।।

–काव्य प्रकाश, 1/1

आचार्य विद्याधर 'कवियतीति इति कविः तस्य कर्म काव्यम्' अर्थात् काव्य रचना करने वाले को कवि और उसके कर्म को काव्य कहते हैं। इसी प्रकार भट्ट गोपाल भी....तस्य कर्म काव्यम् अर्थात् कवि के कर्म को काव्य कहते हैं। अतः कहने की आवश्यकता नहीं है कि कवि का कर्म काव्य हुआ। भारतीय आचार्यों ने काव्य की भाँति शास्त्र को स्पष्ट करने के प्रयत्न किए हैं। सामान्यतः शास्त्र शब्द के दो व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्राप्त हुए हैं–

1. **शासनात् शास्त्रम् :** जो शासन करता है।
2. **शंसनात् शास्त्रम् :** किसी गूढ़ तत्त्व का शंसन करने वाला अथवा प्रतिपादन करने वाला।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि 'काव्यशास्त्र' वह शास्त्र है जो काव्य पर शासन करते हुए काव्य के गूढ़ तत्त्वों का प्रतिपादन करता है। आचार्य राजशेखर ने वाङ्मय के काव्य और शास्त्र दो भेद किए हैं। इतना ही नहीं राजशेखर[1] ने काव्य को उपकार्य और शास्त्र को उपकारक माना है।

काव्य के लिए समय-समय पर अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं। इन नामों में 'क्रिया-कल्प', 'लक्षणशास्त्र', 'अलंकारशास्त्र', और 'साहित्यशास्त्र' प्रमुख हैं। काव्यशास्त्र के ये नाम भारतीय काव्यशास्त्र के विकास क्रम की विशिष्ट प्रवृत्तियों को दर्शाते हैं। क्रियाकल्प प्रयोग की दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वाधिक प्राचीनतम नाम है। क्योंकि 'क्रियाकल्प' भारतीय काव्यशास्त्र के आरंभिक आचार्यों से पूर्व कामसूत्र, जयमंगल टीका और आदि कवि वाल्मीकि कृत रामायण आदि ग्रंथों में काव्य रचना प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त हुआ है। इतना ही नहीं काव्यशास्त्र के आरंभिक आचार्य दंडी ने भी 'क्रियाकल्प' से मिलता-जुलता क्रिया विकल्प शब्द का प्रयोग किया है और प्रायः आचार्य दंडी के सभी टीकाकारों ने 'क्रिया विकल्प' शब्द को 'क्रियाकल्प' ही माना है। अतः प्रकट होता है कि आरंभ में 'क्रियाकल्प' का प्रयोग काव्य रचना की प्रक्रिया के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ होगा। डॉ० राघवन 'क्रियाकल्प' को 'काव्यशास्त्र' का आरंभिक नाम मानते हैं।

'काव्यशास्त्र' के लिए लक्षणशास्त्र का प्रयोग भी पर्याप्त हुआ है। काव्यशास्त्र के लिए 'लक्षणशास्त्र' का प्रयोग करने वाले आचार्यों में आद्य आचार्य भरत का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में 36 लक्षणों का उल्लेख करते हुए कविता कर्मियों को 36 लक्षणों से युक्त काव्य निर्माण का निर्देश दिया था।

क्या आप जानते हैं संस्कृत के आरंभिक आचार्य भामह और दंडी ने भी क्रमशः काव्य लक्ष्य और काव्य लक्षण का प्रयोग किया है। इसलिए संस्कृत के परवर्ती आचार्य आनंदवर्धन ने आलंकारिक आचार्यों के लिए लक्षण विधायिनः और काव्य लक्षण कारिनः पदों का प्रयोग किया होगा।

अत: प्रकट होता है कि 'काव्यशास्त्र' के लिए आरंभ में लक्षण ग्रंथ और काव्यशास्त्र के आचार्यों के लिए लक्षणकार शब्द प्रयुक्त हुए हैं। क्योंकि प्रारंभ में काव्य लक्षण काव्य रचना के लिए अनिवार्य रहे होंगे। इसलिए काव्यशास्त्र के लिए लक्षणशास्त्र की परंपरा चल पड़ी होगी।

'काव्यशास्त्र' का एक और नाम साहित्य विधा भी प्रचलन में रहा। आचार्य राजशेखर ने सर्वप्रथम काव्यांग निरूपण अथवा काव्य की समालोचना के लिए 'साहित्य विधा' शब्द का प्रयोग किया था। काव्य मीमांसाकार ने शब्द और अर्थ के सहभाव को बताने वाली विधा को 'साहित्य विधा' माना है। इसके पश्चात् आचार्य रूप्यक और विश्वनाथ ने क्रमश: अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के नाम साहित्य मीमांसा और साहित्य दर्पण रखकर 'साहित्य विधा' को अत्यंत लोकप्रियता प्रदान की। कालांतर में यह शब्द साहित्यशास्त्र नाम से प्रयुक्त होने लगा। संप्रति भी काव्यशास्त्र के लिए साहित्यशास्त्र शब्द का प्रयोग पर्याप्त हो रहा है।

हिंदी 'काव्यशास्त्र' के लिए रीतिशास्त्र का भी पर्याप्त प्रयोग मिलता है। किंतु यह शब्द मात्र रीति संप्रदाय तक सीमित न होकर समस्त काव्यांग निरूपक विषयों का पर्याय है। इसलिए हिंदी के उत्तरभक्ति काल के लिए 'रीतिकाल' का प्रयोग हुआ है। कतिपय आधुनिक विद्वानों ने 'काव्यशास्त्र' के लिए सौंदर्यशास्त्र का भी प्रयोग किया है।

वस्तुत: काव्यशास्त्र के विविध नाम काव्य की आलोचना को अभिव्यंजित करते हैं। आचार्य भोज ने भी काव्यशास्त्र को समालोचना की विधा माना है। उनका स्पष्ट मत है कि जो विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाला है, उसका अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि विधि या निषेध के ज्ञान से ही लोक व्यवहार संचालित होता है।

नोट्स आचार्य भोज ने विधि या निषेध के तीन हेतु काव्य, शास्त्र और इतिहास माने हैं तथा इन तीनों हेतुओं के मिश्रण से पुन: निर्मित–काव्यशास्त्र, काव्येतिहास और शास्त्रेतिहास हेतुओं का उल्लेख किया है।

संप्रति काव्यशास्त्र अंग्रेजी के पोइटिक्स का पर्याय है और 'काव्यशास्त्र' काव्य के शास्त्र के रूप में अभिहित हो रहा है। अत: काव्यशास्त्र वह शास्त्र है, जो कवि कर्म प्रसूत, काव्य के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन, विश्लेषण और नियमन करता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. काव्यशास्त्र सामासिक शब्द है, जो काव्य और .... शब्दों के योग से निष्पन्न है।
2. .... ने नाट्यशास्त्र में 36 लक्षणों का उल्लेख किया है।
3. लक्षणशास्त्र का प्रयोग करने वाले आचार्यों में .... का नाम उल्लेखनीय है।

9.2 भारतीय काव्यशास्त्र : ऐतिहासिक सर्वेक्षण

भारतीय काव्यशास्त्र का आरंभ कब से हुआ, निश्चित रूप से कुछ कहना अत्यंत कठिन है। स्थूलत: अधिकांश भारतीय काव्यशास्त्रीय विद्वान आचार्य भरत को काव्यशास्त्र का आद्य आचार्य और उनके ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' को प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ मानते हैं। सच्चाई तो यह है कि आचार्य भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' भी पूर्णरूप से काव्यशास्त्र का निर्विवाद प्रथम ग्रंथ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'नाट्यशास्त्र' में विशेष रूप से रूपकों का निरूपण हुआ है और उन्होंने रूपकों की प्रवृत्ति के आलोक में कतिपय काव्यांगों-रस, अलंकार और गुणों का विवेचन विश्लेषण किया था। अस्तु! आचार्य भरत के पश्चात् ही काव्यांग निरूपक ग्रंथों का प्रणयन हुआ था। इस दृष्टि से निस्संदेह आचार्य भामह कृत काव्यालंकार ही प्रथम काव्यांग विवेचक ग्रंथ प्रकट होता है। अत: आचार्य भामह से ही भारतीय काव्यशास्त्र का विधिवत् श्री गणेश मानना चाहिए।

नोट

इतना निश्चित है कि कोई भी अविरल परंपरा अचानक नहीं चल पड़ती है। उस परंपरा के उत्स में निश्चित ही उसके भूत में बीज वपन और अंकुरित हो चुके होते हैं। अतः साक्ष्य उपलब्ध न हों, किंतु प्रतीत होता है कि आचार्य भरत से पूर्व निश्चित ही काव्यांग निरूपण के प्रयास हो चुके होंगे। इसीलिए आचार्य राजशेखर भारतीय काव्यशास्त्र का उद्‌गम आचार्य भरत से पूर्व मानते हैं। आचार्य राजशेखर का मत है कि भगवान श्री कंठ शिव ने इस काव्य विधा का प्रथम उपदेश परमेष्ठी, बैकुंठ आदि चौसठ शिष्यों को दिया था। उनमें से ब्रह्मा ने अपने मानसजन्मा शिष्यों को इस विधा का उपदेश दिया। इन शिष्यों में सरस्वती का पुत्र काव्य पुरुष सर्वाधिक वंदनीय हुआ। ब्रह्मा ने तीनों लोकों की हित कामना से प्रेरित होकर त्रिकालज्ञ और दिव्य दृष्टि वाले काव्य-पुरुष को काव्य विधा के प्रचार की आज्ञा दी। काव्य पुरुष ने 18 अधिकरणों में काव्य विधा को विभक्त करके, अपने 18 शिष्यों को पृथक्-पृथक् पढ़ाया और 18 शिष्यों ने अपने-अपने अधिकरणों में विशिष्टता प्राप्त करके पृथक्-पृथक् ग्रंथों की रचना की। उसमें से सहस्राक्ष इंद्र ने कवि रहस्य, उक्ति गर्भ ने उक्ति, सुवर्णनाभ ने रीति, प्रचेता ने अनुप्रास, यम ने यमक, चित्रांगद ने चित्रकाव्य, शेष ने शब्द श्लेष, पुलस्त्य से वास्तव, औपकायन ने उपमालंकार, पाराशर ने अतिशयोक्ति, उतथ्य ने अर्थश्लेष, कुबेर ने शब्द और अर्थ, कामदेव ने विनोद, भरत ने नाट्‌यशास्त्र, नंदिकेश्वर ने रस, धिषण बृहस्पति ने दोष, उपमन्यु ने गुण और कुचमार ने औपनिषदिक संबंधी ग्रंथों की रचना की थी। यद्यपि काव्यशास्त्र के उद्‌गम के संबंध में आचार्य राजशेखर के मत को अधिकांश विद्वान काल्पनिक मानते हैं, किंतु आचार्य राजशेखर का भारतीय काव्यशास्त्र के उद्‌गम के संदर्भ में प्रस्तुत मत को सर्वथा काल्पनिक नहीं मानना चाहिए, क्योंकि आचार्य राजशेखर ने जिन 18 आचार्यों और काव्य विधा के अधिकरणों का उल्लेख किया है, उनमें से कतिपय आचार्यों में सुवर्णनाभ, कुचमार, नंदिकेश्वर और भरत का नाम उल्लेख्य है।

वस्तुतः उत्तरवर्ती ग्रंथों में सुवर्णनाभ को कामसूत्र के सांप्रयोगिक और कुचमार को औषनिषदिक खंड का आचार्य माना गया है।

> *नोट्स* आचार्य राजशेखर ने नंदिकेश्वर को रस विषय का आचार्य माना है। यद्यपि आचार्य नंदिकेश्वर का रस विषयक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, किंतु उत्तरवर्ती ग्रंथों में आचार्य नंदिकेश्वर का कामशास्त्र, संगीत और अभिनय के विशेषज्ञ के रूप में अनेकशः उल्लेख हुआ है।

'पञ्चसावक' और 'रति रहस्य' में नंदिकेश्वर को काव्यशास्त्र तथा 'संगीत रत्नाकर' में संगीत का आचार्य माना गया है। इतना ही नहीं 'अभिनव भारती' की टीका में नंदिकेश्वर के मत को कीर्तिधर के साक्ष्य के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। शारदातनय का मत है कि भरत को नंदिकेश्वर ने ही नाट्‌य शिक्षा दी थी। इस प्रकार राजशेखर ने भरत को रूपक निरूपक आचार्य माना है। भरत कृत 'नाट्‌यशास्त्र' काव्यशास्त्र के उद्‌गम विषयक राजशेखर के मत को सर्वाधिक प्रमाणित करता है। इसी प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारंभिक आचार्यों में भामह और दंडी ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि निस्संदेह आचार्य भरत से पूर्व काव्यशास्त्र के ग्रंथों का प्रणयन हुआ होगा, किंतु संप्रति वे काव्यशास्त्रीय ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। वेद के अंगों में उपलब्ध काव्यशास्त्र का स्फुट विवेचन–इस बात का प्रमाण है कि आचार्य भरत से पूर्व निश्चित काव्यांग विवेचन की परंपरा चल पड़ी होगी। अतः प्रकट होता है कि काव्य रचना के साथ ही वैदिक काल में ही काव्यांग निरूपण का आरंभ हुआ होगा और काव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथ भी लिखे गए होंगे। किंतु साक्ष्यों के अभाव में मात्र ऐसा अनुमान ही प्रतीत होता है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर आचार्य भरत कृत 'नाट्‌यशास्त्र' ही प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ ठहरता है, किंतु भारतीय काव्यशास्त्र की अविरल परंपरा आचार्य भामह से चल पड़ती है।

वस्तुतः वैदिक काल से लेकर आचार्य विश्वेश्वर पांडेय तक की लंबी अवधि, संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास क्रम को डॉ० एस. के. डे ने चार भागों में विभक्त किया है–

1. प्रारंभिक काल (अज्ञात काल से भामह तक)।
2. रचनात्मक काल (भामह से आनंदवर्धन तक) 650 ई. के 860 ई. तक।
3. निर्णयात्मक काल (आनंदवर्धन से मम्मट तक) 850 ई. से 1050 ई. तक।
4. व्याख्या काल (मम्मट से जगन्नाथ तक) 1050 ई. से 1750 ई.।

डॉ० बलदेव उपाध्याय ने ध्वनि सिद्धांत को आधार मानकर संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास को तीन श्रेणियों में बाँटा है–1. पूर्व ध्वनि काल, 2. ध्वनिकाल, 3. पश्चात् ध्वनि काल।

प्राय: डॉ० एस. के. डे और डॉ० बलदेव उपाध्याय का कालक्रम विभाजन पर्याप्त वैज्ञानिक है। संस्कृत और हिंदी के अधिकांश विद्वानों ने डॉ० डे और डॉ० उपाध्याय के ही काल क्रम को अपनाया है। इनके काल वर्गीकरण को आधार मानकर भारतीय काव्यशास्त्र को निम्न चरणों में विभाजित किया जा सकता है–

1. प्रथम चरण (अज्ञात से आचार्य भरत तक)।
2. द्वितीय चरण (आचार्य भामह से आनंदवर्धन से पूर्व तक)।
3. तृतीय चरण (आनंदवर्धन से पूर्व मम्मट तक)।
4. चतुर्थ चरण (आचार्य मम्मट से विश्वेश्वर पांडेय तक)।

9.2.1 प्रथम चरण (अज्ञात से आचार्य भरत तक)

भारतीय काव्यशास्त्र का आरंभ अधिकांश विद्वान भरत कृत नाट्यशास्त्र से मानते हैं, किंतु भारतीय वाङ्मय में अनेक स्थलों में भरत से पूर्व अनेक आचार्यों का उल्लेख हुआ है। स्वयं राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में काव्यविधा अथवा काव्यशास्त्र के उद्भव की रोचक कहानी प्रस्तुत की है। राजशेखर ने ब्रह्मा के लोकप्रिय, त्रिकालदर्शी शिष्य 'काव्य विधा' अथवा 'काव्यशास्त्र' के पृथक् ग्रंथों के प्रणयन की बात कही है; तथापि अधिकांश भारतीय विद्वान राजशेखर द्वारा प्रस्तुत 'काव्य विधा' अथवा 'काव्यशास्त्र' के उद्भव की कथा को मात्र काल्पनिक मानते हैं, किंतु राजशेखर की काव्यशास्त्र के उद्भव की कथा को सर्वथा काल्पनिक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि राजशेखर ने जिन अट्ठारह काव्यशास्त्र के स्नातकों का उल्लेख किया है, उनमें से सुवर्णनाभ, कुचमार, नंदिकेश्वर और भरत के संबंध में कुछ पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। इस दृष्टि से निश्चित ही भारतीय काव्यशास्त्र का प्रारंभ आचार्य भरत से पूर्व आरंभ हो गया होगा, किंतु पुष्ट साक्ष्यों के अभाव में मात्र अनुमान लगाया जा सकता है। अत: कहना न होगा कि वैदिक साहित्य के प्रारंभ के साथ काव्यशास्त्र का भी जन्म हो गया था। खेद है कि उन आचार्यों के ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं; फिर भी निरुक्त और व्याकरण वेदांगों में अत्यल्प मात्रा में काव्यशास्त्र संबंधित विषयों का विवेचन प्राप्त होता है। निरुक्त में उपमा का लक्षण निरूपण और 12 उपमावाचक शब्दों का कथन हुआ है। इसके अतिरिक्त निरुक्त में उपमान, निदर्शन, आशी आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

इसी प्रकार आचार्य से पूर्व पाणिनी ने अष्टाध्यायी में उपमा के चारों अंगों उपमेय, उपमान, वाचक और साधारण धर्म पर प्रकाश डाला है।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास के प्रथम चरण में काव्यशास्त्र विषयक उपलब्ध एक मात्र ग्रंथ आचार्य भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' है। इस ग्रंथ में मूलत: नाट्य तत्त्वों एवं रस का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ में रूपक एवं रस के अतिरिक्त 4 अलंकारों, 10 गुणों और 10 दोषों का भी निरूपण हुआ है।

आलोच्य चरण में आचार्य भरत के पश्चात् मेधाविन् नाम भी उल्लेखनीय है। यद्यपि मेधाविन् का कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, किंतु परवर्ती ग्रंथों में मेधाविन् के पर्याप्त काव्यशास्त्रीय उद्धरण उपलब्ध हैं। 'अग्निपुराण' को अनेक विद्वान बहुत बाद की रचना मानते हैं, किंतु प्राचीन परंपरा को स्वीकार करते हुए 'अग्निपुराण' को भी प्रथम चरण

नोट

में रखा जा सकता है। 'अग्निपुराण' के 336-346 अध्यायों में 'काव्यशास्त्र' विषयक विषयों का विवेचन हुआ है।

वस्तुत: भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास के प्रथम-चरण में मूलत: विशुद्ध रूप से काव्यशास्त्रीय ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं; तथापि इतना अवश्य माना जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास के प्रथम चरण में काव्यशास्त्र के बीजांकुर हो चुके थे। जो कालांतर में पल्लवित एवं पुष्पित हुए। इस दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में प्रथम चरण का विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व है।

9.2.2 द्वितीय चरण (भामह से आनंदवर्धन पूर्व तक)

यह काल स्वर्णकाल माना जाता है। सच्चाई तो यह है कि इसी युग से विधिवत् काव्यशास्त्र की परंपरा का प्रारंभ होता है। आलोच्य काल के प्रथम आचार्य भामह हैं। इस काल के प्रमुख आचार्यों में भामह, दंडी, वामन, उद्भट, रुद्रट, लोल्लट, शंकुक और भट्ट नायक का नाम महत्त्वपूर्ण है। इस काल में मूलत: तीन काव्य संप्रदायों का प्रतिपादन हुआ था। वे संप्रदाय-रस, अलंकार और रीति हैं। आचार्य भामह दंडी, उद्भट और रुद्रट अलंकार; दंडी और वामन रीति संप्रदाय और लोल्लट, शुंकुक और भट्ट नायक आदि रस संप्रदाय के प्रवर्त्तक और संवर्द्धक माने जाते हैं।

आलोच्य चरण में सृजित काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में आचार्य भामह कृत 'काव्यालंकार' दंडी कृत 'काव्यादर्श' उद्भट कृत 'अलंकारसार संग्रह, वामन कृत 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' रुद्रट कृत 'काव्यालंकार' आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वस्तुत: आलोच्य काल में प्राय: सभी काव्यशास्त्र के विषयों का विवेचन हुआ था, किंतु इस चरण में अलंकार विवेचन सर्वाधिक हुआ है। सामान्यत: आलोच्य-चरण के सभी आचार्यों ने काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया था। आलोच्य चरण में अलंकारों के प्रति अतिरिक्त आग्रह के कारण ही काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के लिए 'अलंकारशास्त्र' का प्रचलन भी हुआ। कुल मिलाकर आलोच्य चरण को 'रचनाकाल' और इस चरण के आचार्यों को आलंकारिक आचार्य कहा जाता है।

9.2.3 तृतीय चरण (आनंदवर्धन से मम्मट पूर्व)

इस चरण को डॉ० डे ने निर्णयात्मक काल और डॉ० बलदेव उपाध्याय ने ध्वनिकाल के नाम से अभिहित किया है। आलोच्य चरण के प्रमुख आचार्यों में आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त, कुंतक, महिम भट्ट , रुद्रभट्ट , धनंजय और भोजराज का नाम सादर उल्लेखनीय है।

आलोच्य चरण में ध्वनि और वक्रोक्ति संप्रदाय का प्रचलन हुआ। अत: काव्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से आलोच्यचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस चरण में आनंदवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' द्वारा ध्वनि संप्रदाय की प्रतिष्ठा हुई। भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि संप्रदाय की प्रतिष्ठा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी; क्योंकि ध्वनि संप्रदाय की प्रतिष्ठा के पश्चात् भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में आमूल परिवर्तन हुए। काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता की धारणा जाती रही; क्योंकि आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा का पद प्रदान करके, रस, गुण, अलंकार और रीति को ध्वनि के गुणों के उत्कर्षक माना। तब से गुण, अलंकार, रीति काव्य के ब्राह्य उपकरण मात्र रह गए। यद्यपि भट्ट , नायक, कुंतक तथा महिमभट्ट ने अपने मतों से ध्वनि मत का खंडन करने का प्रयत्न किया, किंतु परवर्ती आचार्यों में अभिनव गुप्त और मम्मट के पूर्ण समर्थन से ध्वनि संप्रदाय पुष्ट हुआ। कालांतर में काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि संप्रदाय अत्यंत लोकप्रिय हुआ। इस चरण में आनंदवर्धन के बाद कुंतक ने 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रंथ की रचना की थी और वक्रोक्ति का प्रचलन हुआ। कुल मिलाकर आलोच्य चरण का भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में विशेष महत्त्व है।

9.2.4 चतुर्थ चरण (मम्मट से विश्वेश्वर पांडेय तक)

इस चरण को 'व्याख्याकाल' भी कहा जाता है। इस काल के प्रमुख आचार्यों में मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' रुय्यक

कृत' 'अलंकारसर्वस्व', हेमचंद्र कृत 'काव्यानुशासन', रामचंद्र तथा गुणचंद्र कृत 'नाट्य दर्पण', वाग्भट (प्रथम) कृत, 'वाग्भटालंकार', वाग्भट (द्वितीय) कृत 'काव्यानुशासन', जयदेव कृत 'चंद्रालोक', विद्याधर कृत 'एकावली', विद्यानाथ कृत 'प्रतापरुद्र, यथोभूषण', विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण', केशवमिश्र कृत 'अलंकार शेखर', शारदातनय कृत 'भाव प्रकाशन', भानुदत्त कृत 'रस मंजरी', रूप गोस्वामी कृत 'नाटक चंद्रिका', कवि कर्ण कपूर कृत 'अलंकार कौस्तुभ', अप्पय दीक्षित कृत 'कुवलयानंद', पंडितराज जगन्नाथ कृत 'रस गंगाधर', आशाधर भट्ट कृत 'अलंकार दीपिका' और विश्वेश्वर पांडेय कृत 'अलंकार कौस्तुभ', 'अलंकार मुक्तावली', 'रस चंद्रिका', 'अलंकार प्रदीप' और 'कवींद्र कंठाभरण' उल्लेखनीय हैं।

आलोच्य चरण में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन विविध पद्धतियों से हुआ। आचार्य मम्मट, हेमचंद्र, विश्वनाथ, जयदेव और पंडितराज जगन्नाथ ने समस्त काव्यांग निरूपक ग्रंथों की रचना की थी। कतिपय आचार्यों ने अलंकार और रस विषय ग्रंथों का सृजन किया था। इन आचार्यों में रुय्यक, अप्पय दीक्षित और विश्वेश्वर पांडेय ने अलंकार सिद्धांत, शारदातनय, शिंगभूपाल रूप गोस्वामी तथा भानुदत्त ने रस सिद्धांत विषय पर आधारित ग्रंथों का प्रणयन किया था। इसी चरण में आचार्य क्षेमेंद्र ने औचित्य सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया।

वस्तुत: आलोच्य चरण में काव्यशास्त्र के विविध सिद्धांतों तथा विविध काव्यांगों को स्थिरता मिली थी और इनके मानक स्थिर हुए। इस दृष्टि से आलोच्य चरण का भी भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में विशेष महत्त्व है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. भारतीय काव्यशास्त्र का तृतीय चरण है–

   (अ) अज्ञात से आचार्य तक (ब) आनंदवर्धन से पूर्व मम्मट तक

   (स) आचार्य मम्मट से विश्वेश्वर पांडेय तक (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

5. 'अग्निपुराण' के किन अध्यायों में काव्यशास्त्र विषय का विवेचन हुआ है–

   (अ) 335 से 342 (ब) 336-346

   (स) 344 से 348 (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

6. भारतीय काव्यशास्त्र के चतुर्थ चरण को और क्या नाम दिया गया है–

   (अ) व्याख्या काल (ब) आदिकाल

   (स) (अ) या (ब) (द) उपरोक्त में कोई नहीं

टास्क संस्कृत काव्यशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास पर प्रकाश डालिए।

9.3 हिंदी काव्यशास्त्र का उद्‌भव और विकास

हिंदी काव्यशास्त्र का उद्‌भव संस्कृत काव्यशास्त्र की भाँति अनिश्चित है। अत: निश्चित रूप से हिंदी का प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ किसे माना जाए? हिंदी के विद्वानों में मतैक्य नहीं है। शिवसिंह सरोज के अनुसार हिंदी के प्रथम आचार्य 'पुष्य' थे, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा में अलंकार ग्रंथ का प्रणयन किया था। किंतु पुष्य के द्वारा सृजित काव्यशास्त्रीय ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। संभवत: इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस मत को मात्र जनश्रुति मात्र मानते हैं। ऐसा दशा में आचार्य शुक्ल कृपाराम कृत 'हित तरंगिणि' (संवत् 1588) को हिंदी का प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ

नोट

स्वीकार करते हैं। कृपाराम के पश्चात् कतिपय विद्वान सूरदास कृत 'साहित्य लहरी', अष्टछाप के कवि नंददास कृत 'रूप मंजरी', 'रस मंजरी' और 'विरह मंजरी', रहीमदास कृत 'बरवै नायिका', मोहनलाल मिश्र रचित 'श्रृंगार सागर', कर्णेश (करनेस) रचित 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण', बलभद्रकृत 'नखशिख' और मुनिलाल कृत 'रामप्रकाश' को काव्यशास्त्रीय ग्रंथ मानते हैं। किंतु खेद है कि इनमें भी प्राय: सभी ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी दशा में हिंदी काव्यशास्त्र के इतिहास में इन ग्रंथों का महत्त्व जो भी हो, किंतु हिंदी काव्यशास्त्र का उत्स इन्हीं ग्रंथों से माना जाना चाहिए; क्योंकि परंपरा का प्रवाह एकाएक तीव्र नहीं होता है। आचार्य केशव के बाद चिंतामणि के पश्चात् हिंदी काव्यशास्त्र की धारा प्रवाहित होती है, निस्संदेह आचार्य केशव पूर्व हिंदी साहित्य में सृजित स्फुट काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का महत्त्व स्वयं सिद्ध हो जाता है।

वस्तुत: हिंदी काव्यशास्त्र का विधिवत् श्रीगणेश आचार्य केशव से आरंभ होता है। हिंदी काव्यशास्त्र की परंपरा आचार्य केशवदास से लेकर अद्यावधि तक प्रवाहमान है। हिंदी काव्यशास्त्र के विकास क्रम को निम्न चरणों में दिखाया जा सकता है–1. पद्यकाल (रीति काल), 2. गद्यकाल (आधुनिक काल)।

9.3.1 पद्यकाल

हिंदी साहित्य की दृष्टि से यह काल रीतिकाल कहा जाता है। यद्यपि इस काल से पूर्व कृपाराम कृत 'हित तरंगिणी' से लेकर मुनिलाल कृत 'राम प्रकाश' ग्रंथों द्वारा हिंदी काव्यशास्त्र के बीजांकुरित हो चुके थे। किंतु आचार्य केशवदास तथा उनके पश्चात् के आचार्यों ने हिंदी काव्यशास्त्र को पूर्ण व्यवस्था प्रदान की थी; क्योंकि इसी काल से काव्यशास्त्र के संपूर्ण अंगों के विवेचन की परंपरा चल पड़ती है। आचार्य केशवदास कृत 'रसिक प्रिया' (सं. 1648 वि.) और 'कविप्रिया' (सं 1658 वि.) से पद्यकाल का प्रारंभ होता है। आचार्य केशवकृत 'रसिक प्रिया' और 'कविप्रिया' में काव्यशास्त्र का समग्र विवेचन हुआ है। आचार्य केशव के पश्चात् 50 वर्षों तक हिंदी काव्यशास्त्र की धारा तमसावृत्त हो जाती है, क्योंकि आचार्य केशवदास कृत कविप्रिया (1658 वि.) के ठीक 50 वर्षों के बाद चिंतामणि ने सं. 1700 वि. के आसपास 'काव्यविवेक', 'कविकुल', 'कल्पत काव्य प्रकाश' और 'रसमंजरी' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन से हिंदी काव्यशास्त्र की धारा को पुनर्जीवित किया था। आचार्य चिंतामणि के पश्चात् हिंदी काव्यशास्त्रीय परंपरा अबाध गति से प्रवाहित होती है। यद्यपि कतिपय शोध कर्ताओं ने आचार्य केशवदास और चिंतामणि के बीच लुप्त प्राय: काव्यशास्त्रीय परंपरा को पाटने के प्रयत्न किए हैं, किंतु सम्यक् प्रमाणों के अभाव में शोध कर्त्ताओं के प्रयत्न जनश्रुतिमात्र ही रह गए हैं।

आलोच्य काल के प्रमुख आचार्यों में महाराजा जसवंत सिंह कृत 'भाषा भूषण', तोषकृत 'सुधानिधि', मतिराम कृत 'रसराज', 'ललित ललाम', 'साहित्य सार', 'अलंकार पंचाशिका' और 'लक्षण श्रृंगार', कुलपति मिश्र कृत रस रहस्य और 'गुणरस रहस्य', भूषण कृत 'शिवराज भूषण', सुखदेव मिश्र कृत 'वृत्त विचार', 'छंद विचार', पदुमनदास कृत 'काव्य मंजरी', देव कृत 'काव्य रसायन', 'रस विलास' और 'भाव विलास', गोपकृत 'रामचंद्राभरण', कुमारमणि कृत 'रसिक रसाल', सूरतिमिश्र कृत 'अलंकार माला', 'रस रत्नमाला', 'रस ग्राहक' आदि, रसिक सुमति कृत 'अलंकार चंद्रोदय', श्रीपति कृत 'कविकुल कल्पद्रुम', 'रस सागर' और 'काव्यसरोज' आदि, खंडन कायस्थ कृत 'भूषणदाम', सोमनाथ कृत 'रस पीयूष निधि', भिखारीदास कृत 'काव्य निर्णय', रसरूप कृत 'तुलसीभूषण', रूप साहि कृत 'रूप विलास', जनराज कृत 'कविता रस विनोद', रसिक गोविंद कृत 'दूषणोल्लास' और 'रसिक गोविंदाघन' उल्लेखनीय हैं।

इस काल के अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणेताओं में ऋषिनाथ, जनराज, हरिचरणदास, उमेदराम, ब्रह्मदत्त, काशिराज, ईश्वर कवि, गिरिधरदास, निहाल, ग्वाल, गोकुलदास, जानकी प्रसाद, गुलाब सिंह, लछिराम, जगन्नाथ, प्रवीण सागर गंगाधर द्विज, मुरारिदान आदि नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

वस्तुत: हिंदी काव्यशास्त्र के पद्यकाल में संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। डॉ० नगेंद्र हिंदी रीतिकाल (पद्यकाल) के ग्रंथों को संस्कृत के आचार्यों के प्रभाव से तीन शैली में सृजित मानते हैं। 1. काव्य

नोट

प्रकाश की निरूपण शैली जिसमें काव्य के सभी अंगों पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया है। 2. शृंगार तिलक और रसमंजरी आदि की शृंगारमयी नायिका भेद वाली शैली जिसमें केवल शृंगार के विभिन्न अंगों–विशेषकर नायिका के भेद का निरूपण किया गया है और 3. चंद्रालोक की संक्षिप्त अलंकार निरूपण शैली जिसमें अलंकारों के ही संक्षिप्त लक्षण और उदाहरण मिलते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि हिंदी काव्यशास्त्र के अलोच्य काल में जहाँ अलंकार, रस और ध्वनि सिद्धांत का व्यापक विवेचन हुआ है वहीं ऐसे ग्रंथों का प्रणयन भी पर्याप्त हुआ है, जिनमें काव्य के विविध अंगों का निरूपण हुआ है।

9.3.2 गद्यकाल

हिंदी साहित्य के सन् 1900 ई. के बाद के काल को गद्य काल के नाम से अभिहित किया जा सकता है। हिंदी काव्यशास्त्र के इतिहास में सन् 1900 ई. के पश्चात् अधिकांश काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन खड़ी बोली गद्य में हुआ है। हिंदी काव्यशास्त्र का आलोच्य युग कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस युग में पद्यकालीन स्वतंत्र काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के रूप में हिंदी काव्यशास्त्र भंडार की पर्याप्त वृद्धि हुई है।

इस युग के प्रमुख काव्यशास्त्रियों में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', बिहारी भट्ट , भारतेंदु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', कन्हैयालाल पोद्दार, रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, डॉ० रमाशंकर 'रसाल', रामदहिन मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, गुलाबराय, बलदेवप्रसाद, उपाध्याय, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', भोलानाथ व्यास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० नगेंद्र, डॉ० नामवर सिंह, आशा गुप्ता, सुरेश गुप्ता, गणपति चंद्र गुप्त आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वस्तुत: हिंदी काव्यशास्त्र के गद्य काल में काव्यशास्त्र से संबंधित विषयों का विवेचन–विश्लेषण करने वाले आचार्यों की सूची पर्याप्त लंबी है। इस दृष्टि से गद्य काल के जितने भी काव्यशास्त्र से संबंधित ग्रंथकारों का उल्लेख किया जाए, प्राय: अपर्याप्त है। अस्तु गद्य काल के काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथों के प्रणेताओं को निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है–

वर्ग : 1–पद्य काल के आचार्यों की रीति में स्वतंत्र काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन करने वाले आचार्य।

वर्ग : 2–काव्यशास्त्र का प्रासंगिक स्फुट विवेचक हिंदी साहित्यकार।

वर्ग : 3–नवीन दृष्टि के काव्यशास्त्र के पुनर्व्याख्याता विद्वान।

हिंदी काव्यशास्त्र के इतिहास के पद्यकाल के आचार्यों की रीति में स्वतंत्र काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन करने वाले आचार्यों में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत 'काव्य प्रभाकर' (सं. 1966 वि.) उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ में बारह मयूखों में क्रमश: छंद, ध्वनि, नायिका भेद, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, स्थायी भाव, रस, अलंकार, काव्य निर्णय, कोश लोकोक्ति संग्रह का विवेचन है। इसी क्रम में बिहारी लाल भट्टकृत 'साहित्यसागर' (सं. 1994) भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में नाटक और गद्य काव्य सहित 15 तरंगों में साहित्य के सभी अंगों का निरूपण हुआ है। कन्हैयालाल पोद्दार कृत 'काव्य कल्पद्रुम' (सं. 1983 ई.) भी उल्लेख्य कृति है। कन्हैयालाल पोद्दार कृत इस ग्रंथ के दो खंड 'रस मंजरी' और 'अलंकार मंजरी' हैं। इन ग्रंथों में क्रमश: काव्यांग निरूपण और अलंकारों का सोदाहरण प्रतिपादन हुआ है। भारतेंदु कृत 'नाटक ग्रंथ' में भी काव्यशास्त्र की सामग्री विद्यमान है। हरिश्चंद्र के नाटक में नाटक के स्वरूप का निर्धारण किया है, किंतु भारतेंदु ने नाटक के स्वरूप निर्धारण में संस्कृताचार्यों ने नाट्य संबंधी विचारों का समर्थन किया है। पद्यकाल की भाँति स्वतंत्र काव्यशास्त्रीय ग्रंथ प्रणेताओं में मिश्रबंधु का नाम भी उल्लेखनीय है। मिश्रबंधु कृत प्रत्येक रचनाओं में काव्यशास्त्रीय सामग्री विद्यमान है। मिश्रबंधु के इस प्रकार की रचनाओं में 'मिश्रबंधु विनोद', 'हिंदी नवरत्न' ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। किंतु मिश्रबंधु का विशुद्ध रूप से काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'साहित्य पारिजात' है। हिंदी काव्यशास्त्र के परवर्ती आचार्यों में श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। हरिऔध कृत 'रस कलश' (सं. 1988 वि.) काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। 'रस कलश' में रसों का विवेचन हुआ है। डॉ० रमाशंकर शुक्ल

नोट

'रसाल' कृत 'अलंकार पीयूष' (1986 वि.) ग्रंथ में अलंकारों का व्यवस्थित विवेचन और विश्लेषण हुआ है। इसी क्रम में अर्जुनदास केडिया कृत 'भारती भूषण' (सं. 1987 वि.), आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा कृत 'अलंकार मुक्तावली' और रामदहिन मिश्र का 'काव्यदर्पण' (सं. 2004 वि.) भी महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। क्रमश: प्रथम दो ग्रंथों में अलंकारों और तृतीय ग्रंथ में काव्यशास्त्र का समग्र निरूपण किया गया है।

हिंदी काव्यशास्त्र के गद्यकाल में साहित्यकारों के द्वारा अपनी रचनाओं में भी काव्यशास्त्र विषय का प्रासंगिक और स्फुट विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। इन साहित्यकारों में मिश्रबंधु कृत 'हिंदी नवरत्न' और 'मिश्रबंधु विनोद' सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। यद्यपि ये ग्रंथ व्यावहारिक आलोचना से संबंधित हैं, किंतु इन ग्रंथों में स्फुट रूप से काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन हुआ है। इसी क्रम में 'हरिऔध' का नाम भी उल्लेखनीय है। हरिऔध ने अपनी काव्यकृतियों की भूमिकाओं में काव्यशास्त्र का स्फुट विवेचन किया है। पद्मसिंह शर्मा कृत 'बिहारी सतसई' और 'पद्मपराग' में भी सैद्धांतिक विवेचन है। कृष्ण बिहारी मिश्र कृत 'देव और बिहारी', 'मतिराम ग्रंथावली की भूमिका' और 'नवतरंग की भूमिका' आदि ग्रंथों में काव्यशास्त्र से संबंधित कतिपय विषयों का अल्प विवेचन प्राप्त होता है। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद कृत 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' कृत 'प्रबंध पद्म', 'प्रबंध प्रतिभा' और 'चाबुक', कविवर पंत कृत 'पल्लव' का प्रवेश (भूमिका), 'आधुनिक कवि' का पर्यालोचन (भूमिका), में 'उत्तरा' की प्रस्तावना और 'युगवाणी' का दृष्टिपात (भूमिका) और महादेवी की काव्य कृतियों की भूमिकाओं में काव्यशास्त्र का परंपरित और कुछ मौलिक विवेचन हुआ है।

हिंदी काव्यशास्त्र के गद्यकाल में नवीन दृष्टिकोण से काव्यशास्त्र के पुनर्व्याख्याता आचार्यों में आचार्य महावीर प्रसाद का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। यद्यपि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किसी विशिष्ट काव्य सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया था, तथापि 'सरस्वती' पत्रिका के संपादकत्व और 'रसज्ञ रंजन' आदि ग्रंथों द्वारा युगीन कवियों का मार्ग प्रशस्त किया था। आचार्य द्विवेदी के काव्य संबंधी विचारों में न तो परंपरा के प्रति लगाव है और न ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत के प्रति अतिरिक्त आग्रह। पूर्वी और पश्चिमी काव्यशास्त्रीय विचारों से समन्वित भारतीय काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या करने वाले आचार्यों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल अग्रणीय हैं। यों आचार्य शुक्ल संपादित और सृजित सभी रचनाओं में काव्यशास्त्र की प्रचुर सामग्री है। किंतु आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत 'रस मीमांसा' विशुद्ध रूप से काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। इसी परंपरा में श्यामसुंदर दास कृत 'साहित्यालोचन' और 'रूपक रहस्य' भी महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं। आचार्य श्यामसुंदर दास कृत 'साहित्यालोचन' में कला, साहित्य, काव्य, कविता, गद्य काव्य, रस शैली और आलोचना तथा 'रूपक रहस्य' में रूपकों और रसों का विवेचन है। काव्यशास्त्र की नव्य व्याख्या करने वालों में आचार्य गुलाबराय का नाम भी श्रद्धापूर्वक लिया जाता है। इनके 'नवरस', सिद्धांत और अध्ययन' और 'काव्य रूप' काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में पूर्वी और पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय विचारों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण सुधांशु कृत 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' में एक ओर भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का समन्वय हुआ है, वहीं सुधांशु ने भारतीय और पाश्चात्य दर्शन आदि के आश्रय से काव्यशास्त्र को व्यापकता प्रदान की है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्य शास्त्र' (दो खंड) और 'संस्कृत आलोचना' ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। बलदेव उपाध्याय संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने हिंदी में इन ग्रंथों का प्रणयन करके हिंदी काव्यशास्त्र की समृद्धि की है। 'भारतीय साहित्यशास्त्र' के प्रथम खंड में काव्य और काव्य से संबंधित विषयों तथा द्वितीय खंड में संस्कृत काव्यशास्त्र का ऐतिहासिक और सैद्धांतिक विवेचन किया गया है। आपका काव्यशास्त्रीय विवेचन पर्याप्त सुव्यवस्थित और प्रामाणिक है। आचार्य उपाध्याय कृत 'संस्कृत समालोचना' ग्रंथ तीन खंडों में लिखा गया है–प्रथम खंड–काव्य, द्वितीय खंड–काव्यरूप और तृतीय खंड काव्य सिद्धांत हैं। इतना ही नहीं परिशिष्ट के अंतर्गत संस्कृत समालोचना का क्रमिक विकास और मान्य आचार्यों का विवेचन किया गया है। निस्संदेह आचार्य बलदेव उपाध्याय कृत काव्यशास्त्रीय ग्रंथ–हिंदी काव्यशास्त्र की अमूल्य धरोहर है। डॉ० भोलाशंकर व्यास कृत 'भारतीय साहित्यशास्त्र' भी अत्यंत उपयोगी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। इस ग्रंथ में भारतीय काव्यशास्त्र का समग्र, सुस्पष्ट विवेचन किया गया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय विमर्श' भी महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्र का ग्रंथ है। यद्यपि इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र के अतिरिक्त इतिहास और भाषा विज्ञान सामग्री भी है, फिर भी इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र की संपूर्ण सामग्री उपलब्ध है।

हिंदी काव्यशास्त्र के व्याख्याता आचार्यों में डॉ० नगेंद्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य शुक्ल की भाँति डॉ० नगेंद्र रसवादी और भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों के समन्वित विचारधारा के काव्यशास्त्रीय हैं। डॉ० नगेंद्र मूलतः हिंदी साहित्य के आलोचक हैं। किंतु उनकी आलोचना प्रवृत्ति सर्वथा सैद्धांतिक है। इसीलिए आपके अधिकांश आलोचना ग्रंथों में काव्यशास्त्र की प्रचुर सामग्री है। इतना ही नहीं।

क्या आप जानते हैं डॉ० नगेंद्र ने काव्यशास्त्र पर आधारित ग्रंथों का भी प्रणयन किया और अनेक संस्कृत और अंग्रेजी काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का संपादन और अनुवाद भी किया है।

डॉ० नगेंद्र के प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'देव और उनकी कविता', 'अरस्तु का काव्य सिद्धांत', 'विचार और विवेचना', 'विचार और अनुभूति', 'रस सिद्धांत', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' और 'भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा' अत्यंत उपयोगी ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में डॉ० नगेंद्र ने भारतीय काव्यशास्त्र की सम्यक् जानकारी दी है और साथ ही अपनी मौलिक तथा समन्वित विचारधारा द्वारा परंपरित काव्य सिद्धांतों में नव्यता का समावेश किया है। डॉ० नगेंद्र द्वारा संपादित संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में 'हिंदी काव्यालंकार सूत्र', 'हिंदी वक्रोक्ति जीवित', 'हिंदी ध्वन्यालोक' उल्लेखनीय हैं।

हिंदी काव्यशास्त्र के इतिहास में उल्लेखनीय नाम डॉ० भगीरथ मिश्र का भी है। डॉ० भगीरथ मिश्र द्वारा सृजित 'काव्यशास्त्र', 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास और 'हिंदी रीति साहित्य' महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में काव्यशास्त्र की समग्र सामग्री का विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है।

काव्यशास्त्र की व्याख्या करने वाले हिंदी के अन्य काव्य-शास्त्रियों में डॉ० एस.पी. खत्री कृत 'पाश्चात्य समालोचना के सिद्धांत', आचार्य सीताराम चतुर्वेदी कृत 'अभिनव नाट्यशास्त्र' और 'समीक्षाशास्त्र', डॉ० गोविंद त्रिगुणायत कृत 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत' (दो भाग), डॉ० रामलाल सिंह कृत 'समीक्षा दर्शन', गणेश त्र्यंबकम देशपांडे कृत 'भारतीय साहित्यशास्त्र', राममूर्ति त्रिपाठी कृत 'भारतीय काव्य शास्त्र की नई व्याख्या', 'साहित्य शास्त्र के प्रमुख पक्ष' और 'भारतीय काव्यशास्त्र के नए क्षितिज', गणपति चंद्र गुप्त कृत 'रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन' और 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांत' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

आलोच्य काल में शोधात्मक प्रवृत्ति के विकास के साथ काव्यशास्त्र पर आधारित अनेक शोध प्रबंध प्रकाश में आए हैं। किंतु सब ग्रंथों का उल्लेख कर पाना अत्यंत कठिन है। शोध पर आधारित प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में आनंद प्रकाश दीक्षित कृत 'रस सिद्धांतः स्वरूप विवेचन', राकेश गुप्त कृत 'मनोविज्ञान के प्रकाश में रस सिद्धांत का समालोचनात्मक अध्ययन' और 'नायक नायिका भेद', राममूर्ति त्रिपाठी कृत 'लक्षणा और उसका हिंदी में प्रसार', डॉ० बच्चूलाल अवस्थी कृत 'ध्वनि सिद्धांत तथा तुलनीय साहित्य चिंतन', डॉ० शेरसिंह बिष्ट कृत 'ध्वनि सिद्धांत', ओमप्रकाश कृत 'हिंदी अलंकार साहित्य', आशा गुप्ता कृत 'खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजनावाद' आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त ऐसे अनेक शोध प्रकाश में आए हैं, जिनका उल्लेख कर पाना अत्यंत कठिन कार्य है।

वस्तुतः हिंदी काव्यशास्त्र के पद्यकाल में सृजित काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों का स्पष्ट प्रभाव है। किंतु गद्य काल में जितनी काव्यशास्त्र संबंधित सामग्री प्रकाश में आई, उसमें परंपरागत और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का प्रभाव है।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. शिवराज सिंह सरोज के अनुसार हिन्दी के प्रथम आचार्य 'पुष्य' थे, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा में अलंकार ग्रंथ का प्रणयन किया था।
8. डा. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत 'अलंकार पीयूष' (1986 वि.) ग्रंथ में अलंकारों का व्यवस्थित विवेचन और विश्लेषण हुआ है।
9. 'हिन्दी अलंकार साहित्य' की रचना हजारी प्रसाद द्विवेदी ने की है।

9.4 सारांश (Summary)

- आचार्य विद्याधर 'कवियतीति इति कविः तस्य कर्म काव्यम्' अर्थात् काव्य रचना करने वाले को कवि और उसके कर्म को काव्य कहते हैं।
- काव्य मीमांसाकार ने शब्द और अर्थ के सहभाव को बताने वाली विधा को 'साहित्य विधा' माना है।
- भारतीय काव्यशास्त्रीय विद्वान आचार्य भरत को काव्यशास्त्र का आद्य आचार्य और उनके ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' को प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ मानते हैं।
- भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास के प्रथम चरण में काव्यशास्त्र विषयक उपलब्ध एक मात्र ग्रंथ आचार्य भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' है।
- काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता की धारणा जाती रही; क्योंकि आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा का पद प्रदान करके, रस, गुण, अलंकार और रीति को ध्वनि के गुणों के उत्कर्षक माना।
- शिवसिंह सरोज के अनुसार हिंदी के प्रथम आचार्य 'पुष्य' थे, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा में अलंकार ग्रंथ का प्रणयन किया था।
- हिंदी काव्यशास्त्र के इतिहास में सन् 1900 ई. के पश्चात् अधिकांश काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन खड़ी बोली गद्य में हुआ है।
- हिंदी काव्यशास्त्र के गद्यकाल में साहित्यकारों के द्वारा अपनी रचनाओं में भी काव्यशास्त्र विषय का प्रासंगिक और स्फुट विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है।

9.5 शब्दकोश (Keywords)

- अभिधान : उपाधि, कथन, शब्दकोश
- मयूख : किरण, दीप्ति
- मंजरी : कल्ला, कोंपल, लता।

9.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. काव्यशास्त्र से आप क्या समझते हैं?
2. काव्यशास्त्र के विविध अभिधानों को समझाइए।
3. संस्कृत काव्यशास्त्र के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालिए।
4. हिन्दी काव्यशास्त्र के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालिए।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. शास्त्र
2. आचार्य भरत
3. आचार्य भरत
4. आनंदवर्धन से पूर्व मम्मट तक
5. (ब)
6. (अ)
7. सत्य
8. सत्य
9. असत्य।

9.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय काव्यशास्त्र – *सत्येन्द्र चौधरी।*
2. पाश्चात्य समालोचन के सिद्धांत – *डॉ. एस.पी. खत्री।*

नोट

इकाई–10 : रस सिद्धांत

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
10.1 रस सिद्धांत
10.2 सारांश (Summary)
10.3 शब्दकोश (Keywords)
10.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
10.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- रस का अर्थ ग्रहण करने हेतु।
- रस-सिद्धांतों को समझने हेतु।
- रस-निष्पत्ति पर विविध मतों को जानने हेतु।
- साधारणीकरण का वर्णन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

रस शब्द का प्रयोग सामान्यत: पदार्थों का रस, अम्ल, साहित्य का रस और भक्ति या मोक्ष आदि के लिए होता है। रस के संबंध में भरत मुनि का सिद्धांत सर्वप्रथम मान्य हुआ है। सामान्य अर्थों में साहित्य के अध्ययन, देखने और सुनने से जिस आनंद की अनुभूति होती है, उसे रस कहा जाता है।

10.1 रस सिद्धांत

रस के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि हैं। यद्यपि राजशेखर ने भरत को रूपक और नंदिकेश्वर को रस आदि निरूपक आचार्य माना है–

रूपक, निरूपणीयं भरत:, रसाधिकारिक नंदिकेश्वर:। –काव्य मीमांसा

किंतु साक्ष्यों के अभाव में आचार्य भरत ही रस सिद्धांत के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं, क्योंकि काव्यशास्त्र के उपलब्ध प्राचीनतम भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में सर्वप्रथम शास्त्रीय और व्यापक रूप में रूपकों और रस का विवेचन-विश्लेषण मिलता है। रस विशुद्ध रूप से काव्यशास्त्रीय शब्द है। किंतु वैदिक ग्रंथों में काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व रस शब्द अनेक अर्थों में व्यापकता के साथ प्रयुक्त हुआ है। अत: प्रयोग की दृष्टि से रस शब्द भारतीय वाङ्मय का प्राचीन शब्द है। रस सर्वप्रथम वैदिक ग्रंथ ऋग्वेद में पदार्थों के सारभूत द्रव, दूध, जल और सोम रस के लिए प्रयुक्त हुआ था, जैसे–

1. *महे यात्पित्रई रसं दिवे करवत्सवरत्.....(पदार्थों के साभूत द्रव)* –ऋग्वेद, 1/71/5
2. *यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां वस्तनूनाम्* (दूध और जल) –ऋग्वेद, 7/104/10
3. *सोमो अर्वति धर्ष सिर्दधान इंद्रियं रसम्। सूवीरो अभिशास्तिया:।* –ऋग्वेद, 9/6/6

नोट्स रस-भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनतम सिद्धांत है।

वस्तुत: स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त रस शब्द-विशिष्ट आस्वाद अथवा आह्लाद का प्रतीक है साथ ही वे रस के अर्थ विकास को स्पष्टत: प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में प्रयुक्त रस शब्द उसके अर्थ विकास को स्पष्ट करते हुए रस आत्मानंद का वाचक बन जाता है–

आकोमो धीरो अमृत: स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोन:।

तमेव विद्वान न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।।

–अथर्ववेद, 10/5/44

इसी प्रकार उपनिषदों में 'रस' शब्द बहुलता के साथ प्रयुक्त हुआ है।

क्या आप जानते हैं वेदों के अर्थ विकास के क्रम में उपनिषदों में रस द्रव्य की पोषक शक्ति, आस्वाद, ऊर्जा और आह्लाद आदि विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है–

औषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेत:। तेतस: पुरुष: स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय:। –तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/1

इतना ही नहीं उपनिषदों मे रस अलौकिक अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। इसका स्पष्ट आख्यान छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है–

मनोमय: प्राणशरीरो भारूप: सत्य संकल्प आकाक्षात्मक सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:.....।

–छान्दोग्य उपनिषद्, 2/7

इसीलिए जीव इसको पाकर आनंद की अनुभूति करता है–

रसो वै स:। रसं ह्येवायलब्ध्वानन्दी भवती।। –तैत्तिरीय उपनिषद्, 2/7

वस्तुत: वेद, उपनिषद् आदि ग्रंथों के अनुशीलन से निष्कर्ष निकलता है कि काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व रस शब्द का पर्याप्त अर्थ विकास हो चुका था। इतना ही नहीं वैदिक साहित्य में रस शब्द का प्रयोग शृंगार आदि साहित्य के रसों के लिए भी मिलता है। इसलिए रस सिद्धांत के प्रवर्तक भरत का स्पष्ट मत है कि नाट्यशास्त्र नामक इस पंचमवेद में ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से नृत्य और संगीत, यजुर्वेद से अभिनव और अथर्ववेद से रस तत्त्व लिया गया है–

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानभर्वणादपि।। –नाट्यशास्त्र, 1/17.

टास्क रस सिद्धांत पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

रस के संबंध में भरत मुनि का सिद्धांत सर्वप्रथम मान्य हुआ। पर अलंकारवादी, रीतिवादी वक्रोक्तिवादी आचार्यों ने

नोट

किसी न किसी रूप में उसकी चर्चा की है। दंडी में अपने 'काव्यादर्श' में रस का विवेचन किया है। वामन ने उसे कांति गुण का मूल तत्त्व माना है—दीप्ति रसत्व कांतिः। रुद्रट ने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया। ध्वनिकार आनंदवर्धन ने रस को ध्वनि का प्रधान अंग कहा है। अभिनव गुप्त ने रस की विशेष व्याख्या की। मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ ने भी रस की प्राण सत्ता माना है। रसवत् को अलंकार मानने वाले आचार्यों में भामह से लेकर उद्भट तक ऐसा मानते हुए भी परोक्ष रूप से रस की अलंकार का मूल तत्त्व है, ऐसे संकेत उभरते हैं। रसवत् अलंकार के रूप में मान्य नहीं हुआ और इस प्रकार रस की स्वतंत्र सत्ता बनी रही।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. उपनिषदों में ·············· शब्द बहुलता से प्रयोग हुआ है।
2. नाट्यशास्त्र नामक पंचम वेद में ·············· से रस तत्त्व लिया गया है।
3. राजशेखर ने भरत को ·············· और नंदिकेश्वर को रस आदि निरूपक आचार्य माना है।

10.2 सारांश (Summary)

- रस विशुद्ध रूप से काव्यशास्त्रीय शब्द है। किंतु वैदिक ग्रंथों में काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व रस शब्द अनेक अर्थों में व्यापकता के साथ प्रयुक्त हुआ है।
- रस के संबंध में भरत मुनि का सिद्धांत सर्वप्रथम मान्य हुआ। पर अलंकारवादी, रीतिवादी वक्रोक्तिवादी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में उसकी चर्चा की है। दंडी में अपने 'काव्यादर्श' में रस का विवेचन किया है। वामन ने उसे कांति गुण का मूल तत्त्व माना है—दीप्ति रसत्व कांतिः। रुद्रट ने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया। ध्वनिकार आनंदवर्धन ने रस को ध्वनि का प्रधान अंग कहा है।

10.3 शब्दकोश (Keywords)

- रस : स्वाद (साहित्य रस जैसे श्रृंगार, हास्य, करुण आदि)
- सिद्धांत : निश्चित मत, उसूल, पक्की राय

10.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. रस से आप क्या समझते हैं?
2. रस सिद्धांत से क्या अभिप्राय है?
3. रस सिद्धांत पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. रस   2. अथर्ववेद   3. रूपक

10.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. भारतीय काव्यशास्त्र – *डॉ. सत्यदेव चौधरी।*

इकाई–11 : रस का स्वरूप, रस निष्पत्ति एवं इसके अंग

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
11.1 रस का स्वरूप
11.2 रस निष्पत्ति : विविध मत
11.3 रस के अंग
11.3.1 विभाव
11.3.2 अनुभाव
11.3.3 व्यभिचारी भाव
11.4 रसाभास और रस दोष
11.5 रसों के वर्ण और देवता
11.6 सारांश (Summary)
11.7 शब्दकोश (Keywords)
11.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
11.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- रस के स्वरूपों को जानने हेतु।
- रस निष्पत्ति पर विभिन्न आचार्यों के मतों को समझने हेतु।
- रस के विभिन्न अंगों को जानने हेतु।
- रसाभास और रस दोष को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

सामान्यत: रस शब्द का प्रयोग पदार्थों का रस, अम्ल, तिक्त, कषाय आदि आयुर्वेद का रस, साहित्य का रस और भक्ति या मोक्ष आदि के लिए होता है। इन विविध रूपों के लिए प्रयुक्त रस का अर्थ आस्वाद अथवा आह्लाद होता है। व्याकरणाचार्यों ने रस शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ की हैं–

1. रस्यते आस्वाद्यते इति रस: (जिन पदार्थों का आस्वादन किया जाता है, वे रस हैं।)

नोट

2. रस्यते अनेन इति रस: (जिन पदार्थों के द्वारा आस्वादन किया जाता है, उनको रस कहते हैं।)
3. रसति रसयति वा रस: (जो व्याप्त हो जाता है या व्याप्त कर लेता है, उसको रस कहते हैं।)
4. रसनं रस: आस्वाद: (जो आस्वाद है, उसको रस कहते हैं।)

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों में से प्रथम और अंतिम व्युत्पत्ति साहित्य के रस के निकट पड़ती है, क्योंकि साहित्य के रस का आस्वादन किया जाता है और साहित्य का रस आस्वाद रूप होता है।

11.1 रस का स्वरूप

सामान्य अर्थों में साहित्य के अध्ययन, देखने और सुनने से जिस आनंद की अनुभूति होती है, उसे रस कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस को परिभाषाबद्ध करने वाले प्रथम आचार्य भरत हैं। आचार्य भरत के रस लक्षण ही उत्तरवर्ती आचार्यों के रस निरूपण का आधार रहा है। भरतमुनि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति मानते हैं–

विभावानु भावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।

–नाट्यशास्त्र, पृ. 93

भरत मुनि रस को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक भावों और अभिनवों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं। नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं–

यथा हि नाना व्यंजन संस्कृतमन्नं भुञ्जाना, रसानास्वादयन्ति
सुमनस्: पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनय
व्यञ्जितान् वाङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानाश्चादयन्ति
सुमनसः प्रक्षेकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यारसा
इत्यभिव्याख्याताः।

–नाट्यशास्त्र

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आचार्य भरत रस को आस्वाद्य विषय मानते हैं। उनकी दृष्टि में रस अनुभूति न होकर अनुभूति का विषय है। इस दृष्टि से रस विषय निष्ठ सिद्ध होता है।

नोट्स भरत के रस सूत्र के व्याख्याता भट्ट लोल्लट विभावादि कारणों से उत्पन्न अनुभवों से प्रतीति योग्य और संचारियों से परिपुष्ट ऐतिहासिक पात्र रामदि रूप के अनुकार्य से नट में प्रतीयमान इत्यादि स्थायी भाव को रस कहते हैं।

..... मुख्यता वृत्ता रामादावनुकार्येः तदुपतानानुसंधानान्नत्तर्केऽपि प्रतीयमानो रस इति.....।

–काव्य प्रकाश, पृ. 66.

शंकुक ने कारण रूप विभावों, कार्यरूप अनुभावों और सहकारी रूप व्यभिचारी भाव से प्रयत्नजन्य ऐतिहासिक पात्रों में स्थित स्थायी भाव के अनुकरण द्वारा अनुकर्ता (नट) में प्रतीत (अनुमित) होने वाला रस कहा है–

तस्मात् हेतुभिर्विभावाख्यैः, कार्यैनुभावात्मभिः सहकारिरूपैश्च
व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः

अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यशमा दिगतस्थायनुकररूपः अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यदिष्टो रसः।

भट्ट नायक का मत है कि काव्य और नाटक में अभिधा से द्वितीय विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्त्व नामक व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत) स्थायीभाव, सत्त्व के उद्रेक से प्रकाश और आनंदमय ब्रह्मास्वाद के समान होता है–

काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्त्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेक प्रकाशानंदमय संविद्विश्रान्ति....।

–काव्य प्रकाश, पृ. 72.

रस सूत्र के सर्वमान्य व्याख्याकार अभिनव गुप्त प्रत्येक दशा में (सर्वथा) आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति को ग्राह्य भाव को रस मानते हैं–

सर्वथा रसनात्मक नीति विघ्न प्रतीतिग्राह्यो भाव एवं रसः।

–हिंदी अभिनव भारती, पृ. 473.

काव्य प्रकाशकार मम्मट ने रस के उपकरणों को स्पष्ट करते हुए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यंजनावृत्ति द्वारा व्यक्त स्थायी भाव को रस कहा है–

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।

–काव्य प्रकाश, 4/20.

कविराज विश्वनाथ भी अभिनव गुप्त की भांति रस को आस्वाद या आनंद रूप मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि सहृदय में रत्यादि रूप स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा अभिव्यक्त होता है, उसे रस कहते हैं–

विभावेनुभावेन व्यक्तः संचारिक तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्।।

–साहित्य दर्पण, 3/1.

विश्वनाथ का मत है कि कतिपय लोग ही काव्यानंद (रस) का अनुभव कर पाते हैं। इस रस का अनुभव सत्त्वगुण (सतोगुण) प्रधान सहृदय पाठक को होता है।

क्या आप जानते हैं विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायीभाव रूप 'रस' अखंड, स्वयं प्रकाशित, आनंदमय इत्यादि संवेदन रूप अनुभूति है, जिसके साथ किसी अन्य ज्ञेय वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता है।

यह अनुभूति आत्म साक्षात्कारजन्य अर्थात् ब्रह्मानंद की भांति है। यह अनुभव अलौकिक और चमत्कारपूर्ण है और ब्रह्मानंद की अनुभूति की भांति इसके आस्वाद से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं रहता–

सत्वेद्रिकादखण्ड स्व प्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यों ब्रह्मास्वाद सहोदरः।।

नोट

लोकोत्तरचमत्कार प्राणः कैश्चिद् प्रमातृभिः।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वादयते रसः॥ –साहित्य दर्पण, 3/2-3.

पंडितराज जगन्नाथ रस को निर्विवाद अलौकिक आनंद व्याप्य पदार्थ और सौंदर्यमय वस्तु मानते हैं–

....परमाह्लादाविनाभावितया प्रतीयमानः प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयतामावहतीति निर्विवादम्।

–रस गङ्गाधरः (प्रथमाननम्), पृ. 121.

टास्क रस से आप क्या समझते हैं?

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. जिन पदार्थों के द्वारा आस्वादन किया जाता है, वे .... हैं।
2. .... रस को आस्वाद्य विषय मानते हैं।
3. .... का मत है कि कतिपय लोग ही काव्यानंद (रस) का अनुभव कर पाते हैं।

11.2 रस निष्पत्ति : विविध मत

यद्यपि संपूर्ण रस सिद्धांत की आधारशिला भरत प्रदत्त रस सूत्र **विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति है,** क्योंकि इसी सूत्र पर रस सिद्धांत का भव्य भवन टिका हुआ है। भरत का यह रस सूत्र एक साथ रस की परिभाषा और रस सिद्धांत के स्वरूप का बोधक भी है। कारण स्पष्ट है–आचार्य भरतमुनि ने इसी सूत्र के आधार पर रस के स्वरूप को आनुषंगिक रूप में प्रस्तुत किया था। आद्य आचार्य भरतमुनि का स्पष्ट मत है कि जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी इस रूप को प्राप्त होते हैं–

यथा हि नाना व्यंजनौषधिद्रव्य संयोगाद्रस निष्पत्तिर्भवति, यथा
हि गुडादिभिर्द्रव्यै व्यंजनैशेषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वतन्ते,
तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

–नाट्यशास्त्र

आचार्य भरतमुनि रस को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–आस्वाद्य होने से, आस्वाद्य को रस कहा जाता है। जिस प्रकार नाना व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग द्वारा प्रसन्नचित पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं। नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं। रस विषयक विभिन्न मतों का सामान्य परिचय दिया जा रहा है–

1. भट्ट लोल्लट–भरत कृत रस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार लोल्लट है। यद्यपि उनका ग्रंथ अप्राप्य है, किंतु इनके मतों को अभिनव गुप्त ने **अभिनव भारती** और **ध्वन्यालोक लोचन** तथा मम्मट ने **काव्य प्रकाश** में उद्धृत किया है। ये उद्धरण अत्यंत संक्षिप्त हैं, तथापि इन उद्धरणों के द्वारा भट्ट लोल्लट की 'रस' निषयक धारणाएँ स्पष्ट हो

जाती हैं। साथ ही भरत के **विभावानुभावस्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्ति** की सम्यक् व्याख्या हो जाती है। भट्ट लोल्लट का रस विषयक मत **आरोपवाद** अथवा **उत्पत्तिवाद** कहलाता है, क्योंकि लोल्लट का स्पष्ट मत है कि विभावों आदि कारणों से उत्पन्न रत्यादि स्थायी भाव अनुभवों से प्रतीति योग्य होकर संचारियों के सहयोग से परिपुष्ट होते हैं और मुख्य चरित्र रसादि के रूप के अनुकार्य और उसके स्वरूप के अनुसंधान से नट में प्रतीयमान स्थायी भाव ही रस है–

> **विभावैललनोदयानादिभिरालम्बनोद्दीपन कारकैः रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः काटाक्षभुजाक्षेप प्रभृतिभिः कार्यैं प्रतीतियोग्य कृतः व्यभिचारिभि निर्वेदादिभिः सहकारिभिरूपचितो मुख्यया वृत्ता रासादावनुकार्ये तद्रू पतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्ट लोल्लट प्रभृतयः।**

–काव्य प्रकाश, पृ. 66.

भट्ट लोल्लट के रस सूत्र के विवेचन से स्पष्ट होता है कि वे भरत के संयोग को संबंध और निष्पत्ति को उत्पत्ति मानते हैं। उनकी दृष्टि में रस की उत्पत्ति के तीन तत्त्व–कारण, कार्य और सहकारी कारण हैं। रस उत्पत्ति के कारण विभाव कार्यानुभाव और सहकारी कारण संचारी भाव हैं। वे रस की उत्पत्ति रामादि मुख्य पात्रों के अनुकार्य (नट) में मानते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विभाव रत्यादि भावों के उत्पादक कारण हैं। अतः रस के साथ विभाव का उत्पाद्य उत्पादक संबंध सिद्ध होता है। अनुभाव रस की प्रतीति में सहायक होते हैं, क्योंकि ऐतिहासिक अथवा मुख्य पात्र रामादि के अनुकार्य द्वारा नट कायिक और मानसिक चेष्टाओं से रस की प्रतीति करता है। अतः रस के अनुभावों का गम्य गम्यक संबंध प्रकट होता है और संचारियों से रत्यादि भाव पुष्ट होते हैं। इसलिए इनका रस से संबंध पोष्य-पोषक संबंध सिद्ध होता है। इसी प्रकार भरत सूत्र में प्रयुक्त संयोग शब्द की भांति निष्पत्ति के भी तीन अर्थ हैं–उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि। अर्थात् विभाव के साथ रत्यादि स्थायी भावों का उत्पाद्य-उत्पादक संबंध होने पर रस की उत्पत्ति होती है। अनुभावों के साथ रत्यादि का गम्य-गम्यक संबंध होने से रस की प्रतीति होती है और व्यभिचारी भावों के साथ रत्यादि का पोष्य-पोषक संबंध से रस पुष्ट होता है।

वस्तुतः भरत के रस सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्ट लोल्लट ने कतिपय नूतन उद्भावनाएँ की हैं, क्योंकि आचार्य भरत रस विवेचन में विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के साथ रस का संबंध स्पष्ट नहीं कर पाए थे। इस कमी की।

क्या आप जानते हैं भट्ट लोल्लट ने रत्यादि भावों के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के साथ क्रमशः **उत्पाद्य-उत्पादक, गम्य-गम्यक** और **पोष्य-पोष्यक** संबंध स्थापित करके पूर्ति की है।

इसके अतिरिक्त इन्होंने रामादि पात्रों के तद्रूप अनुकार्य नट में रस की अवस्थिति मानकर ऐतिहासिक पात्रों को महत्त्व प्रदान किया है। इसके साथ ही अनुकरण की महत्ता का प्रतिपादन किया है। जो अभिनय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण गुण है।

भट्ट लोल्लट की रस सूत्र की व्याख्या पर्याप्त परिष्कृत होते हुए भी विद्वानों के लिए सर्वथा ग्राह्य नहीं हो पाई। परवर्ती आचार्यों को भट्ट लोल्लट की रस व्याख्या में अनेक दोष परिलक्षित हुए, क्योंकि भट्ट लोल्लट ने रस की अवस्थिति रामादि ऐतिहासिक पात्रों के अनुकर्ता (नट) में मानी थी। सहृदय अथवा सामाजिक में नहीं। जबकि नाटक के मंचन से दर्शक को रससिक्त अथवा आनंद प्रदान करना होता है। फिर भला नट में उत्पन्न 'रस' से सामाजिक कैसे आनंदित

नोट

हो सकता है? इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाए हैं। इस दृष्टि से आचार्य भट्ट लोल्लट की रस सूत्र विषयक व्याख्या अपूर्ण प्रतीत होती है। यदि रस की उत्पत्ति प्रधान रूप से ऐतिहासिक पात्र और उसके अनुकर्ता नट में मानी भी जाए तो ऐसी दशा में काव्यानुभूति और लौकिक अनुभूति में अंतर मिट जाएगा तथा काव्यानुभूति भी लौकिक अनुभूति की भांति सुख-दु:खात्मक ही होगी। जबकि नाट्य एवं काव्य की रसात्मक अनुभूति सदैव सुखात्मक ही होती है। आचार्य भट्ट लोल्लट विभावों और रस में कारण कार्य संबंध मानते हैं, जो सर्वथा अवैज्ञानिक है, क्योंकि लोक जीवन में कारण के नष्ट होने पर भी कार्य नष्ट नहीं होता है। जबकि विभावादि कारणों के नष्ट हो जाने पर कार्य रूप रस नष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं भट्ट लोल्लट विवेचित 'रस' नाट्य विधा पर आधारित होने के कारण अत्यंत संकीर्ण हो गया है।

2. श्री शंकुक—रस सूत्र के द्वितीय व्याख्याता आचार्य शंकुक हैं। भट्ट लोल्लट की भांति श्री शंकुक का स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है किंतु अभिनव गुप्त के **अभिनव भारती** और **ध्वन्यालोचन** तथा मम्मट कृत **काव्य प्रकाश** में **श्री शंकुक** के मत उद्धृत हैं। इन ग्रंथों में उद्धृत श्री शंकुक के उद्धरणों से भरत के रस सूत्र की व्याख्या हो जाती है। इन्होंने भरत के रस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कारण रूप विभावों, कार्य रूप अनुभावों और सहकारी रूप व्यभिचारी भावों से प्रयत्नजन्य ऐतिहासिक पात्रों में स्थित स्थायी भाव के अनुकरण द्वारा अनुकर्ता नट में प्रतीत (अनुमित) होने वाला 'रस' कहलाता है—

> **तस्माद् हेतुभिविभावाख्यैः कायैरनुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नर्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्ग बलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्य रामादिगत स्थाय्यनुकरण रूपः अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यदिष्टो रसः।**

—अभिनव भारती

वस्तुत: शंकुक रत्यादि स्थायी भावों की मूल अथवा काव्य निबद्ध रामादि पात्र हैं और अनुकर्ता (नट) इनका अनुकरण करता है। वह अनुभावों और व्यभिचारियों का क्रमश: काव्य, शिक्षा (अभ्यास) और कृत्रिम अनुभावों द्वारा अनुकरण करता है और अभिधा शक्ति द्वारा रत्यादि स्थायी भावों को बोधित करता है।

> **विभावाः हि काव्य बलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जन बलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसंधेयः। रतिः शोकः इत्यादयो हि शब्दारत्या दिकमभिधेययी कुर्तन्त्येभिधानत्वेन।**

—अभिनव भारती

श्री शंकुक की दृष्टि में अनुकर्ता में स्थायी भाव नहीं होता है, क्योंकि अनुभावादि के समान वह स्थायी भाव का अभिनय नहीं कर सकता, किंतु नट के सफल अभिनय के द्वारा सामाजिक स्थायी भाव का अनुमान कर लेता है। यद्यपि अनुमान का आधार कृत्रिम होता है, लेकिन सामाज के मन में विद्यमान वासना रूप सस्कारों से स्थायी भाव का अनुमान रस बन जाता है। श्री शंकुक की दृष्टि में नट में स्थायी भाव का अनुमान का ज्ञान न तो सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या प्रतीति, न संशय प्रतीति और नहीं सादृश्य प्रतीति है, अपितु वह एक विलक्षण प्रतीति है जिसे 'चित्रतुरंगादिन्याय' से अनुकर्ता (नट) में रामादि मूल पात्रों की प्रतीति होती है। फलत: सामाजिक अनुकर्ता नट में मूल पात्र रामादि में विद्यमान रत्यादि स्थायी भावों का अनुमान लगाता है और आनंद की अनुभूति करता है—

> **राम एवायम् अयमेव राम इति न रामोऽयमित्यौत्तर कालिके बाधे रामोऽयमिति रामः स्याद्वा न वाऽयामिति रामसादृश्योऽमिति च सम्यक् मिथ्या संशय सादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणतया चित्र**

नोट

तुरंगादि न्यायेन रामोऽमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे।

–काव्य प्रकाश, पृ. 68

वस्तुत: श्री शंकुक ने भरत के **निष्पत्ति** को **अनुमिति** और **संयोगात्** को **अनुमाप्य-अनुमापक** मानकर विभावादि को **अनुमापक** और **रत्यादि** को **अनुमाप्य** माना है। रस निष्पत्ति को 'अनुमिति' मानने के कारण श्री शंकुक के रस विवेचन को **अनुमितिवाद** कहा जाता है। इस प्रकार श्री शंकुक के रस विवेचन के विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि विभावादि का ऐतिहासिक पात्र (मूल पात्र) में विद्यमान रत्यादि भावों के अनुकरण से नट में सामाजिक स्थायी भाव रूप रस का अनुमान करता है।

भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद की भांति श्री शंकुक का अनुमितिवाद भी सर्वग्राह्य नहीं हो सका, क्योंकि शंकुक का मत, अनुमान पर आधारित है। जबकि अनुमान बुद्धि का विषय है और रस हृदय का विषय है। ऐसी दशा में बुद्धि का विषय 'अनुमान' आनंद की अनुभूति कैसे करा सकता है? जबकि अनुमान तो ज्ञान प्रदान करता है। इतना ही नहीं इन्होंने भट्ट लोल्लट और भरत की भांति रस विवेचन में अभिनय को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। जबकि नाट्य के अतिरिक्त काव्य में भी विविध रसों की स्थिति बराबर बनी रहती है। इसके अतिरिक्त श्री

नोट्स शंकुक ने विभावादि रस के उपकरणों से रत्यादि का अनुमापक-अनुमाप्य संबंध माना है। जो सर्वथा अवैज्ञानिक है, क्योंकि नाटक अथवा काव्य में कभी-कभी विभावादि की स्थिति पर भी रसानुभूति नहीं हो पाती।

3. भट्ट नायक–भरत के रस सूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्ट नायक हैं। रस सूत्र के पूर्ववर्ती व्याख्याकारों की भांति भट्ट नायक का स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। भट्ट नायक के रस विवेचन विषयक मतों को अभिनव गुप्त ने **अभिनव भारती** और **ध्वन्यालोचन** तथा मम्मट ने **काव्य प्रकाश** में उद्धृत किया है। इन ग्रंथों में उद्धृत भट्ट नायक के मतों से स्पष्ट होता है कि उन्होंने सर्वप्रथम पूर्ववर्ती रस के व्याख्याकारों के मतों का खंडन करते हुए भरत मुनि के रस **निष्पत्ति** को **मुक्ति** या **भोगवाद** और **संयोगात्** को **भोज्य-भोजक** स्वीकार किया है। उनका स्पष्ट मत है कि रस न तो प्रतीत होता है न उत्पन्न होता है और न हीं अभिव्यक्त होता है–

रसो न प्रतीयते नोत्पद्य नाभिव्यज्यते।। –अभिनव भारती, पृ. 462.

भट्ट नायक रस को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि रस की तटस्थ (नटगत या अनुकार्य रूप से) स्वगत रूप से प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति नहीं होती है। बल्कि काव्य और नाटक में अभिधा से द्वितीय विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्त्व नाम व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत) स्थायी भाव, सत्त्व के उद्रेक के प्रकाश और आनंदमय ब्रह्मास्वाद के समान भोग अथवा भोजकत्त्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है–

न ताटस्थेन नात्मगतत्त्वेन रस प्रतीयते नोत्पाद्यते, वाभिव्यज्यते
अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि
साधारणीकरणात्मना भावकत्त्व व्यापारेण भाव्यमान: स्थायी
सत्त्वोद्रेक प्रकाशानंदमय संविद्धि श्रांति सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते।

–काव्य प्रकाश, पृ. 72.

वस्तुत: भारतीय काव्यशास्त्र में भट्ट नायक का रस विवेचन (भुक्तिवाद) कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उनके रस विवेचन की सर्वाधिक उपलब्धि काव्य निबद्ध पात्रों के विभावादि काव्य उपकरणों की साधारणीकृत भाव की प्रकल्पना है, क्योंकि भट्ट नायक ने सर्वप्रथम साधारणीकरण व्यापार के द्वारा नाटक एवं काव्य में कवि निबद्ध पात्रों के विभावादि भावों का सहृदय पाठक तक सम्प्रेषित होने की प्रकल्पना की थी, जो निश्चित ही भारतीय काव्यशास्त्र

नोट

की महत्त्वपूर्ण सिद्धि है। इतना ही नहीं इन्होंने ही सर्वप्रथम साधारणीकरण के द्वारा करुणादि रसों की आनंदरूपता का प्रबल समर्थन किया था। फलतः भारतीय काव्यशास्त्र में लौकिक सुख-दु:खात्मक रत्यादि भावों में अलौकिकता का संधान होने लगा और रस को ब्रह्मानंद तथा ब्रह्मास्वाद मानने की परंपरा चल पड़ी, किंतु अपने पूर्ववर्ती भरत के रस सूत्र के व्याख्याता आचार्यों की भांति भट्ट नायक का रस विवेचन 'भुक्तिवाद' भी परवर्ती विद्वानों की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान नहीं कर पाया, क्योंकि उनके रस विवेचन में अनेक भ्रांत धारणाएँ होने के कारण सर्वग्राह्य नहीं हो पाया। अतः उनके रस विवेचन में कतिपय अपेक्षाएँ रह गई हैं, जिनमें स्थूल अपेक्षाएँ निम्न प्रकार हैं–

भट्ट नायक रस को न तो प्रतीति, न अभिव्यक्ति, न उत्पत्ति और नहीं निष्पत्ति मानते हैं। ऐसी दशा में रस क्रमशः प्रतीति और अभिव्यक्ति न होने के कारण 'नित्य' तथा निष्पत्ति और उत्पत्ति न होने के कारण 'असत्' हो जाएगा, क्योंकि जो नित्य है उसकी प्रतीति एवं अभिव्यक्ति नहीं होती है और जो असत् है–उसकी उत्पत्ति एवं निष्पत्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार रस की प्रतीति, अभिव्यक्ति, उत्पत्ति और निष्पत्ति के निषेध से रस के अस्तित्त्व पर प्रश्न चिह्न लग सकता है। इसीलिए अभिनव गुप्त ने भट्ट नायक के मत को संशोधित करते हुए रस की प्रतीति और अभिव्यक्ति दोनों को स्वीकार किया है–

अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यत्ते इति। –ध्वन्यालोक, पृ. 190.

भट्ट नायक ने रस को विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्त्व नामक व्यापार से भाव्यमान स्थायी भाव को भोग (भोजकत्त्व) के द्वारा आस्वादित मानते हैं। लेकिन इन्होंने रसास्वादन के लिए सहायक जिन भावकत्त्व और भोजकत्त्व नामक व्यापार का उल्लेख किया है उनका शास्त्र में किसी भी प्रकार का शास्त्रीय आधार नहीं है। प्रतीत होता है कि ये सर्वथा प्रकल्पित हैं। इसलिए अभिनव गुप्त काव्य को भोजकत्त्व व्यापार ही ध्वनन (व्यंजनावृत्ति) व्यापार मानते हैं–

भोगीकरण व्यापारश्च काव्यस्य रस विषयो ध्वननात्मैक नान्यात्किंन्चित्।

–ध्वन्यालोक पृ. 395.

4. अभिनव गुप्त–ये रस सूत्र के प्रौढ़ व्याख्याता माने जाते हैं। इनके रस विषयक मत **अभिनव भारती** और **ध्वन्यालोकलोचन** में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। इनके मतों के सार का उल्लेख मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में किया है। अभिनव गुप्त का रस मत **अभिव्यक्तिवाद** कहलाता है। वे भरत के संयोगात् को व्यंग्य-व्यंजकत्त्व संबंध और **निष्पत्ति** को **अभिव्यक्ति** मानते हैं। वे रस को व्यंग्य और विभावादि को व्यंजकत्त्व मानते हैं।

अभिनव गुप्त का मत है कि काव्यात्मक वाक्यार्थ से सहृदय को सामान्य अर्थ-बोध (वाच्यार्थ ज्ञान से) की अधिक प्रतीति होती है, क्योंकि साधारण वाक्य की अपेक्षा काव्यात्मक वाक्य में कवि निबद्ध पात्र, देशकाल विभाग अर्थात् पात्रों के विभावादि का साधारणीकरण होता है। फलतः काव्यात्मक वाक्य साधारणीकृत होकर सहृदय के लिए निर्विघ्न प्रतीति का कारण बनता है। इस प्रकार की निर्विघ्न प्रतीति से भयादि स्थायी भाव रस रूप में सहृदय ग्राह्य बनते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सहृदय इसी प्रतीति के द्वारा काव्यात्मक रस का आस्वादन करता है–

> **तत्काव्यो रस..... काव्यात्मकादिपि शब्दादधिकारिणोऽधिकारित प्रतिपत्तिः..... तस्य च ग्रीवाभंगाभिरामम्..... इत्यादि क्येभ्यो वाक्यार्थ प्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारत्मिका उपहसिततत्कद्वाक्योपात्त कालादि विभागा तावत्प्रतीति रूपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिभांति तस्य विशेष रूपत्वाभवाद भीत इति, त्रासक स्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यना लिङ्गित, तत एवं भीतोऽयं भीतोऽहं..... विघ्न बहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्यं, साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं, भयानको रसः।..... एवं परोऽपि।**

–हिंदी अभिनव भारती, पृ. 473.

अभिनव गुप्त नाटक और काव्य में निबद्ध विभावादि का साधारणीकरण समष्टि रूप में मानते हैं। उनका मत है कि नाटक और काव्य में निबद्ध विभावादि के साधारणीकरण को नटादि सामग्री पोषित करती है। फलत: साधारणीकरण व्यापार अत्यंत पुष्ट हो जाता है। अभिनव गुप्त का मत है कि अनादि संस्कारों के द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण सभी सामाजिकों को काव्यात्मक वाक्य का साधारणीकृत रूप की 'प्रतीत' समान रूप से होती है–

तत एव न परिमिमेव साधारण्यमपि तु विततम्...... तदत्र
साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादि सामग्री। यस्यां वस्तुसतां
काव्यार्पितानां च देशकाल प्रमात्रादीनां....... साधारणीभाव: सुतरां
पुष्यति/अतएव सर्वसामाजिक नायेकघनब्दैव प्रतियात्ति सुतरां
रस परिपोषाय। सर्वेषामनादि वासना चित्रीकृत चेतसा।

–हिंदी अभिनव भारती, पृ. 473.

अभिनव गुप्त साधारणीकृत विघ्न रहित प्रतीति को **चमत्कार** मानते हैं–**सा चाविघ्ना संवित् चमत्कार।** और वे आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव को रस और विभावादि को विघ्नों का उपसारक मानते हैं–

सर्वथा रसानात्मकवीत विघ्न प्रतीति ग्राह्यो भाव एव
रस:। तत्र विघ्नापसारका विभाव प्रभृतय:। –अभिनव भारती, पृ. 473

अभिनव गुप्त का काव्यात्मक वाक्य की साधारणीकृत निर्विघ्न रस प्रतीति को आस्वादन रूप उत्पन्न मानते हैं। उनका मत है कि अभिधा से पृथक् व्यंजनात्मक ध्वनन व्यापार द्वारा सहृदय निर्विघ्न प्रतीति रूप रस का आस्वादन करता है–

तेन प्रतीतिस्तानद्रसस्य सिद्धा। सा च रसना रूपा प्रतीति रुत्पद्यते।
वाच्यवाचकयोस्तमाभिधादि विवितो व्यंजनात्मक ध्वननव्यापार एव।

–ध्वन्यालोक, पृ. 187

इसलिए अभिनव गुप्त का मत है कि रस अभिव्यक्त होता है और प्रतीति के द्वारा आस्वादगोचर होता है–

व्याभिव्यज्यन्ते रसा: प्रतीत्यैव च रस्यन्ते इति। –ध्वन्यालोक, पृ. 190

वस्तुत: अभिनव गुप्त का रस विवेचन सर्वाधिक प्रौढ़ और पुष्ट है। इनका रस विवेचन अत्यंत गंभीर और प्रामाणिक होने के कारण सर्वग्राह्य बन पड़ा है। कुल मिलाकर इनका रस विवेचन पूर्ववर्ती आचार्यों के रस विषयक विवेचन के निष्कर्षों पर आधारित है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के रस विवेचन में आए दोषों का तर्क सम्मत समाधान प्रस्तुत करने के कारण इनका रस विवेचन सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

भरत का रस सूत्र के अन्य व्याख्याता आचार्यों में दशरूपककार धनंजय, महिमभट्ट, मम्मट, कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है। किंतु ये आचार्य भरत के रस सूत्र विवेचन में किसी भी प्रकार की मौलिकता नहीं दे पाए हैं। इन्होंने मात्र अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद का ही समर्थन किया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. भरत कृत 'रस सूत्र' के प्रथम व्याख्याकार कौन हैं?

    (अ) भट्ट लोल्लट (ब) आचार्य भरत मुनि
    (स) विश्वनाथ (द) इनमें से कोई नहीं

नोट

5. श्री शंकुक की दृष्टि में अनुकर्त्ता में कौन-सा भाव नहीं होता?

(अ) अनुभाव (ब) विभाव

(स) स्थायी भाव (द) इनमें से कोई नहीं

6. भरत के 'रस सूत्र' के तीसरे व्याख्याता कौन हैं?

(अ) भट्ट लोल्लट (ब) भट्ट नायक

(स) श्री शंकुक (द) इनमें से कोई नहीं

11.3 रस के अंग

जिन कारणों से शृंगारादि रसों की निष्पत्ति, अस्वाद अथवा अनुभूति प्राप्त होती है, वे रस की सामग्री कहे जाते हैं। आद्य आचार्य भरत के रस सूत्र में ही रस की सामग्री उपलब्ध हो जाती है–

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोद्रस निष्पतिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के साथ रत्यादि स्थायी भावों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। अतः रस की उत्पत्ति हो, चाहे आस्वादन या अनुभूति, उसके मूल कारण स्थायी भावों के साथ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव होते हैं। इसलिए रस की सामग्री के अंतर्गत स्थायी भावों, विभावों, अनुभावों और संचारीभावों की गणना होती है। भारतीय काव्यशास्त्र के रस सिद्धांत के अंतर्गत रस सामग्री भी विवेच्य विषय रही है। रस की सामग्री का सामान्य परिचय इस प्रकार है–

11.3.1 विभाव

विभाव का तात्पर्य है–**कारण।** अतः विभाव सामाजिक के हृदय में विद्यमान रत्यादि भावों के उद्दीपक कारणों को विभाव कहा जाता है। अधिकांश आचार्यों ने विभाव को परिभाषित किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार लोक में जो पदार्थ लौकिक रत्यादिभावों से उद्वेलित होते हैं, वे वहीं नाट्य एवं काव्य में चित्रित होने पर विभाव कहे जाते है–

रत्याद्युद्बोधक लोके विभावाः काव्य नाट्ययोः।

भरत मुनि के अनुसार वाणी और अंगों के आश्रित अनेक अर्थों का अनुभव कराने वाले विभाव हैं–

वह्वोर्था विभाव्यते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।

अनेनेऽयस्मात्तेनायं विभावभूति कथ्यते॥ –नाट्यशास्त्र, 7/6

आचार्यों ने विभाव के आलम्बन और उद्दीपन दो भेद माने हैं–

आलम्बनोद्दीपनोख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतः। –साहित्य दर्पण, पृ. 137

1. आलम्बन विभाव–नाट्य और काव्य में वर्णित नायकादि आलम्बन विभाव कहे जाते हैं, क्योंकि इन्हीं के साथ साधारणीकृत होकर सामाजिक को रसास्वादन होता है–

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्॥ –साहित्य दर्पण, पृ. 137

आश्रयालंबन और विषयालंबन विभाव के भेद हैं। विजन वन प्रांतर में शकुंतला को दुष्यंत के द्वारा देखे जाने पर शकुंतला विषयालंबन और दुष्यंत आश्रयालंबन विभाव कहा जाएगा।

2. उद्दीपन विभाव–वे कारण उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। जिनको देखने पर आश्रय के मन में रत्यादि भाव उद्दीप्त होते हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार उद्दीपन वे विभाव हैं, जो रस को उद्दीप्त करते हैं–

उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।। —साहित्य दर्पण, 3/31

जैसे–चंद्रोदय, कोकिल कूजन और एकांत स्थल आदि।

विश्वनाथ आलम्बन की चेष्टाएँ, देश और काल को उद्दीपन के कारण मानते हैं–

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालाद्यस्तया। —साहित्य दर्पण, पृ. 131

11.3.2 अनुभाव

जिस प्रकार लौकिक जीवन में कारण के पश्चात् कार्य संपन्न होता है। उसी प्रकार नाट्य एवं काव्य में विभाव के पश्चात् अनुभाव उत्पन्न होते हैं। विभावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाले भाव अनुभाव हुए। विभाव यदि सामाजिक हृदय में विद्यमान स्थायी भाव के उद्दीपक कारण है तो अनुभाव सामाजिक के हृदय स्थायी भाव उत्पन्न होने के पश्चात् अंगादि चेष्टाएँ रूप कार्य! अत: इस प्रकरण में अनुभाव कार्य हुए। आद्यमुनि, वाणी और अंग संचालनादि द्वारा व्यक्त अभिनय रूप भावाभिव्यंजन को अनुभाव कहते हैं।

धनंजय अनुभाव को विकार और भाव सूचनात्मक मानते हैं–

अनुभावों विकारस्तु भाव संसूचनात्मक:। —दशरूपक, पृ. 4/3

आचार्य विश्वनाथ उन कारणों से हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले अंगादि व्यापारों का नाम अनुभाव कहते हैं–

उद्बुद्धं कारणै: स्वै: स्वैर्बहिभावं प्रकाशयन्। —साहित्य दर्पण, पृ. 3/132

वे लोक जीवन में अंगादि व्यापार को कार्य और काव्य और नाट्य के क्षेत्र में इन्हें 'अनुभाव' की संज्ञा देते हैं–

लोके य: कार्यरूप: सोऽनुभाव: काव्य नाट्य्ययो:। —साहित्य दर्पण, पृ. 3/132

अनुभावों के वर्गीकरण में भारतीय काव्यशास्त्रियों ने विविधता का परिचय दिया है। किंतु सभी विद्वानों ने अनुभाव के चार प्रकार स्वीकार किए हैं–

(अ) कायिक अनुभाव–शरीर की चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहा जाता है। जैसे–कटाक्षपात, भ्रू-संचालन आदि कार्य अनुभाव के अंतर्गत आते हैं।

(ब) वाचिक–वाणी के द्वारा कठोरता और कोमलता आदि का प्रदर्शन वाचिक अनुभाव के अंतर्गत आएँगे।

(स) आहार्य–मन के अनुरूप वस्त्राभूषण, धारण करना आहार्य अनुभाव के अंतर्गत आएगा।

(द) सात्त्विक–सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न मनोविकारों को सात्त्विक अनुभाव कहा जाता है। ये सात्त्विक अनुभाव अंत: कारण का एक धर्म विशेष हैं। जिनके द्वारा सामाजिकों के हृदय में वासना के रूप में अवस्थित रत्यादि भावों का उद्बोधन होता है। ये सात्त्विक भाव स्तंभ, स्वेदन, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय आठ प्रकार हैं। इनका सामान्य परिचय इस प्रकार है–

1. **स्तम्भ**–भय, हर्ष, रोग आदि के कारण मन अथवा शरीर के व्यापारों का रुक जाना स्तंभ है। —सा.द., 3/136.
2. **स्वेद**–रीति प्रसंग, आतप, परिश्रम आदि के कारण शरीर से उत्पन्न जल 'स्वेद' है। —सा.द., 3/137.
3. **रोमांच**–हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण रोंगटों के खड़े हो जाने को रोमांच कहते हैं।– सा.द., 3/137.
4. **स्वरभंग**–मद्यमान, हर्ष, पीड़ा आदि के कारण गले के रुंध जाने का नाम स्वरभंग है। – सा.द., 3/138.
5. **वेपथु**–अनुराग, द्वेष, परिश्रम आदि के कारण शरीर की कंकंपी को 'वेपथु' कहा करते हैं। —सा.द., 3/138.

नोट

6. **वैवर्ण्य**–विषाद, मद, रोष आदि के कारण उत्पन्न वर्ण विकास का नाम 'वैवर्ण्य' अथवा 'विवर्णता' है। –सा.द., 3/139.
7. **अश्रु**–क्रोध, दु:ख, प्रहर्ष आदि के कारण उत्पन्न नेत्रजल अश्रु कहलाते हैं। –सा.द., 3/139.
8. **प्रलय**–सुख अथवा दु:ख के अतिरेक में चेष्टाशून्यता अथवा ज्ञानशून्यता प्रलय है। –सा.द., 1/139.

11.3.3 व्यभिचारी भाव

इनको संचारी भाव भी कहते हैं। सामान्यत: ये भाव किसी एक रस विशेष के न होकर विभिन्न रसों में समाज और स्वच्छंद रूप से विचरण करते हैं। इसलिए इन्हें व्यभिचारी कहा जाता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार वे भाव व्यभिचारी भाव हैं। जो विशेष उत्कृष्टता या अनुकूलता से रत्यादि स्थायीभावों को रसास्वाद में परिणत करते हैं तथा जिन्हें स्थायी भावों के समुद्र में बुलबुलों की भांति उतरते और डूबते देखा जा सकता है–

विशेषादभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिण:।

स्थायिन्मुन्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्‌भटा:। –साहित्य दर्पण, 3/140.

काव्यशास्त्रियों ने व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी है। विविध व्यभिचारी भावों का सामान्य परिचय इस प्रकार है–

1. **निर्वेद**–निर्वेद का तात्पर्य स्वयं को धिक्कारना होता है। यह व्यभिचारी तत्त्व ज्ञान, ईर्ष्या और आपत्ति आदि कारणों से उत्पन्न होता है। इसके होने से दीनता, चिन्ता, अश्रु, विश्वास, विवर्णता और उच्छास आदि उत्पन्न होते हैं।
2. **आवेग**–आवेग का अभिप्राय संभ्रम अथवा घबराहट से है। यह आवेग, हर्षज, उत्पातज, अग्निज, राजविद्रवज, गजादिजन्य, वायुज, इष्टज, और अनिष्टज आदि प्रकारों का होता है।
3. **दैन्य**–दैन्य दुर्गति आदि कारणोत्पन्न निस्तेजस्विता को कहा जाता है। इससे मुखादि मालिन्य होता है।
4. **श्रम**–रति प्रसंग, मार्गगमन आदि कारणों से उत्पन्न खेद को श्रम कहा जाता है। इसके द्वारा निद्रा और श्वास की उत्पत्ति और वृद्धि होती है।
5. **मद**–संमोह (बेहोशी) और आनंद के मिश्रण को मद कहते हैं। मद के कारण मंदिरा सेवन से उत्पन्न होता है। मद से उल्लास, रुदन और निंद्रा उत्पन्न होती है।
6. **जड़ता**–इष्ट और अनिष्ट के दर्शन तथा श्रवण से उत्पन्न किंकर्तव्यविमूढ़ता को जड़ता कहते हैं।
7. **उग्रता**–शौर्य, अपराध और अपकार आदि द्वारा उत्पन्न प्रचण्डता अथवा अत्यधिक असहिष्णुता को उग्रता कहा है। इससे स्वेद, कंपन आदि स्वभावत: उत्पन्न होते हैं।
8. **मोह**–भय, दु:ख, आवेग, अत्यंत चिंतन आदि कारणों से उत्पन्न व्याकुलता को मोह कहते हैं।
9. **विबोध**–नींद के दूर करने के कारणों से उत्पन्न चेतना की पुन: प्राप्ति को विबोध कहा जाता है। इसके होने से, जंभाई, अंगड़ाई, आँख मींचना, अंगों का देखना आदि हुआ करते हैं।
10. **स्वप्न**–निद्रा में निमग्न होने पर विषयानुभव को स्वप्न कहा जाता है। इसके द्वारा कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख और दु:ख आदि अनुभाव उत्पन्न होते हैं।
11. **अपस्मार**–ग्रह, भूत-प्रेत आदि के आवेश से उत्पन्न चित्त की विक्षप्तता अपस्मार है। इसके द्वारा पृथ्वी पर लौट पड़ना, कंपकंपी, पसीना निकलना, मुँह से झाग भरना आदि अनुभाव उत्पन्न होते हैं।

12. **गर्व**–प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या और कुलीनता आदि से उत्पन्न मद अथवा घमंड को गर्व कहा जाता है। इसके द्वारा दूसरों की अवज्ञा, नीचा दिखाना और अविनयपूर्ण व्यवहार आदि स्वभावतः दिखायी पड़ते हैं।

13. **मरण**–अंगभंग, शरीर पात आदि के कारण प्राणत्याग मरण कहलाता है। निश्चेष्टता, निर्जीवता इसके अनुभाव हैं।

14. **आलस्य**–परिश्रम अथवा गर्भ-धारण आदि कारणों द्वारा उत्पन्न आलस्य है। इन संचारी भाव के द्वारा उत्पन्न होने पर जंभाई, बैठा रहना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

15. **अमर्ष**–किसी के द्वारा निंदित अपमानित और धमकाए जाने के कारण चित्त के अत्यंत आग्रह-परिग्रह को अमर्ष कहा जाता है। इस संचारी भाव के द्वारा आँखों का लाल होना, सिर में कंपन, त्यौरी चढ़ना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

16. **निद्रा**–परिश्रम, मनःखेद, मद्यपान आदि कारणों से उत्पन्न चित्त की निश्चलता अथवा निश्लेष्टता को निद्रा कहा जाता है। इस संचारी के उत्पन्न होने पर जंभाई लेना, आँखें मीचना, उच्छास अंगड़ाई आदि विकार परिलक्षित होते हैं।

17. **अवहित्था**–भय, गौरव और लज्जादि कारणों से उत्पन्न प्रसन्न मुद्रा काम मुद्रा आदि को छिपाना अवहित्थ कहा जाता है।

18. **उन्माद**–काम, शोक और भयादि से उत्पन्न व्यामूढ़ता अथवा चंचलता को उन्माद कहा जाता है।

19. **औत्सुक्य**–अभिलषित वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण अधैर्य को औत्सुक्य कहा जाता है।,

20. **शंका**–किसी दूसरे के क्रूराचरण और आत्मदोष आदि कारणों से उत्पन्न अनर्थ चिंतन को शंका कहा जाता है। इससे वैवर्ण्य, कम्प, स्वरभंग, इधर-उधर देखना और मुँह सूखना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

21. **स्मृति**–पहले कभी अनुभव में आयी हुई, किसी वस्तु के पुनर्ज्ञान को स्मृति कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति सदृश वस्तु के अनुभव चिंतनादि से संभव है। इससे त्यौरियों का चढ़ना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

22. **मति**–नीतिमार्ग के अनुसरण से वस्तु-तत्त्व के बोध को मति कहा जाता है। इसके उत्पन्न होने पर मुस्कराहट, धैर्य, संतोष और आत्म-सम्मान आदि स्वभावतः हुआ करते हैं।

23. **व्याधि**–वात, पित्त और कफ आदि कारणों से उत्पन्न रोग को व्याधि कहते हैं। कंपकंपी आदि, इसके विकार हैं।

24. **विषाद**–अनर्थ के निवारक उपायों के अभाव में उत्पन्न 'पौरुष हानि' विषाद है। इसके द्वारा विश्वास, उच्छास, चित्त संताप, सहायान्वेष व विकार उत्पन्न होते हैं।

25. **धृति**–यथार्थ ज्ञान और अभीष्ट लाभ आदि कारणों से इच्छाओं की पूर्ति को धृति कहते हैं। इससे उल्लास और हास आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

26. **त्रास**–भयकर झंझावत, विद्युत्पात और उल्कापात आदि कारणों से उत्पन्न मन की बेचैनी को त्रास कहते हैं। इससे कंप और रोमांच विकार उत्पन्न होते हैं।

27. **व्रीड़ा**–किसी दुराचरण के कारण उत्पन्न धृष्टा के न होने को व्रीड़ा कहते हैं। इससे सिर नीचा होना और मुँह का रंग उड़ना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

28. **हर्ष**–किसी अभिलाषित पदार्थ की प्राप्ति के कारण मन की प्रसन्नता हर्ष है। आनंद के आँसू और गदगद कंठ इसके विकार हैं।

29. **असूया**–स्वभाव की उद्धतता के कारण, दूसरे की गुम समृद्धि के उत्पन्न ईर्ष्या को असूया कहा जाता है। इसमें भौंहों का चढ़ना और उपेक्षा, क्रोध आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

नोट

30. **चपलता**—मात्सर्य, राग और द्वेष आदि कारणों से उत्पन्न चित्त की अस्थिरता को चपलता कहा जाता है।
31. **ग्लानि**—रतिश्रम, अन्यविध परिश्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदि कारणों से उत्पन्न शारीरिक दुर्बलता ग्लानि हैं।
32. **चिंता**—अभीष्ट की अप्राप्ति से उत्पन्न ध्यान को चिंता कहा जाता है। शून्यता, ताप और श्वास इसके विकार हैं।
33. **तर्क**—संदेह के कारण उत्पन्न विचार को 'तर्क' कहा जाता है। इससे भौहों का सिकुड़ना, सिर हिलना, अंगुलियों का उठना आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने विरोध और अविरोध के आधार पर व्यभिचारी भावों के चार भेद किए हैं—

(i) **सुखात्मक व्यभिचारी**—गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, संताप, चपलता, मृदुलता और धैर्य।

(ii) **दुःखात्मक**—लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिंता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असंतोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण और व्याधि।

(iii) **उभयात्मक**—आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चपलता।

(iv) **उदासीन**—वितर्क, मति, श्रम, निद्रा और विवोध। —रस मीमांसा, पृ. 200.

स्थायी भाव—सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासना के रूप में स्थित भाव स्थायी भाव कहलाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अन्य रस उपकरणों की भांति स्थायी भाव को लक्षणबद्ध करने की परंपरा लंबी है। आचार्य विश्वनाथ स्थायी भाव उसे मानते हैं, जो न किसी अनुकूल भाव से तिरोहित होता है और न ही प्रतिकूल भाव से दबता है। यह भाव तो अंत तक अवस्थित रहता है और इसी में रस के अंकुरण की मूल शक्ति रहती है—

अविरुद्ध विरुद्धा वायं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीतिः संमतः॥ —साहित्य दर्पण, 3/174.

क्योंकि यही रत्यादि स्थायी भाव-विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, तो उन्हें रस कहा जाता है—

विभावेनानुभावेन व्यक्त संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भाव सन्वेतसाम्॥ —साहित्य दर्पण, 3/1.

अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने स्थायी भावों की संख्या नौ मानी है। ये स्थायी भाव रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम है—

रतिहासिश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौं भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्समष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपिच॥ —साहित्य दर्पण, 1/75.

सम्प्रति वत्सल भी स्थायी भाव माना जाता है। इस प्रकार स्थायी भावों की संख्या दस है। इन स्थायी भावों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

1. **रति**—प्रिय वस्तु के प्रति हृदय की उन्मुक्ता अथवा प्रेमार्द्रता को रति स्थायी भाव कहा जाता है। रति शृंगार रस का स्थायी भाव होता है।
2. **हास**—वाणी आदि की विकृतियों के दर्शन अथवा चिंतन से संभूत चित्त विकास 'हास' कहलाता है। यह हास्य रस का स्थायीभाव होता है।
3. **शोक**—प्रिय वस्तु के क्षय से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता 'शोक' है। यह करुण रस का स्थायी भाव है।
4. **क्रोध**—विरोधियों के प्रति हृदय में उत्पन्न प्रतिशोध की भावना क्रोध है। क्रोध रौद्र रस का स्थायी भाव है।

5. **भय**–किसी भीषण वस्तु की विभीषिका शक्ति से उत्पन्न व्याकुलता स्थायी भाव कहलाता है। भयानक रस का स्थायी भाव है।
6. **उत्साह**–कार्य के आरंभ में हृदय के आवेश उत्साह होता है। उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है।
7. **जुगुप्सा**–विस्मयजन्य घृणाभाव को जुगुप्सा कहा जाता है। यह वीभत्स रस का स्थायी भाव है।
8. **विस्मय**–नाना प्रकार के अलौकिक पदार्थों के दर्शनजन्य चित्त का विस्तार विस्मय है। विस्मय अद्‌भुत रस का स्थायी भाव है।
9. **शम**–निस्पृहताजन्य अंत:करण की अंतर्मुखता शम कहलाती है। यह शांति रस का स्थायी भाव है।
10. **वत्सल**–बड़ों के मन में पुत्र, अनुजादि के प्रति स्नेह और सद्‌भाव वत्सल है। यह वात्सल्य रस का स्थायी भाव है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. विभाव का तात्पर्य है–कारण।
8. क्रोध, दु:ख, प्रहर्ष आदि के कारण उत्पन्न नेत्रजल अश्रु कहलाते हैं।
9. विस्मयजन्य घृणा भाव को उत्साह कहा जाता है।

11.4 रसाभास और रस दोष

जहाँ अनुचित रीति से रस का प्रयोग होता है तो असंगत होने के कारण वहाँ रसाभास होता है। अनौचित्य के कारण रस विरस होकर रह जाता है। अनौचित्य के फलस्वरूप रस भंग की स्थिति आती है। अनौचित्य के क्षेत्र में अलंकार, रीति आदि भी आ जाते हैं किंतु आलंबन और आश्रय के औचित्य पर विशेष ध्यान जाता है। आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने इस पर विशेष विचार किया है। रीति संप्रदाय के आचार्यों ने भी रसौचित्य को रीति का नियामक तत्त्व माना है। औचित्य संप्रदाय के आचार्य भी रस से अनुप्राणित औचित्य को ही काव्य का प्राण तत्त्व मानते हैं। औचित्य से ही रस को स्थायित्व प्राप्त होता है।

इसी प्रकार परस्पर विरोधी रसों की उपस्थिति दोष के अंतर्गत आती है। उचित स्थान पर रस का प्रयोग न होना, रस विच्छेद, नायकों की प्रकृति का विपरीत उल्लेख रस मैत्री में बाधक माना जाता है। जहाँ कुछ मित्र रस माने गए हैं वहाँ कुछ को विरोधी रसों में गिना गया है। करुण, शांत, वीभत्स, रौद्र, भयानक आदि रस शृंगार के, भयानक तथा करुण हास्य के, वीभत्स शृंगार के, भयानक और शांत वीर रस के विरोधी रस हैं।

11.5 रसों के वर्ण और देवता

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रसों के वर्ण (रंग) और देवताओं का भी उल्लेख किया है। सर्वप्रथम आद्य आचार्य भरतमुनि ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्य और उद्‌भुत आठ रसों का वर्ण और देवताओं का उल्लेख किया था। इनके द्वारा निर्दिष्टित शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्‌भुत रसों के वर्ण क्रमश: श्याम, श्वेत, कपोत, रक्त, गौर, कृष्ण, नील और पीत हैं–

श्यामो भवेन्तु शृंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥

नोट

गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः।

नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीताश्चै अद्‌भुतः स्मृतः।। –नाट्यशास्त्र, 6/42-43.

और उनके द्वारा निर्दिष्ट देवता क्रमशः विष्णु, प्रमर्थ, यम, रुद्र, इंद्र, काल, महाकाल और ब्रह्मा हैं–

शृंगारो विष्णु दैवत्यो हास्यः प्रथदैवतः।

रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदेवतः।।

वीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।

वीरो महेन्द्रदेवः स्याद्‌भततो ब्रह्मदेवतः।। –नाट्यशास्त्र, 6/44-45

इसके पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने शांति और वात्सल्य रसों के वर्ण और देवताओं का उल्लेख किया। उन्होंने शांत रस का वर्ण कुंदेंदु शुभ्र और देवता श्री नारायण तथा वत्सल का वर्णपद्म सदृश गर्भ और देवता लोक माताएँ मानी हैं–

1. **कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्री नारायण दैवतः।।** –साहित्य दर्पण, 3/46
2. **पदमगर्भच्छ विवर्णो दैवत लोकमातरः।।** –साहित्य दर्पण, 3/254

रस और उनके वर्ण तथा देवताओं की तालिका निम्न प्रकार से बनायी जा सकती है–

रस	स्थायी भाव	वर्ण	देवता
शृंगार	रति	श्याम	विष्णु
हास्य	हास	श्वेत	प्रमथ
करुण	शोक	कपोत	यम
रौद्र	क्रोध	रक्त	रुद्र
वीर	उत्साह	गौर	इंद्र
भयानक	भय	कृष्ण	कालदेव
वीभत्स	जुगुप्सा	नील	महाकाल
अद्‌भुत	विस्मय	पीत	ब्रह्मा
शांत	शम	अरुण	श्रीनारायण (पूषा)
वात्सल्य	वत्सल	पद्‌म सदृश गर्भ	लोक माताएँ (वासुदेव)

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

10. रीति संप्रदाय के आचार्यों ने भी .... को रीति का नियामक तत्व माना है।
11. करुण का स्थायी भाव .... है।
12. वीर का स्थायी भाव .... है।

11.6 सारांश (Summary)

- सामान्यतः रस शब्द का प्रयोग पदार्थों का रस, अम्ल, तिक्त, कषाय आदि आयुर्वेद का रस, साहित्य का रस और भक्ति या मोक्ष आदि के लिए होता है।

नोट

- जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी इस रूप को प्राप्त होते हैं–
- भारतीय काव्यशास्त्र में भट्ट नायक का रस विवेचन (भुक्तिवाद) कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।
- जहाँ अनुचित रीति से रस का प्रयोग होता है तो असंगत होने के कारण वहाँ रसाभास होता है। अनौचित्य के कारण रस विरस होकर रह जाता है।

11.7 शब्दकोश (Keywords)

- विभाव : आश्रय से भाव उद्दीप्त करने वाला हेतु
- निष्पत्ति : आविर्भाव, उत्पत्ति, पूर्णता

11.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. रस के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. रस निष्पत्ति से आप क्या समझते हैं।
3. रस के अंगों की विवेचना कीजिए।
4. रसाभास और रस दोष में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self-Assessment)

1. रस	2. आचार्य भरत मुनि	3. विश्वनाथ	4. (अ)
5. (स)	6. (ब)	7. सत्य	8. सत्य
9. असत्य	10. रसौचित्य	11. शोक	12. उत्साह।

11.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. डॉ. नगेन्द्र – *रस सिद्धांत।*

नोट

इकाई–12 : साधारणीकरण की अवधारणा

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 साधारणीकरण की अवधारणा

12.2 सारांश (Summary)

12.3 शब्दकोश (Keywords)

12.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

12.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- साधारणीकरण का अर्थ जानने हेतु।
- साधारणीकरण पर विभिन्न आचार्यों के मतों की व्याख्या करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय काव्यशास्त्र में रस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत रहा है, क्योंकि रस काव्य समीक्षा का प्रमुख मापदंड रहा है। संस्कृत और हिंदी के अधिकांश आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है। नाटक और काव्य में निबद्ध पौराणिक, ऐतिहासिक और मानसजन्मा पात्र अपनी संपूर्णताओं के साथ सहृदय को अनुभूत होकर आनंद कैसे प्रदान करते हैं? इसका समाधान भारतीय आचार्यों ने साधारणीकरण की प्रकल्पना के द्वारा की है। अत: स्पष्ट होता है कि साधारणीकरण रस सिद्धांत से संबद्ध एक ऐसी प्रकल्पना है, जो रसास्वादन के लिए सहायक सिद्ध होता है। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र में रस विवेचन के साथ-साथ साधारणीकरण भी विवेच्य विषय रहा है।

12.1 साधारणीकरण की अवधारणा

साधारणीकरण का विवेचन करने वाले संस्कृताचार्यों में भट्ट नायक, अभिनव गुप्त, कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि कतिपय विद्वान भरत के 'नाट्यशास्त्र' के निम्न कथन में साधारणीकरण के बीज मानते हैं–

एभ्यश्च सामान्य गुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते। –नाट्यशास्त्र, पृ. 106.

(अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है। तो रसों की निष्पत्ति होती है।)

किंतु हमारी दृष्टि में भट्ट नायक ने ही अपने रस विवेचन में सर्वप्रथम 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग किया है। इतना ही नहीं इन्होंने रसास्वादन (भोगवाद) प्रक्रिया के रूप में साधारणीकरण का सैद्धांतिक और व्यावहारिक विवेचन

किया था। उनका स्पष्ट मत है कि विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्त्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव रूप रस..... भोजकत्त्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है–

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्त्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणी-करणात्मना भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोंद्रेक प्रकाशानंदमय संविद्विश्रान्ति सतत्त्वेन सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते।

भट्ट नायक के साधारणीकरण विषयक मतों से स्पष्ट होता है कि वे साधारणीकरण को रसास्वादन के पूर्व की प्रक्रिया मानते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य में निबद्ध विभावादि का सर्वप्रथम साधारणीकरण होता है और विभावादि का साधारणीकृत रूप भावकत्त्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान् स्थायी भाव रूप रस सत्त्व के उद्रेक के प्रकाश और आनंदमय ब्रह्मास्वाद के समान भोग से आस्वादित होता है। इस प्रकार भट्ट नायक के मतों से निष्कर्ष निकलता है कि।

क्या आप जानते हैं साधारणीकरण रसास्वादन के पूर्व की वह प्रक्रिया है जिसके प्रभाव से रस की विभावादि सामग्री विशिष्ट अथवा लौकिक रूप का परित्याग करते हुए आस्वाद्य रूप को धारण करती है।

फलतः लौकिक जीवन में सुख-दुःखात्मक अनुभूति कराने वाले विभावादि सुखात्मक हो जाते हैं।

रस-सूत्र के प्रख्यात व्याख्याकार अभिनव गुप्त ने भट्ट नायक के रस सूत्र की व्याख्या में संशोधन करते हुए अपने ढंग से साधारणीकरण की विस्तृत व्याख्या की है। उनका मत है कि "काव्यात्मक वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद वाक्य में गृहीत कालादि विभाग की उपेक्षा (साधारणीकरण) करने वाली मानसी एवं साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है।" उस प्रतीति में मृगशावक आदि (आश्रय) के विशेष रूप न होने से (साधारणीकरण) त्रासक दुष्यन्तादि (विषय) के वास्तविक न होने से भय (स्थायी भाव) देश काल से मुक्त होकर यह भीत है, मैं भीत हूँ, यह शत्रु है, मित्र या मध्यस्थ है।...... विघ्न बहुल ज्ञानों से भिन्न निर्विहन प्रतीति से भय स्थायी भाव रूप रस हृदय में प्रविष्ट होता है। और आँखों के सामने घूमता है।...... इसी प्रकार अन्य रस भी होते है–

...... वाक्यार्थ प्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसित-तत्तद्वक्योपात्तकालादि विभागा तावत्प्रतीतिरूपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिभांति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद भीत इति, त्रासक स्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितंतत् एवं भीतोऽयं भीतोऽहं शुत्रर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादि प्रत्ययेभ्यो..... विघ्न प्रतीति बहुलेभ्यो विलंक्षण निर्विघ्न प्रतीति ग्राहयं, साक्षादिव हृदये निविशमानं, चक्षुषेरिव विपरिवर्तमानं, भयानको रसः।..... एवं परोऽपि।

वस्तुतः अभिनव गुप्त की दृष्टि में सर्वप्रथम आलम्बन विभाव (आश्रालम्बन और विषयालम्बन) का साधारणीकरण होता है। उसके बाद नायक-नायिकाओ की चेष्टाएँ, रूप, बोली, देशकाल, उद्यान, चंद्रोदय और पर्वत आदि उद्दीपन विभाव बंधनमुक्त होकर साधारणीकृत हो जाते हैं। फलतः लौकिक रत्यादि स्थायी भाव सुख दुःखात्मक चेतना से मुक्त होकर अलौकिक हो जाते हैं और सुखात्मक अलौकिक चेतना ही रस होती है, जो सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट हो जाता है।

अभिनव गुप्त का मत है कि यह साधारणीकरण परिमित न होकर सर्वव्यापक होता है और काव्य तथा नाटक के साधारणीकृत रूप को नटादि सामग्री साक्षात्कारात्मक रूप से पोषित करती है–

नोट

तत् एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु वितम्।.... तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादि सामग्री।

फलतः काव्य में वर्णित देश, काल और प्रमाता व्यक्ति संसर्ग अथवा बंधनों से मुक्त होकर साधारणीकरण व्यापार को पुष्ट करते है–**यस्यां वस्तुततां काव्यार्पितानां च देशकाल प्रमात्रादीनां...... अपसारणे स एव साधारणी भावः सुतरां पुष्यति।** इसलिए समस्त सामाजिक को एक समान प्रतीति होती है, क्योंकि सामाजिक का चित्त आदि संस्कारों द्वारा चित्रित होने के कारण प्रत्येक की वासना एक जैसी होती है–**अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्ति. ...। सर्वेषामनादिवासना चित्रीकृतचेतसाम् वासनासंवादात्।"** अतएव आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न (साधारणीकृत) प्रतीति से ग्राह्य स्थायी भाव ही रस है।

वस्तुतः अभिनव गुप्त के साधारणीकरण विवेचन से स्पष्ट होता है कि साधारणीकरण रसास्वादन के पूर्व की प्रक्रिया है। जिसके परिणामस्वरूप सर्वप्रथम काव्य और नाटक में निबद्ध कारण रूप विभावादि और कार्यरूप रस देशकाल विभाग की चेतना से मुक्त होता है। फलतः कारणरूप विभावादि और कार्य रूप रत्यादिभाव (रस) लौकिक सुख-दुःखात्मक चेतना से मुक्त होकर अलौकिक प्रकाशमान, आनंदस्वरूप रत्यादि भावों की प्रतीति कराने में सहायक होते हैं। यह साधारणीकरण वैयक्तिक क्रिया न होकर सामूहिक क्रिया है। परिणामतः प्रत्येक सामाजिक को कारणरूप विभावादि और कार्यरूप रत्यादि (रस) भावों की समान प्रतीति होती है। अतः साधारणीकरण का सार-स्थायीभाव का साधारणीकरण है।

संस्कृत के अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने अभिनव गुप्त के द्वारा विवेचित साधारणीकरण को स्वीकृति प्रदान की है, किंतु कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने प्रकारांतर से अभिनव गुप्त का समर्थन करते हुए भी साधारणीकरण के विवेचन में नव्यता लाने का प्रयत्न किया है। कविराज विश्वनाथ का मत है कि काव्य नाट्य में वर्णित विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों में 'साधारणीकरण' की अलौकिक शक्ति होती है। इसी शक्ति द्वारा सामाजिक वैयक्तिक सीमाओं से परे स्वयं को रामादि नायक से अभिन्न मानने लगता है जिनकी समुद्र संतरण आदि लोक लीलाएँ असाधारण मानी गई हैं–

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेणयस्यासन् पाथोधिप्लवानादयः।।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
उत्साहादि समुद्बोधः साधारण्याभिमानतः।।

–साहित्य दर्पण, 3/9-10.

वस्तुतः कविराज विश्वनाथ की दृष्टि में सामाजिक का काव्य एवं नाट्य में निबद्ध अथवा चित्रित रामादि के साथ अभेद (अभिन्नता) ही साधारणीकरण है। फलतः सामाजिक के हृदय में रामादि के वीरकर्मों के समान रत्यादिभाव उद्बुद्ध हो जाते हैं–

नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादो न दुष्यति।
साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।। –काव्य प्रकाश, 3/11.

निष्कर्षतः कविराज विश्वनाथ के साधारणीकरण विवेचन से स्पष्ट होता है कि वे नाट्य और काव्य में निबद्ध रामादि के साथ सामाजिक का तादात्म्य को साधारणीकरण मानते हैं। इसलिए सर्वप्रथम साधारणीकरण के व्यापार का प्रभाव सामाजिकों के कारण रूप विभावादि पर पड़ता है और सामाजिक नाट्य तथा काव्य में चित्रित रामादि के समुद्र लंघनादि कार्यों को न तो उनसे भिन्न, न रामादि नायक के, न मेरे और न मेरे से भिन्न मानते हैं–

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।

–काव्य प्रकाश, 3/12

इसी प्रकार पंडित जगन्नाथ भी काव्य और नाट्य में निबद्ध चित्रित दुष्यंतादि पात्रों के साथ सामाजिकों की अभिन्नता अथवा तादात्म्य के अतिरिक्त '*भावना दोष*' को साधारणीकरण मानते हैं। उनका मत है कि काव्य और नाटक में कवि और नट के द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारीभाव प्रकाशित होते हैं। फिर व्यंजना व्यापार के द्वारा दुष्यंत की शकुंतला के प्रति आसक्ति की प्रतीति होती है। हम सहृदयता के कारण दुष्यंतादि के विषय में पुन: पुन: अनुसंधान करते हैं और भावना दोष के कारण हमारी आत्मा कल्पित दुष्यंतादि से आच्छादित हो जाती है। फलत: उसी प्रकार भावना दोष के कारण कल्पित दुष्यंतादि से आछन्न आत्मा में कल्पित शकुंतला विषयक रति भी भासित होने लगती है। जिस प्रकार दूरत्त्व दोष के कारण सीप के टुकड़े चांदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं–

काव्ये नाट्ये-च, कविता नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जन व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामानंतरं च सहृदयातोल्लासितस्य भावना विशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पित दुष्यन्तत्त्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजत खण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादि विषयक रत्यादिरेवः।

–रसगंगाधर, पृ. 101.

साधारणीकरण का विवेचन करने वाले हिंदी आचार्यों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, गुलाबराय और डॉ. नगेंद्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आचार्य शुक्ल साधारणीकरण को परिभाषित करते हुए लिखते हैं–**जब किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता है कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना, हमारे यहाँ साधारणीकरण है।** क्योंकि आचार्य शुक्ल काव्य निबद्ध भावों को पाठक एवं श्रोतानिष्ठ न मानकर मानव मात्र की भावात्मक सत्ता के प्रतिनिधि मानते हैं। फलत: काव्य में अभिव्यक्त रत्यादि भावों की प्रतीति सामाजिक को एक समान होती है। इसीलिए वे सच्चा कवि उसी को मानते हैं जिसको लोक हृदय की सच्ची पहचान हो। आचार्य शुक्ल कवि के लोक हृदय में लीन होने की दशा को रस दशा मानते हैं। आचार्य शुक्ल का मत है–**काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है सामान्य नहीं, वह व्यक्ति को सामने लाता है 'जाति' को नहीं** और वे साधारणीकरण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–**साधारणीकरण का अभिप्राय: यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित भाव का आलम्बन होती है, वैसे सब ही सहृदय पाठक या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है।** इतना ही नहीं आचार्य शुक्ल की दृष्टि में काव्य में चित्रित **व्यक्ति विशेष, का कवि कल्पना 'बिम्ब' अथवा 'मूर्तभावना'** उपस्थित करता है। फलत: साधारणीकरण आलम्बन के धर्म का होता है। उनका स्पष्ट मत है–**कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बन धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।**

वस्तुत: आचार्य रामचंद्र शुक्ल का साधारणीकरण विवेचन निश्चित ही परंपरा का अनुसरण करता है, क्योंकि आचार्य शुक्ल जहाँ अभिनव गुप्त की भांति आलम्बन के साधारणीकरण की बात को स्वीकार करते हैं, वहीं कविराज विश्वनाथ की भांति विभावादि सहित काव्य निबद्ध पात्रों के साथ सामाजिकों के तादात्म्य को भी साधारणीकरण मानते हैं। किंतु आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साधारणीकरण विवेचन की सर्वाधिक विशिष्टता आलम्बन धर्म के साधारणीकरण की प्रकल्पना है। आचार्य शुक्ल के पश्चात् साधारणीकरण का विवेचन करने वाले हिंदी विद्वानों में गुलाबराय का नाम भी उल्लेखनीय है। गुलाबराय एक साथ कवि के संबंधों का साधारणीकरण होना स्वीकार करते हैं। गुलाबराय का मत है–**साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं वरन् उनके संबंधों का होता है। कवि भी अपने निजी**

नोट

व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक प्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है। कि वह अपने व्यक्तित्त्व के क्षुद्र बंधनों को तोड़कर लोक सामान्य की भाव-भूमि में आ जाता है। उसका हृदय कवि और लोक हृदय के साथ प्रतिस्पंदित होने लगता है।..... भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी 'अयं निज: परोवा' की भावना जाती रहती है। इतना ही नहीं गुलाबराय, विश्वनाथ की भांति काव्य में अभिव्यक्त भावों के साथ पाठक अथवा सामाजिक के तादात्म्य को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आचार्य गुलाबराय का साधारणीकरण विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में विवेचित साधारणीकरण का ही अनुसरण है।

टास्क साधारणीकरण से आप क्या समझते हैं।

आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध रसवादी आलोचक डॉ. नगेंद्र ने भारतीय और पाश्चात्य मतों के आलोक में साधारणीकरण की नव्य व्याख्या की है। उनकी दृष्टि में साधारणीकरण आश्रय के साथ प्रमाता अथवा पाठक का तादात्मय है। न कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है न आलम्बन के धर्म का, न सहृदय की चेतना का और नहीं सर्वांग का। अपितु डॉ. नगेंद्र कवि के संवेद्य-**कवि की अनुभूति, सामान्य अनुभूति का नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुन:सर्जना की अनुभूति-भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में भावना। इसी का शास्त्रीय नाम 'ध्वन्यर्थ' है जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्‌बुद्ध करता है। काव्य का प्रसंग इसी का मूर्त रूप या बिंब है।** इतना ही नहीं डॉ. नगेंद्र.... **काव्य प्रसंग और कुछ नहीं कवि की भावना का बिंब नाम है। इसीलिए वे काव्य प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि भावना का साधारणीकरण के अधिक अनुकूल है। और..... साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है।..... कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके। निष्कर्षत: डॉ. नगेंद्र की दृष्टि में साधारणीकरण भाषा या काव्य भाषा का धर्म है साधारणीकरण का मूलाधार मानव सुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है।**

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. साधारणीकरण .... क्रिया न होकर सामूहिक क्रिया है।
2. रस-सूत्र के प्रख्यात व्याख्याकार .... ने भट्ट नायक के रस-सूत्र की व्याख्या में संशोधन करते हुए अपने ढंग से साधारणीकरण की विस्तृत व्याख्या की है।
3. .... की दृष्टि में साधारणीकरण भाषा या काव्य भाषा का धर्म है।

12.2 सारांश (Summary)

- भारतीय काव्यशास्त्र में रस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत रहा है, क्योंकि रस काव्य समीक्षा का प्रमुख मापदंड रहा है। संस्कृत और हिंदी के अधिकांश आचार्यो ने रस को काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है।
- साधारणीकरण का विवेचन करने वाले संस्कृताचार्यों में भट्ट नायक, अभिनव गुप्त, कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

नोट

- अभिनव गुप्त का मत है कि यह साधारणीकरण परिमित न होकर सर्वव्यापक होता है और काव्य तथा नाटक के साधारणीकृत रूप को नटादि सामग्री साक्षात्कारात्मक रूप से पोषित करती है।
- संस्कृत के अधिकांश परवर्ती आचार्यो ने अभिनव गुप्त के द्वारा विवेचित साधारणीकरण को स्वीकृति प्रदान की है, किंतु कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने प्रकारांतर से अभिनव गुप्त का समर्थन करते हुए भी साधारणीकरण के विवेचन में नव्यता लाने का प्रयत्न किया है।
- आचार्य शुक्ल के पश्चात् साधारणीकरण का विवेचन करने वाले हिंदी विद्वानों में गुलाबराय का नाम भी उल्लेखनीय है। साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं वरन् उनके संबंधों का होता है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक प्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है। कि वह अपने व्यक्तित्त्व के क्षुद्र बंधनों को तोड़कर लोक सामान्य की भाव-भूमि में आ जाता है।

12.3 शब्दकोश (Keywords)

- उत्पाद्य – उत्पादन योग्य
- अनुस्यूत – ग्रथित, पिरोया हुआ, सिला हुआ, खूब जुड़ा हुआ।

12.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. साधारणीकरण से आप क्या समझते हैं?
2. साधारणीकरण की अवधारणा पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. वैयक्तित्व 2. अभिनव गुप्त 3. डॉ. नगेन्द्र

12.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. रस सिद्धांत – *डॉ. नगेन्द्र।*
2. भारतीय काव्यशास्त्र – *डॉ. सत्यदेव चौधरी।*

नोट

इकाई–13 : भारतीय काव्यशास्त्र : अलंकार का सिद्धांत

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 अलंकार

13.1.1 अलंकार साहित्य का उद्भव और विकास

13.2 अलंकारों का वर्गीकरण

13.2.1 हिंदी में अलंकारों का वर्गीकरण

13.3 सारांश (Summary)

13.4 शब्दकोश (Keywords)

13.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

13.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- अलंकार स्वरूप का अर्थ ग्रहण करने हेतु।
- अलंकारों का वर्गीकरण कर उनका अर्थ समझने हेतु।
- अलंकार साहित्य के उद्भव और विकास को जानने हेतु।
- हिन्दी साहित्य में अलंकारों का विकास जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार सिद्धांत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रस के पश्चात् अलंकार सर्वाधिक प्राचीन सिद्धांत है। इतना ही नहीं भारतीय काव्यशास्त्र में अन्य काव्य सिद्धांतों की अपेक्षा अलंकार का सर्वाधिक विवेचन प्राप्त होता है। इस दृष्टि से भारतीय समीक्षा में अलंकार-रस के पश्चात् प्रमुख मानदंड रहा है। क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र में आद्य आचार्य भरत से लेकर पं. विश्वेश्वर पाण्डेय तक अलंकार काव्य समीक्षा का प्रमुख विषय रहा। है। इसी प्रकार हिंदी साहित्य में भी अलंकार समीक्षा का महत्त्वपूर्ण मान रहा है। हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों और हिंदी के आधुनिक आचार्यों ने अलंकार को काव्य के एक प्रमुख मानक के रूप में विवेचन किया है। भारतीय काव्यशास्त्र में समीक्षा के प्रमुख मानदंड के रूप में अलंकार के अतिशय विवेचन के फलस्वरूप आरंभ में समूचे 'काव्यशास्त्र' के लिए अलंकारशास्त्र का प्रयोग हुआ था। यहाँ तक कि आरंभ में काव्य विवेचक लक्षण ग्रंथों के नामकरण में अलंकार पद का प्रयोग हुआ था। इस संदर्भ में भामह कृत 'काव्यालंकार', उद्भट कृत 'काव्यालंकार सार संग्रह' वामन कृत 'काव्यालंकार सूत्र', रुद्रट कृत 'काव्यालंकार' और रुय्यक कृत' अलंकार सर्वस्व' आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

नोट

13.1 अलंकार

सामान्यत: अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति **अलम् शब्द** में कृ धातु के योग हुई है। **अलम्** शब्द का अर्थ **पर्याप्त** और **कृ** का अर्थ **करना** होता है। इस प्रकार अलंकार का **अर्थ पूर्ण** अथवा 'पर्याप्त' करना हुआ। संस्कृत में 'अलम्' शब्द मूलत: पर्याप्त, अलंकृत और काव्य आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'पर्याप्त' अर्थ में 'अलम्' शब्द-समर्थ, उपयुक्त और योग्य आदि और अरंकृत के अर्थ में अलम् शब्द अलंकरिष्णु आदि के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ था। काव्य अर्थ में अलम् शब्द-कवि मानस की लोकोत्तर अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ था।

वैयाकरणिकों के अनुसार अलंकार शब्द के दो व्युत्पत्यर्थ हैं–

1. **अलंकरोतीति अलंकार**–अर्थात् जो सुशोभित करता है, वह अलंकार है।
2. **अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकार**–अर्थात् जिसके द्वारा अन्य अलंकृत (सुशोभित) किया जाता है, वह अलंकार है।

इस प्रकार प्रथम व्युत्पत्ति परक अर्थ में अलंकार 'कर्ता' अथवा 'विधायक' और द्वितीय अर्थ में अलंकार 'करण अथवा 'साधन' हुआ। ये दोनों व्युत्पत्तिपरक अर्थ अलंकार सिद्धांत के विकास क्रम को दर्शाते हैं। संस्कृत और हिंदी के अधिकांश आचार्य-अलंकार के द्वितीय व्युत्पत्तिपरक अर्थ को स्वीकार करते हैं। हिंदी के आलोचक प्रवर डॉ० नगेंद्र का मत है : "अलंकार के सर्वमान्य अर्थ को दृष्टि में रखते हुए दूसरी व्युत्पत्ति अधिक संगत है। जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधन मात्र है।"

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन करने का श्रेय भरत को जाता है। उन्होंने अलंकार विवेचन में नाट्य की प्रवृत्ति के अनुरूप चार अलंकारों-उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया था। किंतु स्वतंत्र रूप में वे अलंकार के स्वरूप का विवेचन नहीं कर पाए।

अलंकार के स्वरूप विवेचन की परंपरा का आरंभ आचार्य भामह से आरंभ होती है। तब से लेकर अद्यावधि तक अलंकार के स्वरूप का विवेचन किसी न किसी रूप में अवश्य होता आ रहा है।

क्या आप जानते हैं अलंकार का स्वतंत्र रूप से विवेचन करने वाले आचार्य भामह ने अलंकार को काव्य का महत्त्वपूर्ण सौंदर्यवर्द्धक तत्त्व माना था।

उनका स्पष्ट मत था–जिस प्रकार कामिनी का मुख सुंदर होते हुए भी आभूषणों के बिना सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं होती है–

न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। –काव्यालंकार

आचार्य भामह शब्द और अर्थ की वक्रतापूर्ण उक्ति को अलंकार मानते हैं–

वक्राऽभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।

उन्होंने अलंकार के मूल में वक्रोक्ति को आवश्यक माना है। उनका स्पष्ट मत है कि यह सारी अतिशयोक्ति ही वक्रोति होती है। इससे अर्थ चमत्कृत होता है। कवि को इसी में प्रयत्न करना चाहिए। कौन अलंकार है जो इससे रहित हो–

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्लोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना॥ –काव्यालंकार; 2/85

आचार्य दंडी ने काव्य के शोभाकार धर्मों को अलंकार माना है–

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रच्क्षते। –काव्यादर्श: 2/1

नोट

अग्निपुराणकार भी भामह और दंडी की भाँति अलंकार को काव्य के लिए आवश्यक तत्त्व मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है–अर्थालंकारों से रहित कविता (सरस्वती) विधवा के समान होती है–

अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती। –अग्निपुराण, 343/12

वामन मूलतः रीति सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य थे। फिर भी वामन ने संस्कृत के पूर्वाचार्यों की भाँति काव्य में अलंकार की महत्ता का प्रतिपादन किया था। वे अलंकार के द्वारा काव्य को ग्राह्य और सौंदर्य मात्र को अलंकार मानते हैं–

काव्य ग्राहयमलंकारात्।–सौंदर्यमलंकारः॥ –काव्यालंकार सूत्रः 1/1/2

वामन गुणों को काव्य की शोभा के धर्म मानते हैं।

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। –काव्यालंकार सूत्र, 3/1/1

और उस शोभा के अतिशय के हेतु-अलंकार को मानते हैं–

तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः॥ –काव्यालंकार सूत्र–3/1/2

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आचार्य भामह, दंडी और वामन ने काव्य के लिए अलंकार को अनिवार्य तत्त्व माना था। किंतु आनंदवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' के सृजन के पश्चात् अलंकार के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। क्योंकि अब अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व न रहकर मात्र काव्य के बाह्य शोभाकर धर्म मात्र रह गए। क्योंकि आनंदवर्धन ने अपने ठोस प्रमाणों द्वारा रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर अलंकारों को काव्य के बहिरंग शोभावर्द्धक तत्त्व सिद्ध किया। उनका स्पष्ट मत है कि जो अंगीरूप अर्थ का अवलंबन करते हैं, वह गुण कहलाते हैं और कटक आदि की भाँति अंगों पर आश्रित रहने वालों को अलंकार मानना चाहिए–

तमर्थवलम्बन्ते येऽगिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मंतव्याः कटकादिवत्॥ –ध्वन्यालोकः 2/6

इससे स्पष्ट होता है कि आनंदवर्धन की दृष्टि में जिस प्रकार कटक-कुंडलादि आभूषण कामिनी के बाह्य सौंदर्य की अभिवृद्धि करते हैं, उसी प्रकार काव्य के अलंकार काव्य के बाह्य शरीर में अवस्थित होकर-काव्य के बाह्य सौंदर्य की ही अभिवृद्धि करते हैं। अतः काव्य के लिए अलंकारों का महत्त्व उतना ही मानना चाहिए, जितना रमणी के सौंदर्योत्कर्ष के लिए अलंकारों का होता है। इस प्रकार आनंदवर्धन की दृष्टि में अलंकार काव्य के गौण तत्त्व हुए, अनिवार्य नहीं।

आनंदवर्धन के अनुकरण पर आचार्य अभिनव गुप्त भी अलंकार और अलंकार्य को पृथक् मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है जो वाच्य वाचक रूप अंगों पर आश्रित होते हैं, उन्हें कटक आदि की भाँति अलंकार मानना चाहिए–

वाच्य वाचक लक्षणान्यंगानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्।

–ध्वन्यालोक, (लोचन टीका): 2/6

आनंदवर्धन के पश्चात् के अधिकांश आचार्यों ने उनके अनुसरण पर अलंकार को काव्य का बाह्य शोभाकर तत्त्व मानते हुए, अलंकार को काव्य के लिए गौण तत्त्व माना। इन आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार शरीर के हारादि आभूषणों की भाँति-काव्य शरीर का उपकार करते हैं–

उपकुर्वन्ति तं संतं येऽगद्वरेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ –काव्य प्रकाशः 6/67

इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने भी रस आदि के उपकारक, शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अस्थिर धर्मों को अलंकार माना, जो शरीर में बाजूबंद के समान-काव्य शरीर की शोभा को बढ़ाते हैं–

शब्दार्थयोस्थिरा धर्माः शोभातिशय शालिनः।

रसादीनुपकुर्वतोऽलंकारास्तेऽगदादिवत् ॥ –साहित्य दर्पण, 10/1

पंडितराज जगन्नाथ रमणीयता के प्रयोजकों को अलंकार मानते हैं–

......रमणीयता प्रयोजका अलंकारा॥ –रस गंगाधर-II पृष्ठ 210

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार काव्य के बाह्य शोभावर्द्धक उपकरण सिद्ध हो जाने के पश्चात् एक बार पुनः काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन हुआ। इन आचार्यों में कुंतक, भोजराज और जयदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आचार्य कुंतक ने अलंकारयुक्त उक्ति को काव्य माना था–

......सालंकारस्य काव्यता –वक्रोक्ति जीवितम्:1/6

पीयूषवर्षी जयदेव का काव्य के लिए अलंकारों का अतिरिक्त आग्रह चरम सीमा का स्पर्श करता प्रतीत होता है। जयदेव ने लिखा है कि जो अलंकार शून्य भी शब्दार्थ में काव्यत्त्व स्वीकार करते हैं, वे चतुर मनुष्य अग्नि में अनुष्णता को स्वीकार करें–

अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृति।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृति॥ –चंद्रालोक; 1/8

वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार विषयक मूलतः दो धारणाएँ परिलक्षित होती हैं–

1. अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व है। इस धारणा को मानने वाले आचार्यों में–भामह, दंडी, वामन, अग्निपुराणकार कुंतक और जयदेव आदि प्रमुख हैं।
2. अलंकार काव्य के बाह्य शोभाकर धर्म हैं। इस धारणा को मानने वाले आचार्यों में आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम आता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में कतिपय आचार्य ऐसे भी है, जिन्होंने अलंकार को काव्य में चमत्कारोत्पादक तत्त्व माना है। इन आचार्यों में महिम भट्ट और देवशंकर पुरोहित का नाम उल्लेख्य है। यद्यपि महिम भट्ट संस्कृत के आरंभिक आचार्यों की भाँति अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं किंतु उनकी अलंकार परिभाषा उन आचार्यों से सर्वथा भिन्न है। उनका मत है कि वैचित्र्य नाम से कहा जाने वाला चारुत्त्व की बुद्धि विषय होने पर अलंकार होता है–

चारुत्त्वं हि वेचित्र्यापर पर्याय प्रकाशमानलंकारः। –व्यक्तिविवेकः पृष्ठ - 22

देवशंकर पुरोहित चमत्कारोत्पादक तत्त्व को अलंकार मानते हैं–

चमत्कार प्रभावता तदवच्छेदकमलंक्रिया॥ –अलंकार मंजूषाः श्लोक–133

फिर भी आनंदवर्धन के प्रबल तर्कों के कारण अलंकार की काव्य के बाह्य शोभावर्धक धारणा ही सर्वाधिक लोकप्रिय और मान्य रही।

हिंदी के रीतिकाल में भी संस्कृत काव्यशास्त्र की भाँति अलंकार विषयक तीन वर्ग बनते हैं। प्रथम वर्ग के अंतर्गत वे आचार्य कवि आते हैं जिन्होंने आचार्य भामह और उनके अनुयायियों की भाँति अलंकारों को काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व माना था। इन आचार्यों में केशवदास, श्रीपति, दलपति, वंशीधर, दूल्ह, गुलाब सिंह और मुरारिदान आदि का नाम उल्लेखनीय हैं। केशव ने काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि कविता रूपी कामिनी यद्यपि अच्छी जाति, अच्छे लक्षणों अच्छे वर्णों, अच्छे छंदों और रस युक्त होने पर भी अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होती है–

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषण बिन न विराजई, कविता वनिता मित्त।। –कविप्रिया-5

आनंदवर्धन की तरह अलंकार को काव्य का शोभाकार साधन मानने वाले हिंदी के आचार्यों में चिंतामणि, भिखारीदास, रूपसाहि और देव का नाम उल्लेखनीय है। आनंदवर्धन आदि आचार्यों की भाँति इन आचार्यों ने अलंकारों को शरीर के आभूषणों की तरह-काव्य शरीर के शोभावर्द्धक साधन माना है–

अलंकार ज्यौं पुरुष को हारादिक मन आनि।

प्रासोपम आदिक कवित अलंकार ज्यौं जानि।। –कविकुल कल्पतरु: 2/1

हिंदी में संस्कृत के महिमभट्ट और आचार्य देवशंकर पुरोहित के समान अलंकार को काव्य का चमत्कारोत्पादक तत्त्व मानने वाले आचार्यों की संख्या पर्याप्त है। इन आचार्यों में जनराज, गोविंददास, ग्वाल, लच्छिराम और अर्जुनदास केडिया आदि का नाम महत्त्वपूर्ण है। गोविंददास का मत है–

रस तै बिगि तै भिन्न अरू शब्दार्थ के चमत्कार को प्रकट करै सो अलंकार है।

–दूषणोल्लास: पृष्ठ - 137

हिंदी के आधुनिक आचार्यों ने अलंकार के समन्वित स्वरूप का उद्‌घाटन किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वीकार किया है कि "वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पहुँचाने के लिए कभी-कभी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है।........कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।" डॉ० रामकुमार वर्मा अलंकारों को काव्य के भावों और भाषा की सौंदर्य सृष्टि का कारण मानते हुए लिखते हैं–**वस्तुत: अलंकारों का प्रयोग भाषा और भावों का संचय करने में तथा उसके द्वारा जीवन के कार्य व्यापारों को आकर्षक बनाने में है। इन प्रयोगों को इसीलिए अलंकार नाम दिया गया है।**

बाबू गुलाबराय अलंकारों को कवि की अभिव्यक्ति के साथ स्वत: प्रयुक्त मानते हैं। उनका मत है : अलंकार नितांत बाहरी वस्तु नहीं हैं, जो जब चाहे पहन लिए जाए या उतारकर रख दिए जाए। वे कवि या लेखक के साथ बँधे हुए हैं।" डॉ० भगीरथ मिश्र "कथनों की विशेषता को अलंकार कहते हैं।" डॉ० नगेंद्र ने अलंकारों का समन्वित लक्षण दिया है। उनका मत है : "रसवादियों का यह सिद्धांत कि रमणीयता मूलत: भाव के आश्रित है–सर्वथा निभ्रान्त है। परंतु भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता साधारण शब्दों द्वारा-बिना किसी प्रकार की वक्रता के व्यक्त की जा सके यह संभव नहीं है।"

वस्तुत: अलंकार काव्य के लिए न तो आवश्यक तत्त्व हैं न गौण, अपितु अलंकार काव्य के वे सहज धर्म हैं जो कवि अभिव्यक्ति के साथ स्वत: प्रयुक्त हो जाते हैं। काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व सृजित वैदिक साहित्य में प्रयुक्त अलंकार इस बात के प्रमाण हैं।

13.1.1 अलंकार साहित्य का उद्‌भव और विकास

मानव जीवन और अलंकार का अभिन्न संबंध है, क्योंकि अलंकरण मानव की जन्मजात प्रवृत्ति है। आरंभ में अलंकार मनुष्य के जीवनयापन के ढंगों और उसके क्रियाकलापों के माध्यम से व्यक्त हुआ था। कालांतर में काव्य के जन्म के साथ कवि की अभिव्यक्ति के साथ अलंकार सहज रूप में प्रयुक्त हुए थे। काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व सृजित वैदिक साहित्य में उपलब्ध विविध अलंकारों के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र के जन्म से पूर्व वैदिक साहित्य के अनेक ग्रंथों में अलंकारबोधक अलंकृता; अलंकृतम् और अलंकरिष्णु आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और व्याकरण ग्रंथों में भी कतिपय स्थलों पर उपमावाचक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। किंतु संख्यात्मक

दृष्टि से सर्वप्रथम भरत ने नाट्य की प्रवृत्ति के अनुरूप चार अलंकारों का उल्लेख किया। ये अलंकार क्रमशः उपमा, रूपक, दीपक और यमक हैं–

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।

अंलकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥ –नाट्यशास्त्र; 17/43

तब से लेकर अद्यावधि तक संस्कृत और हिंदी में अलंकार के विकास का क्रम स्पष्टतः देखा जा सकता है। संस्कृत और हिंदी में अलंकारों का विकास निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है–

(क) संस्कृत में अलंकारों का विकास

संस्कृत में अलंकारों के विकास क्रम को निम्न चरणों में दिखाया जा सकता है–

***(i)* ध्वनि से पूर्व काल–** ध्वनि से पूर्व काल अलंकारों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काल माना जाता है। इस काल के अधिकांश आचार्यों ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना था। इसलिए इस काल को अलंकार काल भी कहा जा सकता है। इस काल के अंतर्गत आचार्य भामह, दंडी, उद्भट, वामन, रुद्रट और अग्निपुराणकार का नाम उल्लेखनीय है।

आचार्य भामह इस काल के प्रतिनिधि थे। सच्चाई तो यह है कि आचार्य भामह से ही अलंकार संप्रदाय की व्यवस्थित परंपरा का आरंभ होता है। इसीलिए अधिकांश विद्वान भामह को काव्यशास्त्र का आद्य आचार्य मानते हैं। क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र में भामह ने ही सर्वप्रथम अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में अलंकार का व्यापक और व्यवस्थित विवेचन किया था। अलंकार को काव्य का अनिवार्य पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी भामह को ही जाता है। इन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में द्वितीय से लेकर पंचम अध्याय तक अलंकारों का विवेचन किया है। आचार्य भामह ने कुल 40 अलंकारों का विवेचन किया था। द्वितीय परिच्छेद में भामह ने दो शब्दालंकार-अनुप्रास, यमक और सत्रह अर्थालंकारों रूपक, दीपक, उपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति अतिशयोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्या, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति का विवेचन किया था। आचार्य भामह ने तृतीय परिच्छेद में 35 अलंकारों–प्रेयस, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति विशेषेक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति निदर्शना, उपमा, रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति ससंदेह, अनंवय, उत्पेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक और आशी अलंकारों का विवेचन किया है।

अलंकारों के विकास की दृष्टि से आलोच्य काल में दंडी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। दंडी ने भी अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है। दंडी ने अपने ग्रंथ 'काव्यादर्श' में द्वितीय से तृतीय परिच्छेद में अलंकारों का व्यापक विवेचन किया है। इन्होंने काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में पैंतीस (35) अलंकारों का विवेचन किया है। वे अलंकार इस प्रकार हैं–स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, दीपक, आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्य, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्ति, समाधि, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेष, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी, संसृष्टि और भाविक।

तृतीय परिच्छेद में–यमक, चित्र और प्रहेलिका का विवेचन है। किंतु दंडी प्रहेलिका को अलंकार नहीं मानते। इसी प्रकार दंडी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में गुण विवेचन प्रसंग में श्लेष, यमक, वर्णानुप्रास और समाधि का विवेचन है। कुल मिलाकर दंडी ने 37 अलंकारों का विवेचन किया था।

इसी प्रकार रुद्रट ने काव्यालंकार में 64 अलंकारों का विवेचन किया है।

वस्तुतः ध्वनि पूर्वकाल के अंत तक अलंकारों की संख्या पर्याप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त आलोच्य काल से ही अलंकारों का वैज्ञानिक अध्ययन भी आरंभ हो जाता है। कुल मिलाकर अलंकार साहित्य की दृष्टि से आलोच्य काल का अभूतपूर्व स्थान है।

नोट

***(ii)* ध्वनि काल**–इस काल के अंतर्गत आनंदवर्धन, अग्निपुराणकार, राजशेखर, कुंतक, अभिनव गुप्त और धारानरेश भोज आते हैं। इस काल के प्रथम आचार्य आनंदवर्धन हैं। यद्यपि संख्यात्मक दृष्टि से आनंदवर्धन अलंकार साहित्य को कुछ नहीं दे पाए। किंतु अलंकार स्वरूप विवेचन की दृष्टि से आनंदवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' का समूचे काव्यशास्त्र में अभूतपूर्व स्थान है। क्योंकि आनंदवर्धन ने ही सर्वप्रथम पूर्वाचार्यों की अलंकार की काव्य के लिए अनिवार्यता की धारणा को ठोस प्रमाणों द्वारा खंडन करके अलंकारों को गौणता प्रदान की। इसी प्रकार राजशेखर भी अलंकार के विकास में विशेष योग नहीं दे पाए, किंतु उन्होंने अलंकार को वेद का सप्तम अंग मानकर अलंकारों के प्रति उदारदृष्टि का परिचय अवश्य दिया था।

आलोच्य काल में अलंकार साहित्य के विकास की दृष्टि से वक्रोक्ति सिद्धांत के संस्थापक कुंतक का विशेष योगदान रहा है। उन्होंने सर्वप्रथम भामह आदि पूर्वाचार्यों की भाँति "सालंकार काव्यता" कहकर काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। किंतु अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' में कतिपय अलंकारों का विवेचन करने पर भी संख्यात्मक दृष्टि से अलंकार को कुछ नहीं दे पाए। इतना अवश्य है कि अलंकार की काव्य में गौणता सिद्ध हो जाने के पश्चात् पुनः उन्होंने अलंकारों की काव्य के लिए अनिवार्यता सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।

इसी प्रकार आलोच्यकाल के आचार्य अभिनव गुप्त ने भी अलंकारों के विकास में विशेष योग नहीं दे पाए, किंतु उनकी अलंकार विषयक धारणाएँ काव्यशास्त्र की महत्त्व निधि मानी जाती है।

आलोच्य काल में अलंकार विकास, वर्गीकरण और स्वरूप विवेचन की दृष्टि से धारानरेश भोज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भोज कृत' सरस्वती कंठाभरणम्' में कुल 72 अलंकारों का विवेचन प्राप्त होता है। इन्होंने 'सरस्वती कंठाभरण' के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ परिच्छेद में क्रमशः बाह्य/शब्दालंकारों, आभ्यांतर/अर्थालंकारों और उभयालंकारों का विवेचन किया है। इनके द्वारा विवेचित अलंकार इस प्रकार हैं–

(1) **बाह्य अथवा शब्दालंकार**–जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ़, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अन्विति–24।

(2) **आभ्यंतर अथवा अर्थालंकार**–जाति, विभावना, हेतु अहेतु, सूक्ष्म, विरोध, उत्तर, संभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद (व्यतिरेक), समाहित, भ्राँति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव–24।

(3) **उभयालंकार**–उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपहनुति, समासोक्ति, समाधि, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत प्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक और संसुष्टि–24।

वस्तुतः आलोच्य काल के अधिकांश आचार्यों ने अलंकारस्वरूप विवेचन पर विशेष बल दिया था और आलोच्यकाल के प्रतिनिधि आचार्यों ने अलंकार स्वरूप विवेचन में ही मौलिकता का परिचय दिया है। अलंकार के स्वरूप का मौलिक विवेचन की दृष्टि से ध्वनि काल का विशेष महत्त्व है। इसी काल से अलंकार को काव्य के बाह्य शोभाकर साधन मानने की परंपरा का आरंभ हुआ था।

***(iii)* ध्वन्युत्तर काल**–अलंकार साहित्य के विकास की दृष्टि से आलोच्य काल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काल में भी अलंकार काव्य के साध्य और साधन दोनों माने गए थे। इसके प्रमुख आचार्यों में मम्मट, रुय्यक वाग्भट, हेमचंद्र, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

आलोच्यकाल में मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' को प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ न केवल अलंकारों की दृष्टि से अपितु संपूर्ण काव्यशास्त्र की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी ग्रंथ है। इस ग्रंथ में 61 अलंकारों का विवेचन हैं। इस काल के आचार्य रुय्यक कृत 'अलंकार सर्वस्व' का अलंकारों के विकास और वर्गीकरण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व है। अलंकारों का प्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले आचार्य रुय्यक ही थे। इन्होंने 'अलंकार सर्वस्व' ग्रंथ शब्द और अर्थ को विविध वर्गों के अंतर्गत 75 अलंकारों का विवेचन किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में वाग्भट नामक दो आचार्य हुए हैं। वाग्भट प्रथम ने 'वाग्भटालंकार' ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रंथ पाँच परिच्छेदों में लिखा गया है। इस ग्रंथ के चतुर्थ परिच्छेद में अलंकारों का विवेचन है। इनके द्वारा वर्णित शब्दालंकारों की संख्या चार और अर्थालंकारों की संख्या 35 है। वाग्भट द्वितीय ने 'काव्यानुशासन' ग्रंथ का सृजन किया था। इस ग्रंथ के तृतीय अध्याय में 63 अर्थालंकार और चतुर्थ अध्याय में 6 शब्दालंकार वर्णित हैं। इनके पश्चात् हेमचंद्र ने 'काव्यानुशासन' के छठे अध्याय में 6 शब्दालंकार और 29 अर्थालंकारों का विवेचन है। इसके अतिरिक्त संसृष्टि को शंकर, तुल्ययोगिता को दीपक, पर्याय को परिवृत्ति, अनन्वय और उपमेयोपमा को उपमा तथा प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत और निदर्शना को निदर्शन में अंतर्भाव किया है।

आलोच्य काल के आचार्य जयदेव का अलंकारों के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। जयदेव ने सर्वप्रथम काव्य के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। जयदेव ने 'चंद्रालोक' के पंचम मयूख में चार शब्दालंकारों-अनुप्रास, पुनरुक्तप्रकाश, यमक और चित्र तथा उनके भेदों और 87 अर्थालंकारों का विवेचन किया है। यद्यपि जयदेव द्वारा विवेचित अधिकांश अलंकार पूर्ववर्ती आचार्यों की देन हैं। फिर जयदेव ने कतिपय नए अलंकारों की उद्भावना की हैं। जयदेव प्रदत्त नए अलंकारों में स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास (अनुप्रास के भेद) शब्दालंकार और अनुगुण, असंभव, अवज्ञा, उन्मीलित, उल्लास, प्रौढ़ोक्ति, प्रहर्षण, परिकरांकुर, पूर्वरूप, भाविकच्छवि, विकस्वर, निषादन तथा संभावना हैं। जयदेव के पश्चात् अलंकार साहित्य के विकास में विद्याधरकृत 'एकावली' भी विशेषरूपेण उल्लेख है। इन्होंने एकावली के सप्तम और अष्टम उन्मेश में अलंकारों का वर्गीकृत विवेचन किया है। वर्गीकृत विवेचन के कारण ही अलंकार साहित्य में विद्याधर का मान है।

विद्याधर के पश्चात् आलोच्यकाल में 'विश्वनाथ' कृत 'साहित्य दर्पण' का विशेष महत्त्व है। संपूर्ण काव्यशास्त्र की दृष्टि से 'साहित्य दर्पण' आधार ग्रंथ है। इस ग्रंथ में भारतीय काव्यशास्त्र की समग्र सामग्री सुबोध ढंग से व्यवस्थित की गई है। विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' के दशम परिच्छेद में आठ शब्दालंकारों, 75 अर्थालंकारों और 2 समिश्रित अलंकारों का विवेचन है। आलोच्य काल में अप्पय दीक्षित कृत 'कुवलानंद' भी उल्लेखनीय ग्रंथ है। यह अलंकारों का संग्रह ग्रंथ है। इसमें 123 अलंकारों का विवेचन हुआ है। अलंकार साहित्य के विकास में पंडितराज जगन्नाथ कृत 'रस गंगाधर' भी उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ के द्वितीय आनन में 13 और तृतीय आनन में 57 अलंकारों का विवेचन हुआ है। वस्तुत: संस्कृत काव्यशास्त्र के इन आचार्यों के अतिरिक्त अनेक आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकारों के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। जिनका विवेचन यहाँ संभव नहीं है।

(ख) हिंदी साहित्य में अलंकारों का विकास

हिंदी साहित्य में अलंकार ग्रंथ की रचना आचार्य रामचंद्र शुक्ल पुष्य नामक बंदीजन द्वारा लिखा हुआ मानते हैं। किंतु खेद है कि यह ग्रंथ-संप्रत्ति उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टि से आचार्य केशवदास को ही प्रथम हिंदी अलंकारिक आचार्य माना जाना चाहिए।

वस्तुत: हिंदी अलंकार साहित्य का जन्म आचार्य केशवदास से और चिंतामणि से अलंकार साहित्य परंपरा का आरंभ होता है। सुविधा की दृष्टि से हिंदी अलंकार साहित्य के विकास को निम्न चरणों में बाँटा जा सकता है।

(क) रीतिकालीन अलंकार साहित्य

(ख) गद्यकालीन अलंकार साहित्य

(ग) आधुनिक अलंकार साहित्य

(क) रीतिकालीन अलंकार साहित्य–इस काल का अलंकार साहित्य का आरंभ आचार्य केशवदास से आरंभ होता है। इस काल में आचार्य केशवदास ने 'कविप्रिया', जसवंत सिंह कृत 'भाषा भूषण', मतिराम कृत 'ललित ललाम' और 'अलंकार पंचाशिका', भूषण कृत 'शिवराज भूषण', कुलपति मिश्र कृत 'रस रहस्य', देव कृत 'भाव विलास' और 'काव्य रसायन', श्रीधर कवि कृत 'भाषा भूषण' रसिक सुमति कृत 'अलंकार चंद्रोदय', रघुनाथ कृत

नोट

'रसिक मोहन', गोविंददास कृत 'कर्णाभरण' दूलह कृत 'कविकुल कंठाभरण' दासकृत 'काव्य निर्णय', रसरूप कृत 'तुलसी भूषण' रामसिंह कृत 'अलंकार दर्पण', पद्माकर कृत 'पद्माभरण', गिरिधर कृत 'भारती भूषण' और गुलाब सिंह कृत 'वनिताभूषण' आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन आचार्य कवियों के अतिरिक्त हिंदी के अनेक आचार्य कवियों ने अलंकार साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योद दिया था। किंतु उन सब आचार्यों का इस ग्रंथ में उल्लेख कर पाना असंभव है।

वस्तुत: हिंदी के अधिकांश विद्वान हिंदी के रीतिकालीन अलंकार साहित्य पर संस्कृत के अलंकार साहित्य का प्रभाव मानते हैं। फिर भी हिंदी के कतिपय आचार्यों में केशवदास ने प्रेम, अभिमत, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, गणना, आशिष और युक्तलंकार, मतिराम ने गुणवत, देवकृत गुणवत लेख, संकीर्ण और प्रयुक्ति, भिखारीदास कृत सिंहावलोकन, वीप्सा, स्वगुण, स्वरूप कृत धन्यता, निर्णय उन्मतोक्ति तथा जगत सिंह कृत संग्रामोद्दाम मौलिक अलंकार प्रदान किए हैं।

(ख) गद्य युगीन अलंकार साहित्य–हिंदी साहित्य में रीतिकाल के पश्चात् भी अलंकारों का विकास हुआ था। इस काल में अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का जन्म हुआ था। फिर भी इस काल का अलंकार साहित्य पूर्णत: संस्कृत अलंकार साहित्य के प्रभाव से मुक्त नहीं है। इस काल में कविराज मुरारिदान कृत 'जसवंतजसोभूषण', जगन्नाथप्रसाद भानुकृत 'काव्य प्रभाकर', भगवानदीन कृत 'अलंकार मंजूषा', अर्जुनदास केडिया कृत 'भारती भूषण', बिहारीलाल भट्ट कृत 'साहित्य सागर', कन्हैयालाल पोद्दार कृत 'अलंकार मंजरी', रामदहिन मिश्र कृत 'काव्यदर्पण', रामशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत 'अलंकार पीयूष' और देवेंद्रनाथ शर्मा कृत 'अलंकार मुक्तावली' आदि का अलंकार साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

आलोच्यकाल में मुरारिदान, बिहारीलाल भट्ट , और सेठ पोद्दार ने मौलिक अलंकारों की उद्भावना की थी। इस काल में मुरारिदान ने 13 अलंकारों–अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, प्रत्यनीक, अभेद, अवसर, आभास, नियम, प्रतिमा, मिष, विकास, संकोच और संस्कार, बिहारीलाल भट्ट ने 2 अलंकारों-दीपयोग और गुणोक्ति तथा सेठ पोद्दार ने। अलंकार–अपरिवृत्ति नए अलंकारों की उद्भावना की थी। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि गद्य कालीन अलंकार साहित्य ने हिंदी काव्यशास्त्र को 16 नए अलंकार प्रदान किए। इनके अतिरिक्त पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से रामदहिन मिश्र ने 'काव्यदर्पण' के बारहवें प्रकाश में तीन पाश्चात्य अलंकारों-मानवीकरण, ध्वन्यर्थ-व्यंजना और विशेषण विपर्यय का विवेचन किया है।

(ग) आधुनिक अलंकार साहित्य–यद्यपि आलोच्यकाल में संख्यात्मक दृष्टि से अलंकार साहित्य में विशेष वृद्धि नहीं हो पाई। किंतु आधुनिक काल में शोध और आलोचना के माध्यम से अलंकार संबंधी पर्याप्त सामग्री प्रकाश में आई है। आधुनिक काल में अलकार संबंधी सैद्धांतिक सामग्री देने वाले आचार्यों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, सुमित्रानंदन पंत, गुलाबराय, नंददुलारे वाजपेयी, राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० ओमप्रकाश, डॉ० ओमप्रकाश शर्मा, किशोर काबरा, डॉ० देशराज सिंह भाटी और वचन देव कुमार का नाम विशेष रूपेण उल्लेख है। यद्यपि इन सभी विद्वानों ने अलंकार को साधन पद ही प्रदान किया है, किंतु इन सभी विद्वानों ने अलंकारों को काव्य का भावोत्कर्षक तत्त्व भी माना है।

टास्क रीतिकालीन अलंकार साहित्य पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. आचार्य .... ने वर्ण और पद वक्रता का विवेचन करने के उपरांत वाक्य वक्रता का विवेचन किया है।

नोट

2. आचार्य दंडी ने काव्य के शोभाकार .... को अलंकार माना है।
3. वाग्भट्टप्रथम ने .... ग्रंथ की रचना की थी।

13.2 अलंकारों का वर्गीकरण

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का वर्गीकरण निम्न शीर्षकों के अंतर्गत दिखाया जा सकता है–

(क) संस्कृत में अलंकारों का वर्गीकरण

संस्कृत के आरंभिक आचार्यों ने अलंकारों का स्पष्टतः वर्गीकरण नहीं किया है, किंतु, भामह, दंडी और वामन आदि आचार्यों के अलंकार स्वरूप विवेचन से स्पष्टतः अलंकारों के दो भेद परिलक्षित होते हैं। वे हैं–शब्दालंकार और अर्थालंकार। इस संदर्भ में भामह कृत अलंकार लक्षण द्रष्टव्य हैं–

वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकारान कल्पतेः। –काव्यालंकार; 5/66

अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रतापूर्ण उक्ति वाणी का अलंकार कहा जाता है। वस्तुतः भामह ने अप्रत्यक्ष रूप से अलंकारों के दो भेदों का निरूपण कर दिया है। इसी प्रकार दंडी और वामन ने भी प्रकारांतर अलंकार स्वरूप विवेचन के बहाने अलंकारों के शब्दगत और अर्थगत दो भेदों का निरूपण अप्रत्यक्ष रूप में किया था। किंतु स्पष्ट विविध अलंकारों को वर्गीकृत करके विवेचन करने की परंपरा का आरंभ रुद्रट कृत 'काव्यालंकार' से होता है। आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम काव्यालंकार के द्वितीय अध्याय में पाँच शब्दालंकारों-वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रालंकार का उल्लेख किया है–

वक्ररेक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दास्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्युस्तु।। –काव्यालंकार; 2/13

इसके पश्चात् उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष को अर्थालंकार और अन्स सभी को इन्हीं के भेद माने हैं–

अर्थास्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेष।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः।। –काव्यालंकार; 7/9

इस प्रकार रुद्रट के अलंकार वर्गीकरण की तालिका इस प्रकार बनती है–

(क) शब्दालंकार–वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र।

(ख) अर्थालंकार

(1) **वास्तव के भेद**–सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली।

(2) **औपम्य के भेद**–उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थांतरन्यास, उभयन्यास, भ्रांतिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टांत, पूर्व सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।

(3) **अतिशय के भेद**–पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तदगुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु।

(4) **अर्थ श्लेष के भेद**–अविशेष, विरोध, वक्रश्लेष, व्याजश्लेष, उक्तिश्लेष, असंभव श्लेष, अवयव श्लेष, तत्त्व श्लेष, विरोधाभास, अलंकार-सांकर्य।

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले आचार्य रुय्यक हैं। आचार्य रुय्यक ने अलंकारों

के दो भेद और उनके अनेक भेदों में वर्गीकृत किया था। इनके अलंकार वर्गीकरण को निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है–

(क) शब्दालंकार

पौनरुक्त वर्ग–

(1) अर्थपौनरुक्त्य - पुनरुक्तवदाभास।

(2) व्यंजनपौनरुक्त्य - छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास।

(3) स्वर व्यंजन पौनरुक्त्य - यमक।

(4) शब्दार्थोभयपौनरुक्त्य - लाटानुप्रास।

(5) स्थानविशेष पौनरुक्त्य - चित्र।

(ख) अर्थालंकार

(1) सादृश्य मूलक अलंकार वर्ग

(अ) भेदोभेदतुल्यतामूलक–उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण।

(आ) अभेद प्रधानमूलक

1. **आरोप मूलक**–रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांतिमान, उल्लेख और अपह्नुति।
2. **अध्यवसाय मूलक**–उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

(इ) गम्यमान औपम्य–तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तुपमा, दृष्टांत, निदर्शना।

(ई) भेद प्राधान्य मूलक–व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।

(2) विशेषण विच्छिति

(1) विशेषण साम्य–समासोक्ति, परिकर।

(2) विशेष्य साम्य–श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थांतरन्यास।

(3) गम्यतार्थ विच्छित्ति–पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप।

(4) विरोध मूलक–विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष।

(5) शृंखलामूलक अलंकार–कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

(6) न्याय मूलक अलंकार

(क) तर्क न्याय मूलक–काव्यलिंग, अनुमान।

(ख) वाक्य न्याय मूलक–यथासंख्या, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि।

(ग) लोक न्याय मूलक अलंकार–प्रत्यंनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, अतद्‌गुण, उत्तर।

(7) गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार–सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वाभावोक्ति, भाविक, उदात्त।

(8) **चित्रवृत्ति स्वरूप अलंकार**—रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित।

(9) **चित्रवृत्ति स्वरूप अलंकारों से पृथक अलंकार**—भावोदय, भावसंधि, भाव सबलता,

(10) **मिश्र अलंकार**—संसृष्टि, संकर।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य रुय्यक के पश्चात् 'विद्याधर' ने अपने ग्रंथ एकावली और विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में अलंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया था। किंतु इन आचार्यों का अलंकार वर्गीकरण पूर्णत: रुय्यक के वर्गीकरण से प्रभावित प्रतीत होता है। इतना अवश्य है कि विद्यानाथ का अलंकार वर्गीकरण कतिपय नूतनता को लिए हुए है। आचार्य विद्यानाथ की अलंकार वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं—

(1) **साधर्म्य मूलक**

(क) **अभेद प्रधान**—रूपक परिणाम, संदेह, भ्रांतिमान उल्लेख तथा अपह्नुति।

(ख) **भेद प्रधान**—दीपक, तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टांत, प्रतिवस्तुपमा, वक्रोक्ति, प्रतीप और व्यतिरेक।

(ग) **भेदोभेद प्रधान**—उपमा, अन्नवय, उपमेयोपमा और स्मरण।

(2) **अध्यवसाय मूलक**—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

(3) **विरोध मूलक**—विभावना, विशेषोक्ति, विषम, चित्र, असंगति, अन्योन्य, व्याघात, अतद्‌गुण, भाविक और विशेष।

(4) **वाक्य न्याय मूलक**—यथासंख्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प और समुदाय।

(5) **लोक व्यवहार मूलक**—परिवृत्ति, प्रत्यनीक, तदगुण, समाधि, सम स्वाभावोक्ति, उदात्त और विनोक्ति।

(6) **तर्कन्याय मूलक**—काव्यलिंग, अनुमान और अर्थातरन्यास।

(7) **शृंखला वैचित्र्य मूलक**—(रुय्यक निर्दिष्ट अलंकार)

(8) **अपह्नव मूलक**—व्याजोक्ति, वक्रोक्ति और मीलित।

(9) **विशेषण वैचित्र्य मूलक**—समासोक्ति और परिकर।

इस वर्गीकरण के आरंभ में विद्यानाथ ने शब्दालंकारों और अंत में मिश्र अलंकारों का विवेचन किया है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विद्यानाथ का अलंकार वर्गीकरण प्रकारांतर रुय्यक की ही अनुकृति है। अत: भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य रुय्यक का अलंकार वर्गीकरण सर्वाधिक वैज्ञानिक है।

13.2.1 हिंदी में अलंकारों का वर्गीकरण

हिंदी साहित्य में भी अलंकारों के वर्गीकरण के प्रयास हुए हैं। इन आचार्यों में मुख्यत: केशवदास, भिखारीदास, कन्हैयालाल पोद्दार, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', डॉ० नगेंद्र और डॉ० वचनदेव कुमार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आचार्य केशवदास ने अपने ग्रंथ 'कविप्रिया' में नवें प्रभाव से लेकर सोलहवें प्रभाव तक अलंकारों का विवेचन किया है। इनके अलंकार विवेचन से अप्रत्यक्ष रूप में अलंकार स्वयं वर्गीकृत हो जाते हैं। किंतु प्रभावों के वर्गों में वर्गीकृत आचार्य केशवदास के अलंकारों का वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार न होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता।

इसी प्रकार आचार्य भिखारीदास ने भी 'काव्य निर्णय' में अलंकारों का तीसरे, आठवें से अठारहवें और बीसवें से इक्कीसवें उल्लासों में अलंकारों का निरूपण किया है। इनके अलंकार विवेचन से भी अलंकारों के ग्यारह वर्ग बनते हैं। किंतु, इन वर्गों का भी ठोस वैज्ञानिक आधार न होने के कारण भिखारीदास का भी अलंकार वर्गीकरण सर्वमान्य

नोट

नहीं हो सका। इतना अवश्य है कि आचार्य भिखारीदास ने अलंकारों के साम्य का सामान्य आधार ढूँढ़कर विवेचन अवश्य किया है। इनके पश्चात् कन्हैयालाल पोद्दार और डॉ० रामशंकर मिश्र 'रसाल' ने भी क्रमश: काव्य प्रकाश' और 'अलंकार पीयूष' में अलंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया था, किंतु इनका वर्गीकरण पूर्णत: संस्कृत के आचार्यों के अलंकार वर्गीकरण का अनुकरण मात्र प्रतीत होता है।

हिंदी के आधुनिक आचार्यों में डॉ० नगेंद्र ने विशेष भूमिका का निर्वाह किया। उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से अलंकारों को छह वर्गों में वर्गीकृत किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट वर्ग–साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार हैं। किंतु डॉ० नगेंद्र का अलंकार वर्गीकरण सर्वथा वैज्ञानिक नहीं है। इसीलिए डॉ० नगेंद्र का वर्गीकरण भी ग्राह्य नहीं हो सकता।

वस्तुत: आचार्य रुय्यक का अलंकार वर्गीकरण सर्वथा वैज्ञानिक है और अनेक संस्कृत और हिंदी के विद्वानों ने रुय्यक के वर्गीकरण को ही सर्वाधिक मौलिक और प्रामाणिक माना है। आचार्य रुय्यक के अलंकार वर्गीकरण की कमियों को डॉ० वचनदेव कुमार ने अपनी सूझबूझ से पूर्णता प्रदान कर दी है। क्योंकि आचार्य रुय्यक के अलंकार वर्गीकरण में बहुत सारे अलंकार स्थान नहीं पा सके थे। डॉ० वचनदेव कुमार ने अपने शोध प्रबंध "रामचरितमानस में अलंकार योजना" ग्रंथ में रुय्यक के वर्गीकरण में 'वर्गीकरण–बहिर्गत' वर्ग जोड़कर रुय्यक के वर्गीकरण को निर्दोष बना दिया है। अत: अलंकार वर्गीकरण की दृष्टि से आचार्य रुय्यक और हिंदी के विद्वान डॉ० वचनदेव कुमार दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. भारतीय काव्यशास्त्रों में अलंकारों का वैज्ञानिक वर्णन वाले आचार्य का क्या नाम है?

   (अ) आचार्य कुंतक (ब) आचार्य भामह

   (स) आचार्य रूय्यक (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

5. निम्नलिखित में से कौन-सी रचना आचार्य केशवदास की है?

   (अ) साकेत (ब) चाँद का मुँह टेढ़ा है

   (स) कविप्रिया (द) सड़क के फूल

6. 'रामचरितमानस में अलंकार योजना' ग्रंथ की रचना किसने की है?

   (अ) डॉ. नगेन्द्र (ब) आचार्य केशव

   (स) डॉ. वचनदेव कुमार (द) आचार्य भिखारीदास

13.3 सारांश (Summary)

- रस के पश्चात् अलंकार सर्वाधिक प्राचीन सिद्धांत है। इतना ही नहीं भारतीय काव्यशास्त्र में अन्य काव्य सिद्धांतों की अपेक्षा अलंकार का सर्वाधिक विवेचन प्राप्त होता है।
- सामान्यत: अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति **अलम् शब्द** में कृ धातु के योग हुई है। **अलम्** शब्द का अर्थ **पर्याप्त** और **कृ** का अर्थ **करना** होता है। इस प्रकार अलंकार का **अर्थ पूर्ण** अथवा 'पर्याप्त' करना हुआ।
- भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन करने का श्रेय भरत को जाता है। उन्होंने अलंकार विवेचन में नाट्य की प्रवृत्ति के अनुरूप चार अलंकारों-उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया था।

नोट

- आनंदवर्धन ने अपने ठोस प्रमाणों द्वारा रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर अलंकारों को काव्य के बहिरंग शोभावर्द्धक तत्व सिद्ध किया।
- आनंदवर्धन के पश्चात् के अधिकांश आचार्यों ने उनके अनुसरण पर अलंकार को काव्य का बाह्य शोभाकर तत्त्व मानते हुए, अलंकार को काव्य के लिए गौण तत्त्व माना। इन आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।
- हिंदी के रीतिकाल में भी संस्कृत काव्यशास्त्र की भाँति अलंकार विषयक तीन वर्ग बनते हैं। प्रथम वर्ग के अंतर्गत वे आचार्य कवि आते हैं जिन्होंने आचार्य भामह और उनके अनुयायियों की भाँति अलंकारों को काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व माना था।
- संख्यात्मक दृष्टि से सर्वप्रथम भरत ने नाट्य की प्रवृत्ति के अनुरूप चार अलंकारों का उल्लेख किया। ये अलंकार क्रमशः उपमा, रूपक, दीपक और यमक हैं–
- आलोच्यकाल में अलंकार साहित्य के विकास की दृष्टि से वक्रोक्ति सिद्धांत के संस्थापक कुंतक का विशेष योगदान रहा है।
- संस्कृत काव्यशास्त्र में वाग्भट नामक दो आचार्य हुए हैं। वाग्भट प्रथम ने 'वाग्भटालंकार' ग्रंथ की रचना की वाग्भट द्वितीय ने 'काव्यानुशासन' ग्रंथ का सृजन किया था।
- हिंदी साहित्य में रीतिकाल के पश्चात् भी अलंकारों का विकास हुआ था। इस काल में अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का जन्म हुआ था।
- भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले आचार्य रुय्यक हैं।

13.4 शब्दकोश (Keywords)

- वक्रोक्ति : चमत्कारपूर्ण उक्ति
- मीलित : एक अलंकार जो सादृश्य से भेद नहीं करता
- सिंहावलोकन : पिछली बातों का संक्षिप्त वर्णन

13.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. अलंकार स्वरूप से कया अभिप्राय है?
2. शब्दालंकार एवं अर्थालंकार से क्या अभिप्राय है?
3. अलंकार साहित्य के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालिए।
4. हिंदी में अलंकारों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. कुंतक	2. धर्मों	3. वाग्भटालंकार	4. (स)
5. (स)	6. (स)		

13.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र – *सत्येन्द्र चौधरी एवं शान्तिस्वरूप गुप्त।*

नोट

इकाई—14 : ध्वनि सिद्धांत

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
14.1 ध्वनि का अर्थ और स्वरूप
14.2 ध्वनि संप्रदाय का विकास
14.3 ध्वनि के भेद
14.4 सारांश (Summary)
14.5 शब्दकोश (Keywords)
14.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
14.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- ध्वनि का अर्थ समझने हेतु।
- ध्वनि संप्रदाय के विकास को जानने हेतु।
- ध्वनि के विभिन्न भेदों को समझने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि संप्रदाय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्वनि-सिद्धांत को व्यवस्थित करने का श्रेय **आनंदवर्धन** को है जिन्होंने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की। ध्वनि सिद्धांत से पहले काव्यशास्त्र में तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धांत अलंकार, रस और रीति का प्रवर्तन हो चुका था। अत: ध्वनि सिद्धांत के अंतर्गत प्रबल एवं पुष्ट तर्कों के आधार पर ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए उक्त सभी सिद्धांतों का पुन: मूल्यांकन किया गया।

14.1 ध्वनि का अर्थ और स्वरूप

ध्वनि का अर्थ और स्वरूप—आनंदवर्धन के अनुसार, "जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान को प्रकाशित करता है उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि काव्य कहा है।"

इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनि में व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) का होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु प्रतीयमान अर्थ

का वाच्यार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण होना भी आवश्यक है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ व्ययार्थ प्रमुख हो और वाच्यार्थ गौण हो वहीं ध्वनि मानी जा सकती है। उदाहरण के लिए यह दोहा देखिए:

माली आवत देख के कलियन करी पुकार ।

फूली-फूली चुन लई काल हमारी बार ॥

यहाँ 'माली और 'कली' वाला अर्थ **वाच्यार्थ** है जो गौण है जबकि जीवन की क्षणभंगुरता को व्यंजित करने वाला अर्थ **'व्यंग्यार्थ'** है और वही प्रमुख भी है। व्यंग्यार्थ की प्रमुखता के कारण यह ध्वनि काव्य का उदाहरण है।

आनंदवर्धन ने काव्य के तीन भेद किए हैं:

(1) ध्वनि काव्य, (2) गुणीभूत व्यंग्य काव्य, (3) चित्र काव्य।

जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सुंदर हो वहाँ ध्वनि काव्य होता है। जहा वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ कम सुंदर है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है और जहाँ केवल वाच्यार्थ होता है उसे चित्र काव्य कहते हैं। इन तीनों प्रकार के काव्यों को उन्होंने क्रमश: उत्तम, मध्यम और अधम कोटि का काव्य माना है।

प्रतीयमान अर्थ–काव्यशास्त्र में तीन शब्द शक्तियों का उल्लेख किया गया है: अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें से व्यंजना का संबंध ध्वनि से है। व्यंजना वह शब्द शक्ति है जो मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के झीने पर्दे में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर काव्य के वास्तविक लवण्य को व्यक्त करती है।

व्यंजना से व्यक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ कहा जाता है। आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ की प्रशंसा करते हुए इसे ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। उनके अनुसार:

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वसत्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

अर्थात् प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध अव्यवों (मुख, नेत्र आदि) से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में भाषित होता है।"

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. ध्वनि संप्रदाय को व्यवस्थित करने का श्रेय .... को है।
2. व्यंजना से व्यक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ या .... अर्थ कहा जाता है।
3. काव्यशास्त्र में .... शब्द शक्तियों का उल्लेख किया गया है।

टास्क ध्वनि के अर्थ एवं स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

14.2 ध्वनि संप्रदाय का विकास

1. आनंदवर्धन–यद्यपि आनंदवर्धन ने **'ध्वन्यालोक'** में इस बात को स्वीकार किया है कि ध्वनि सिद्धांत की परंपरा उनसे पहले भी वर्तमान थी, किंतु उसके पुष्ट प्रमाण न मिलने के कारण हम आनंदवर्धन को ही ध्वनि सिद्धांत का प्रथम आचार्य मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ ध्वन्यालोक में ध्वनि सिद्धांत का विस्तृत विवेचन करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया।

> *नोट्स* व्यंजना को ध्वनि का आधारभूत तत्त्व मानते हुए आनंदवर्धन ने व्यंजना के मूल मे अभिधा और लक्षण दोनों शब्द शक्तियों को माना है और इसी आधार पर उन्होंने ध्वनि के दो भेद किए हैं।

अभिधामूला ध्वनि और लक्ष्णामूला ध्वनि। आनंदवर्धन अलंकार, रस, रीति, आदि सभी के मूल में ध्वनि को ही स्वीकार करते हैं और ध्वनि काव्य को ही उत्तम काव्य मानते हैं।

2. **अभिनव गुप्त**–'अभिनव गुप्त' ने ध्वन्यालोक की टीका **'ध्वन्यालोक लोचन'** नाम से लिखी जो अत्यंत लोकप्रिय सिद्ध हुई है। इस ग्रंथ के द्वारा उन्होंने ध्वनि सिद्धांत को पल्लवित और विकसित किया और इस बात को स्पष्ट किया है। ध्वनिवादियों की व्यंजनाशक्ति ही रस की अभिव्यक्ति कर सकती है क्योंकि रस भात आदि का बोध व्यंग्य रूप में ही हुआ करता है। अपने इस विवेचन द्वारा अभिनव गुप्त ने रस सिद्धांत और ध्वनि सिद्धांत को परस्पर प्रगाढ़ रूप से संबंध कर दिया। अभिनव गुप्त मूलत: रसवादी आचार्य थे। रस की सम्यक् पुष्टि के लिए उन्होंने ध्वनि सिद्धांत को महत्त्व प्रदान किया और सिद्ध किया कि रस वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। उन्होंने यह भी स्थापित किया कि रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। दूसरे शब्दों में वे ध्वनि सौंदर्य से युक्त रसात्मक काव्य को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

3. **मम्मट**–मम्मट का काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है। वे एक सुलझे हुए प्रतिभाशाली आचार्य थे। यद्यपि उन्हें रसवादी आचार्य माना जाता है तथापि वे ध्वनि सिद्धांत के भी प्रबल पक्षधर थे। ध्वनि सिद्धांत के विरोधियों ने ध्वनि के विरोध में जो तर्क दिए थे मम्मट ने उनका विद्वत्तापूर्ण ढंग से खंडन किया और इस प्रकार ध्वनि सिद्धांत को सुदृढ़ आधार प्रदान किया इसीलिए मम्मट को **'ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य'** कहा जाता है। मम्मट ने व्यंजना शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया और ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं में एकरूपता लाने का ऐतिहासिक कार्य संपन्न किया।

ध्वनि विरोधी आचार्य–ध्वनि विरोधी आचार्यों में प्रमुख हैं मुकुट भट्ट , प्रतिहारेंदुराज, भट्ट नायक, कुंतक, धनंजय और महिम भट्ट।

मुकुल भट्ट केवल अभिधा शक्ति को ही स्वीकार करते थे, जबकि प्रतिहारेंदुराज ने अलंकार अंतर्गत ही ध्वनि को इसी प्रकार भट्ट नायक ने भी भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना कर व्यंजना को स्वीकार नहीं किया।

> *क्या आप जानते हैं* महिम भट्ट ने ध्वनि सिद्धांत का विरोध करने के लिए 'व्यक्ति विवेक' नामक ग्रंथ की रचना की।

उनकी मान्यता है कि ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु वह अनुमान का ही एक भेद है। ध्वन्यालोक में ध्वनि के जो उदाहरण दिए गए है उन्हें महिम भट्ट ने 'अनुमान' सिद्ध किया है। महिमा भट्ट की मान्यता है कि प्रतीयमान अर्थ तो अनुमान पर आधारित होता है और अनुमान के आधार पर किसी भी कथा के अनेक अर्थ हो सकते हैं फिर इन अनुमानित अर्थों को प्रमुख कैसे माना जा सकता है यही कारण है कि वे अभिधा को ही स्वीकार करते हैं और ध्वनि का खंडन करते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. महिम भट्ट ने ध्वनि सिद्धांत का विरोध करने के लिए किस ग्रंथ की रचना की थी?
   (अ) व्यक्ति विवेक (ब) नाट्यशास्त्र
   (स) न (अ) और न (ब) (द) इनमें से कोई नहीं

5. निम्नलिखित में कौन ध्वनि विरोधी आचार्य नहीं है?
   (अ) आचार्य कुंतक (ब) प्रतिहारेंदुराज
   (स) मुकुट भट्ट (द) आचार्य निम्बक
6. आचार्य महिमा भट्ट के अनुसार प्रतीयमान अर्थ किस पर आधारित होता है?
   (अ) कल्पना (ब) अनुमान
   (स) सत्य घटना (द) इनमें से कोई नहीं

14.3 ध्वनि के भेद

ध्वनि के सामान्यत: दो भेद किए गए हैं:

1. अभिधामूला ध्वनि
2. लक्षणामूला ध्वनि

अभिधामूला ध्वनि में अभिधेयार्थ से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, जबकि लक्षणामूला ध्वनि में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

अभिधामूला ध्वनि को पुन: दो वर्गों में बाँटा गया है:

1. असंलक्ष्य क्रम ध्वनि
2. संलक्ष्य क्रम ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ के साथ-साथ ही व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, दोनों के बीच समय का अंतराल प्रतीत नहीं होता वहाँ **असंलक्ष्य क्रम ध्वनि** होती है, जबकि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति में समय का अंतराल होने पर **संलक्ष्य क्रम ध्वनि** होती है।

आनंदवर्धन ने ध्वनि के तीन भेद दिए हैं–रसध्वनि, अलंकारध्वनि, वस्तुध्वनि। इनमें से रसध्वनि को ध्वनि संप्रदाय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। ध्वनिवादी यह तो स्वीकार करते हैं कि 'रस' श्रेष्ठतम काव्य तत्त्व है, पर वे काव्य की आत्मा पद पर 'ध्वनि' को ही प्रतिष्ठित करते हैं।

वस्तुत: ध्वनि के सैंकड़ों भेदोपभेद किए गए जिससे यह संप्रदाय अत्यंत व्यापक रूप से विचार-विमर्श का विषय बना।

काव्य की आत्मा 'ध्वनि'–ध्वनि सिद्धांत निश्चय ही अलंकार, रीति, वक्रोक्ति सिद्धांतों से अधिक व्यापक है तथा इसका विवेचन भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में किया गया है। ध्वनि को काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार करते हुए ध्वनि संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्धन कहते हैं:

"काव्यस्य आत्मा ध्वनिरिति:"

अर्थात् "काव्य की आत्मा ध्वनि है" अन्य आचार्यों ने ध्वनि को रस व्यंजना का माध्यम मात्र माना है, वे ध्वनि के स्थान पर 'रस' को वरीयता देते हैं। वस्तुत: ध्वनि सिद्धांत ने रस सिद्धांत के रहक्ष्य को खोल दिया, अत: इसे रस सिद्धांत का पूरक ही कहना चाहिए। आनन्दवर्धन ने भी 'रसध्वनि' को सर्वश्रेष्ठ माना है। इस प्रकार वे भी रस के महत्त्व को नकार नहीं सके। अभिनव गुप्त ने तो रस और ध्वनि का ऐसा संबंध किया है कि परवर्ती आचार्यों ने ध्वनि युक्त सरस काव्य को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है। ध्वनि द्वारा रस की ही व्यंजना की जाती है, अत: काव्य की आत्मा तो रस ही है, हो ध्वनि उसके साधिका अवश्य मानी जा सकती है।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. ध्वनि के सामान्यत: तीन भेद हैं।
8. ध्वनि सिद्धांत अलंकार, रीति, वक्रोक्ति सिद्धांतों से अधिक व्यापक है।
9. आनंदवर्धन ने ध्वनि के तीन भेद बताए हैं।

14.4 सारांश (Summary)

- भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि संप्रदाय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्वनि-सिद्धांत को व्यवस्थित करने का श्रेय **आनंदवर्धन** को है जिन्होंने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की।
- जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सुंदर हो वहाँ ध्वनि काव्य होता है। जहा वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ कम सुंदर है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है और जहाँ केवल वाच्यार्थ होता है उसे चित्र काव्य कहते हैं।
- काव्य की आत्मा ध्वनि है" अन्य आचार्यों ने ध्वनि को रस व्यंजना का माध्यम मात्र माना है, वे ध्वनि के स्थान पर 'रस' को वरीयता देते हैं।

14.5 शब्दकोश (Keywords)

- औचित्य : उचित होने की अवस्था, उपयुक्तता
- चारुता : सुंदरता

14.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. ध्वनि से आप क्या समझते हैं?
2. ध्वनि के सामान्यत: कितने भेद माने जाते हैं?
3. अभिधामूला ध्वनि के दो भागों को बताइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self-Assessment)

1. आनंदवर्धन	2. प्रतीयमान	3. तीन	4. (अ)
5. (द)	6. (ब)	7. असत्य	8. सत्य
9. सत्य			

14.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. भारतीय काव्यशास्त्र – *डॉ. सत्यदेव चौधरी।*

इकाई–15 : रीति का सिद्धांत

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

15.1 रीति संप्रदाय

15.1.1 रीति के भेद

15.1.2 रीति पर विभिन्न आचार्यों के मत

15.1.3 रीति का महत्त्व

15.2 सारांश (Summary)

15.3 शब्दकोश (Keywords)

15.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

15.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- रीति संप्रदाय का अर्थग्रहण करने में।
- रीति के भेद बताने में।
- रीति पर विभिन्न आचार्यों के मत बताने में।
- रीति का महत्त्व समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि गुणों से युक्त पद रचना रीति है। रीति संप्रदाय को गुण संप्रदाय भी कहा जाता है। आचार्य वामन के अनुसार, वैदर्भी रीति में सभी गुण रहते हैं; जबकि गौड़ी में केवल दो गुण ओज और कांति विद्यमान होते हैं। दूसरी ओर, पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में रीति को 'शैली' कहा गया है और इसे काव्य के चार तत्त्वों में से एक माना गया है।

15.1 रीति संप्रदाय

रीति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन (8वीं शती) माने जाते हैं। यद्यपि रीति शब्द का काव्य-शास्त्र में प्रयोग वामन से पहले भी प्राप्त होता है पर उसका व्यवस्थित स्वरूप और विस्तृत व्याख्या सर्वप्रथम वामन ने ही प्रस्तुत की। 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ्' धातु में 'ऋन्' प्रत्यय के योग हुई है, जिसका अर्थ है–मार्ग, पंथ, गति, शैली आदि। आचार्य वामन ने अपने साथ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में 'रीति' की परिभाषा देते हुए कहा है:

नोट

"विशिष्ट पद रचना रीतिः"

अर्थात् यह विशिष्टता 'गुण' से आती है, अर्थात् काव्य से गुणात्मक पद रचना को रीति कहते हैं। गुणात्मकता से उनका अभिप्राय ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि काव्य गुणों से है।

उक्त विवेचन के आधार पर रीति की परिभाषा निम्न शब्दों में की जा सकती है–**"प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि गुणों से युक्त पद रचना रीति है।"** इसीलिए रीति संप्रदाय को गुण संप्रदाय भी कहा जाता है।

आचार्य वामन ने 'गुणों' को विशेष महत्त्व दिया। उनके अनुसार 'गुण' काव्य के नित्य धर्म हैं, जिनकी अनुपस्थिति में काव्य का अस्तित्व असंभव है। गुणों को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते हुए वे लिखते हैं–**"काव्य शोभायाः कर्तारौ धर्माः गुणाः।"**

अर्थात् गुण काव्य के शोभाकारक धर्म हैं। अलंकार को वे काव्य का अनित्य धर्म मानते हैं, जो काव्य की शोभा को अतिशय करने वाला तत्त्व है। दूसरों शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वामन 'गुणों' की सत्ता को काव्य में अनिवार्य मानते हैं, किंतु अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते।

आचार्य दंडी अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते हैं अतः यह कहना उचित होगा कि दंडी जिसे अलंकार कहते हैं, वामन उसी तत्त्व को गुण कहते हैं।

गुणों के भेद–आचार्य वामन के अनुसार गुण दो प्रकार के होते हैं–1. शब्दगत, 2. अर्थगत।

इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत दस-दस गुण हैं, जिनके नाम इस प्रकार है–1. ओज, 2. प्रसाद, 3. श्लेष, 4. समता, 5. समाधि, 6. माधुर्य, 7. सौकुमार्य, 8. उदारता, 9. अर्थव्यक्ति, 10. कांति।

इस प्रकार वामन ने कुल बीस गुण माने हैं–इस शब्दगत और दस अर्थगत।

वामन के परवर्ती आचार्यों ने गुणों की इस संख्या को स्वीकार नहीं किया। भोजराज ने 24 गुण बताए हैं जबकि आचार्य मम्मट ने गुणों की संख्या केवल तीन तक सीमित कर दी और इनके अंतर्गत माधुर्य, प्रसाद और ओज को ही स्वीकार किया। वामन द्वारा बताए हुए इन गुणों में अधिकांश काव्य तत्त्व निहित हैं। रीति इन गुणों से ही समन्वित है, जिससे उसका काव्य फलक अत्यंत व्यापक हो गया है। इस व्यापकता के कारण ही वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा–**रीतिरात्मा काव्यस्य।**

15.1.1 रीति के भेद

आचार्य वामन ने रीति के तीन भेद किए हैं–(1) वैदर्भी, (2) गौड़ी, (3) पांचाली।

वामन के अनुसार, वैदर्भी रीति में सभी गुण रहते हैं, जबकि गौड़ी में केवल दो गुण ओज और कांति विद्यमान होते हैं। पांचाली में भी केवल दो ही गुण माधुर्य और सौकुमार्य रहते हैं। इन तीनों रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार साविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र।

क्या आप जानते हैं वामन ने वैदर्भी रीति को सर्वश्रेष्ठ माना है, क्योंकि इसमें सभी बीसों गुण विद्यमान रहते हैं। इसीलिए वे रीति को काव्य की आत्मा भी स्वीकार करते हैं।

वस्तुतः वामन ने वैदर्भी रीति में सभी गुणों का समावेश मानकर और इस प्रकार इसे सर्वगुण संपन्न कहकर बहुत बड़ी भूल की है। यह स्थिति काव्य में असंभव ही है, क्योंकि कोई भी रचना सर्वगुण संपन्न कदापि नहीं हो सकती। वामन के रीति सिद्धांत में सबसे बड़ी शिथिलता यही है। परवर्ती आचार्यों–आनंदवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने इसी

नोट

आधार पर वामन की मान्यताओं का खंडन किया। यद्यपि वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता उन्होंने भी स्वीकार की, क्योंकि यह करुण और शृंगार जैसे सुकोमल रसों के बाह्य रूप का विधान करती है।

रीति का खंडन–रीति सिद्धांत का खंडन इसके प्रतिपादन के तुरंत बाद ही प्रारंभ हो गया था। आचार्य वामन के परवर्ती आचार्यों ने वामन द्वारा प्रतिपादित रीति सिद्धांत का अनुमोदन एवं अनुकरण नहीं किया। कई आचार्यों ने तो वामन का उपहास तक किया है। उदाहरण के लिए–कुंतक ने रीति को व्यर्थ बताते हुए लिखा–**"तदलमनेन निस्सार वस्तु परिमल व्यसनेन।"**

अर्थात् 'अजी' हटाओ भी, कौन रीति जैसी निस्सार वस्तु के साथ अपना मगज खपाये।"

इसी प्रकार ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन ने रीति का उपहार करते हुए लिखा–"जो लोग ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्य तत्त्व को समझ सकने में असमर्थ हैं, उन्हीं लोगों द्वारा काव्यशास्त्रीय जगत में रीतियाँ चला दी गईं।"

टास्क रीति के भेद बताइए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. प्रसाद, ..., माधुर्य आदि गुणों से युक्त पद रचना रीति है।
2. आचार्य दंडी जिसे .... कहते हैं, वामन उसी तत्त्व को गुण कहते हैं।
3. रीति के तीन भेद हैं–वैदर्भी, ... और पांचाली।

15.1.2 रीति पर विभिन्न आचार्यों के मत

रीति का खंडन करने पर भी परवर्ती आचार्यों ने रीति को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार अवश्य किया है–भले ही उसका नामकरण किसी और रूप में क्यों न किया हो। यहाँ हम कुछ प्रमुख आचार्यों के मत प्रस्तुत कर रहे हैं।

(1) आचार्य कुंतक का मत–वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानने वाले आचार्य कुंतक ने रीति को उस अर्थ में स्वीकार नहीं किया जो वामन को अभिप्रेरित था। उन्होंने रीति को एक नई दिशा प्रदान की और उसे कवि के स्वभाव से संबंध माना। उन्होंने रीति के लिए नए नाम सुझाए, जो निम्न हैं:

1. सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति)
2. विचित्र मार्ग (गौड़ी रीति)
3. मध्यम मार्ग (पांचाली रीति)

इस प्रकार यह कहना असंगत न होगा कि कुंतक भी रीति की उपेक्षा न कर सके ओर यत्किंचित रूप में उसके महत्त्व को भी उन्होंने स्वीकार किया। वे रीति को 'मार्ग' कहते हैं।

(2) मम्मट द्वारा रीति विवेचन–आचार्य मम्मट ने रीति को **वृत्ति का पर्याय मानते** हुए इसे वृत्यानुप्रास नामक शब्दालंकार के अंतर्गत निरूपित किया और वामन के द्वारा निर्दिष्ट गुणों का निर्ममतापूर्ण खंडन किया। उन्होंने वृत्ति की निम्न परिभाषा की: **"वृत्तिः नियतवर्णगतोरसविषयोव्यापारः"**

अर्थात् "नियत वर्णों का रस विषयक व्यापार वृत्ति (रीति) है।" उन्होंने तीन वृत्तियों और तीन गुणों को स्वीकार किया है।

1. **उपनागरिका वृत्ति**–जिसे वामन ने वैदर्भी रीति कहा है, उसे ही मम्मट ने उपनागरिका वृत्ति की संज्ञा प्रदान

की है। यह माधुर्य गुण से युक्त होती है और श्रृंगार, करुण आदि कोमल रसों का उपकार करती है।

2. **पुरुषा वृत्ति**—ओज गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त रचना की मम्मट ने पुरुषा वृत्ति कहा है। इसे वामन के अनुसार गौड़ी रीति कहा गया है। यह वीर, रौद्र आदि कठोर रसों का उपकार करती है।
3. **कोमला वृत्ति**—प्रसाद गुण से युक्त रचना के पांचाली रीति या कोमला वृत्ति की संज्ञा प्रदान की गई है।

(3) आचार्य विश्वनाथ द्वारा किया गया रीति विवेचन—साहित्य दर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने रीति को **'पद संघटना'** का नाम दिया, पर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार—**"पद संघटना रीतिः अंग संस्था विशेषवत् उपकर्त्री रसादीनाम्।"**

अर्थात् "रीति तो पद संघटना मात्र है, वह काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व नहीं है। केवल शरीर के अंगों की बनावट के समान शब्दार्थ रूप काव्य शरीर का उपकार करती हुई काव्य की आत्मा रस का प्रकारांतर से उपकार कर देती है।"

आनंदवर्धन—आनंदवर्धन ने भी रीति पर विचार किया है और पद संघटना का नाम देकर प्रसाद गुण से मुक्त माना है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्यों ने वामन के रीति सिद्धांत को पूर्णतः स्वीकार तो नहीं किया पर वे उसकी नितांत उपेक्षा भी न कर सके।

15.1.3 रीति का महत्त्व

रीति भले ही काव्य का अनिवार्य तत्त्व न हो, पर उसका महत्त्व किसी-न-किसी रूप में अवश्य है।

रीति का महत्त्व

1. अलंकार संप्रदाय की अपेखा रीति संप्रदाय अधिक विकसित संप्रदाय है।
2. काव्य का मूल रूप क्या है? इसका विवेचन रीति संप्रदाय में अधिक तार्किकता से किया गया है।
3. वामन ने रीति संप्रदाय के अंतर्गत गुणों के विवेचन द्वारा अलंकार से उनका पार्थक्य दिखलाया। इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन किया।
4. अलंकार संप्रदाय की अपेक्षा इस संप्रदाय के आलोचकों की दृष्टि गहरी तथा पैनी है। भामह आदि अलंकारवादी आचार्य रस को काव्य में बहिरंग साधन मानते हैं, जबकि वामन ने रीति विवेचन के द्वारा रस को काव्य के अंतरंग धर्मों में गिना और इस प्रकार की महत्ता स्पष्ट की वामन रस को कांति नामक **अर्थगत** गुण के अंतर्गत मानते हैं।
5. पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में रीति को 'शैली' (Style) कहा गया और इसे काव्य के चार तत्त्वों में से एक माना गया। इस शैली तत्त्व को वे लेखक के व्यक्तित्व से संबंधित मानते हैं।

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भले ही रीति को काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व या प्राणतत्व न माना जाए, किंतु रीति संप्रदाय का काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. आचार्य कुंतक ने काव्य के 'प्राण' किसे माना है?

(अ) वक्रोक्ति (ब) रस

(स) छंद (द) इनमें से कोई नहीं

5. साहित्य दर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने रीति को क्या नाम दिया है?

   (अ) काव्य की आत्मा (ब) पद संघटना

   (स) रसानुभूति (द) इनमें से कोई नहीं

6. पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में रीति को क्या नाम दिया गया है?

   (अ) व्याख्या (ब) शैली

   (स) प्राण (द) इनमें से कोई नहीं

15.2 सारांश (Summary)

- रीति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन (8वीं शती) माने जाते हैं। यद्यपि रीति शब्द का काव्य-शास्त्र में प्रयोग वामन से पहले भी प्राप्त होता है पर उसका व्यवस्थित स्वरूप और विस्तृत व्याख्या सर्वप्रथम वामन ने ही प्रस्तुत की। कि वामन 'गुणों' की सत्ता को काव्य में अनिवार्य मानते हैं, किंतु अलंकारों को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते।
- वामन के परवर्ती आचार्यों ने गुणों की इस संख्या को स्वीकार नहीं किया। भोजराज ने 24 गुण बताए हैं जबकि आचार्य मम्मट ने गुणों की संख्या केवल तीन तक सीमित कर दी और इनके अंतर्गत माधुर्य, प्रसाद और ओज को ही स्वीकार किया।
- पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में रीति को 'शैली' (STYLE) कहा गया और इसे काव्य के चार तत्त्वों में से एक माना गया। इस शैली तत्त्व को वे लेखक के व्यक्तित्व से संबंधित मानते हैं।

15.3 शब्दकोश (Keywords)

- निरूपित : निरूपण (अच्छी तरह समझाना) किया हुआ।
- गौड़ी : संध्या समय संपूर्ण जाति में गाई जाने वाली रागिनी।

15.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. रीति से आप क्या समझते हैं?
2. रीति के विभिन्न भेदों को लिखिए।
3. रीति पर विभिन्न भेदों के मत लिखिए।
4. रीति के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self-Assessment)

1. ओज 2. अलंकार 3. गौड़ी 4. (अ)

5. (ब) 6. (ब)

15.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र – *सत्यदेव चौधरी एवं शांतिस्वरूप गुप्त।*

नोट

इकाई–16 : वक्रोक्ति का सिद्धांत

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

16.1 वक्रोक्ति संप्रदाय

16.1.1 वक्रोक्ति की अवधारणा

16.1.2 वक्रोक्ति के भेद

16.2 वक्रोक्ति सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद

16.3 सारांश (Summary)

16.4 शब्दकोश (Keywords)

16.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

16.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- वक्रोक्ति का अर्थ समझने हेतु।
- वक्रोक्ति के भेदों को जानने हेतु।
- वक्रोक्ति के सिद्धांतों को समझने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

आचार्य कुंतक वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते हैं। वक्रोक्ति का अर्थ है बाकपन या विलक्षण से भरा हुआ कथन। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी बात को यदि सामान्य ढंग से न कहकर चमत्कारिक ढंग से कहा जाए, तो यही वक्रोक्ति है। काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का प्रयोग एक लंबे समय से होता आ रहा है। वक्रोक्ति की विशेषता यह है कि इसका सौंदर्य शब्द और अर्थ दोनों में निहित रहता है।

16.1 वक्रोक्ति संप्रदाय

वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय **आचार्य कुंतक** को है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' में वक्रोक्ति को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इसे काव्य की आत्मा कहा। काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग कुंतक से पहले भी उपलब्ध होता है, पर यह उस अर्थ में नहीं मिलता, जिस अर्थ में कुंतक ने इसका प्रयोग किया है।

वक्रोक्ति का अर्थ–वक्रोक्ति शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है–वक्र + उचित । वक्र का अर्थ है–कुटिल या

नोट

विलक्षण और उक्ति का अर्थ है–कथन। अत: वक्रोक्ति से अभिप्राय है बाकपन या विलक्षता से भरा हुआ कथन। किसी बात को सामान्य ढंग से व्यक्त करने में सरसता नहीं आती, अत: उसे चमत्कारिक ढंग से या विलक्षणता से कहना ही वक्रोक्ति है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए छवि सामान्य मनुष्यों द्वारा अपनाए गए मार्गों से भिन्न विलक्षणता या वक्रता का आश्रय लेता है कथन की यह विलक्षण भंगिमा ही वक्रोक्ति है।

16.1.1 वक्रोक्ति की अवधारणा

वक्रोक्ति का इतिहास–काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का प्रयोग आरंभ से ही होता रहा है। भामह, दंडी आदि अलंकारवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति का निरूपण करने का प्रयास किया है।

भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्यायवाची स्वीकार करते हैं। उन्होंने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को ही स्वीकार किया है।

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नो अस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना ॥"

इस प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया और सभी अलंकारों के मूल में इस वक्रोक्ति को स्वीकार किया। वक्रोक्ति की परिभाषा उन्होंने निम्न शब्दों में दी: **'लोकातिक्रांतगोचरं वचनम्'**

अर्थात् **'लोक की साधारण कथन प्रणाली से भिन्न उक्ति ही वक्रोक्ति है।** भामह अलंकारवादी आचार्य करते थे। तथा इन अलंकारों में वक्रोक्ति की अनिवार्यता भी मानते थे। उनका मत था कि वक्रोक्ति की अनिवार्यता भी मानते थे। उनका मत था कि।

नोट्स वक्रोक्ति रहित वाक्य काव्य न रहकर वार्ता मात्र रह जाता है।

आचार्य दंडी ने काव्य को दो भागों में विभक्त किया–(1) स्वभावोक्ति और (2) वक्रोक्ति। वक्रोक्ति को वे अर्थालंकारों का सामूहिक रूप मानते हैं और श्लेष इस वक्रोक्ति के सौंदर्य में वृद्धि करता है। आगे चलकर वक्रोक्ति की सीमा संकुचित होती गई और आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को एक-दूसरे ही रूप में स्वीकार किया। उन्होंने वक्रोक्ति को अर्थालंकारों में से एक विशेष अलंकार माना है और इसकी निम्न परिभाषा दी है: **"नादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः।"**

अर्थात् सादृश्य पर आश्रित लक्षणा (गौणी लक्षणा) ही वक्रोक्ति है, पर वामन के मत को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। अलंकारवादी आचार्यों ने इसे एक अंलकार विशेष ही माना और इस प्रकार इसे संकुचित अर्थ ही प्रदान किया आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक अलंकार मानकर इसके दो भेद किए–(1) काकु वक्रोक्ति (2) श्लेष वक्रोक्ति।

ध्वनिवादी आचार्य, आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति को पुन: महत्त्व प्रदान किया और इसे समग्र अलंकारों का मूल तत्त्व स्वीकार किया। संक्षेप में कुंतक से पहले वक्रोक्ति का यही स्वरूप था।

कुंतक द्वारा वक्रोक्ति विवेचन–आचार्य कुंतक ने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' में वक्रोक्ति के स्वरूप और महत्त्व की विशद व्याख्या की है और इसे काव्य का प्राण तत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा।

"वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्"

अर्थात् वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है। वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं–**'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते।'** अर्थात् वैदध्यपूर्ण विचित्र उक्ति ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्यय का अर्थ है–विलक्षणता, भंगी का तात्पर्य

नोट

है–भंगिमा और भणिति का अर्थ है–कथन। इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ हुआ–**कथन की वह भंगिमा, जो विलक्षणता से युक्त हो।** कुंतक ने वक्रोक्ति के लिए काव्य में तीन बातों की आवश्यकता मानी है। 1. कवि कौशल, 2. चमत्कार, 3. उक्ति।

वक्रोक्ति का सौंदर्य शब्द और अर्थ दोनों में निहित होता है अर्थात् उक्ति की विचित्रता शब्द में भी होती है और अर्थ में भी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शब्द और अर्थ अलंकार्य होते हैं और उनको अलंकृत करने वाला तत्त्व वक्रोक्ति है।

टास्क वक्रोक्ति से क्या अभिप्राय है?

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय .... को जाता है।
2. वक्रोक्ति का अर्थ है .... ।
3. वक्रोक्ति का .... शब्द और अर्थ दोनों .... ।

16.1.2 वक्रोक्ति के भेद

आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति के छह भेद माने हैं। ये भेद निम्नलिखित हैं:

1. वर्ण-विन्यास वक्रता	2. पद पूर्वार्द्ध वक्रता	3. पद-परार्द्ध वक्रता
4. वाक्य वक्रता	5. प्रकरण वक्रता	6. प्रबंध वक्रता।

1. वर्ण-विन्यास वक्रता–व्यंजन वर्णों की ऐसी व्यवस्था एवं विन्यास जिससे सौंदर्य का विधान हो, वर्ण-विन्यास वक्रता कहलाती है। यमक और अनुप्रास अलंकार इसी के अंतर्गत आते हैं। वर्णों की कर्णप्रियता एवं बार-बार आवृत्ति भी इसी वक्रता का परिणाम है।

2. पद पूर्वार्द्ध वक्रता–पद से तात्पर्य सविभक्तिक शब्द से है। पद के दो भाग किए जा सकते हैं।–(1) प्रकृति (2) प्रत्यय।

क्या आप जानते हैं प्रकृति पद का पूर्वार्द्ध होती है और प्रत्यय पद का परार्द्ध।

वह वक्रता, जो पद के पूर्वार्द्ध (अर्थात् प्रकृति) पर आधारित होती है। पद पूर्वार्द्ध वक्रता कहलाती है इस प्रकृति वक्रता भी कहते हैं। कुंतक ने इसके नौ भेद माने हैं। यह वक्रता लिंग, क्रिया, भाव, वृत्ति, विशेषण, उपचार आदि पर आधारित होती है।

3. पद परार्द्ध वक्रता–पद के परार्द्ध में 'प्रत्यय' रहता है यह वक्रता इसी भाग में स्थापित की जाती है। इसे प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं। इसके आठ भेद होते हैं–(1) काल वैचित्र्य वक्रता (2) कारक वक्रता (3) संख्या वक्रता, (4) पुरुष वक्रता, (5) उपग्रह वक्रता, (6) प्रत्यय वक्रता, (7) उपसर्ग वक्रता, (8) निपात वक्रता।

नोट

4. वाक्य वक्रता–वाक्य वक्रता को वस्तु वक्रता या वाच्य वक्रता भी कहते हैं। यह कवि की प्रतिभा पर आश्रित होती है। अत: यह वक्रता भी विविध रूप में पाई जाती है। कुंतक ने इसके अंतर्गत अलंकारों का विवेचन किया है। अलंकारों में वे चारुत्व के अतिरिक्त वैचित्र्य और कवि प्रतिभा को भी विशेष महत्त्व देते हैं।

5. प्रकरण वक्रता–वाक्यों के संयोग से प्रकरण बनता है। एक प्रबंध काव्य में अनेक प्रकरण होते हैं। इन प्रकरणों या प्रसंगों को औचित्यपूर्ण तथा प्रभावशाली बनाना ही प्रकरण वक्रता का प्रयोजन है। अनेक लालित्यपूर्ण और सरस प्रसंगों से प्रकरण में सौंदर्य का समावेश किया जाता है। यह वक्रता भी कवि की कुशलता पर निर्भर है। इसके नौ भेद बताए गए हैं।

6. प्रबंध वक्रता–जब संपूर्ण प्रबंध में वक्रता होती है, तब उसे प्रबंध वक्रता कहते हैं। प्रबंध वक्रता के अंतर्गत प्रबंधात्मक काव्य रूपों का वस्तु कौशल अपेक्षित होता है। प्रबंध का योग सर्वाधिक व्यापक है और सभी प्रकार की वक्रताओं का सहयोग इसमें अपेक्षित होता है। कुंतक ने इसके छ: भेद किए हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति के कितने भेद माने हैं?

   (अ) 5 (ब) 8

   (स) 6 (द) 9

5. आचार्य कुंतक ने पद पूर्वार्द्ध वक्रता के कितने भेद माने हैं?

   (अ) 8 (ब) 10

   (स) 5 (द) 9

6. वाक्य वक्रता के अंतर्गत आचार्य कुंतक ने किस चीज की विवेचना की है?

   (अ) दोहों की (ब) रस की

   (स) अलंकारों की (द) इनमें से कोई नहीं

16.2 वक्रोक्ति सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्ति सिद्धांत का विलायती उत्थान बताया है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में अभिव्यंजनावाद पर विचार करने का श्रेय इटली के विद्वान 'क्रोचे' (Croce) को है। क्रोचे की मान्यता थी कि कला का संबंध स्वयं प्रकार ज्ञान (Intution) से है, जबकि कुंतक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से संबंधित मानते हैं। क्रोचे ने उक्ति की सहजता और स्वभाविकता में काव्य का सौंदर्य माना है, जबकि कुंतक वक्रता या विचित्रता, को ही सौंदर्य का मूल आधार स्वीकार करते हैं। क्रोचे ने मानसिक अभिव्यंजना को प्रमुख माना है तथा वाच्य अभिव्यक्ति उनके लिए गौण है। जबकि कुंतक ने **वाच्य** (शाब्दिक) अभिव्यक्ति की ही चर्चा की है। वे क्रोचे की तरह मानसिक अभिव्यक्ति की ही चर्चा की है। वे क्रोचे की तरह मानसिक अभिव्यक्ति की कल्पना नहीं करते।

इसके अतिरिक्त इन दोनों सिद्धांतों में एक बहुत बड़ा अंतर यह भी है कि क्रोचे केवल की आत्म तुष्टि को ही काव्य का लक्ष्य मानता है, जो मानसिक अभिव्यक्ति से पूरा हो जाता है। जबकि कुंतक इसके स्थान पर सहृदय के मन को प्रसन्नता प्रदान करना काव्य का लक्ष्य स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि डॉ. गणपति चंद्र गुप्त ने वक्रोक्ति सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद को अलग-अलग माना है और वे इस संबंध में शुक्ल जी के मत से सहमत नहीं है।

नोट

आगे चलकर डॉ. नगेंद्र ने अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में कुछ साम्य भी खोजा है, जो निम्नलिखित है:

1. दोनों सिद्धांत अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राण तत्त्व मानते हैं।
2. दोनों ने काव्य में कल्पना तत्त्व को प्रमुखता दी है।
3. दोनों ही मूलत: उक्ति को अखंड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं।
4. दोनों ने ही अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं माना है।
5. दोनों की सफल अभिव्यंजना अथवा सौंदर्य अभिव्यंजना में श्रेणियाँ स्वीकार नहीं करते।

वक्रोक्ति सिद्धांत का महत्त्व—यद्यपि वक्रोक्ति सिद्धांत का अधिक प्रचार काव्यशास्त्र में न हो सका, फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। वक्रोक्ति में व्यापक रूप में रीति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि सभी पूर्व प्रचलित सिद्धांतों का थोड़ा बहुत समन्वय हो जाता है वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों पर दृष्टिपात करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि **कवि कौशल** और **काव्य-सौंदर्य** दोनों ही वक्रोक्ति में समाहित हैं। वस्तुत: इस सिद्धांत को अधिक मान्यता इसलिए नहीं मिली कि यह काव्य के मूल विषय की वैसी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता, जैसी कि रस सिद्धांत करता है। दूसरे, यह सिद्धांत किंचित् बाद में सामने आया। इससे पहले रस, अलंकार, ध्वनि, रीति आदि पर विचार किया जा चुका था और काव्यशास्त्र में इनकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अत: नए सिद्धांत को स्वीकार करने में लोगों ने अरुचि दिखाई। तीसरा कारण यह भी है कि वक्रोक्ति के भेदोपभेदों का वर्गीकरण अस्पष्ट एवं जटिल हो गया है, अत: यह सिद्धांत लोकप्रियता प्राप्त न कर सका।

कुछ भी हो, इतना हो कहा ही जा सकता है कि वक्रोक्ति सिद्धांत आचार्य कुंतक की अद्‌भुत प्रतिभा, व्यापक दृष्टि एवं व्यवस्थित चिंतन में उद्‌भूत एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में अभिव्यंजनावाद पर विचार करने का श्रेय इटली के विद्वान 'क्रोचे' को जाता है।
8. डॉ. गणपति चंद्र गुप्त ने वक्रोक्ति सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद को ठीक ही माना है।
9. डॉ. नगेन्द्र ने अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद में कुछ साम्य खोजा है।

16.3 सारांश (Summary)

- अत: वक्रोक्ति से अभिप्राय है बाकपन या विलक्षता से भरा हुआ कथन। किसी बात को सामान्य ढंग से व्यक्त करने में सरसता नहीं आती, अत: उसे चमत्कारिक ढंग से या विलक्षणता से कहना ही वक्रोक्ति है।
- अलंकारवादी आचार्यों ने इसे एक अंलकार विशेष ही माना और इस प्रकार इसे संकुचित अर्थ ही प्रदान किया आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक अलंकार मानकर इसके दो भेद किए—(1) काकु वक्रोक्ति (2) श्लेष वक्रोक्ति।
- आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्ति सिद्धांत का विलायती उत्थान बताया है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में अभिव्यंजनावाद पर विचार करने का श्रेय इटली के विद्वान 'क्रोचे' (Croce) को है। क्रोचे ने मानसिक अभिव्यंजना को प्रमुख माना है तथा वाच्य अभिव्यक्ति उनके लिए गौण है। जबकि कुंतक ने **वाच्य** (शाब्दिक) अभिव्यक्ति की ही चर्चा की है।

नोट

16.4 शब्दकोश (Keywords)

- प्रवर्तन : प्रवृत्त करना, ठानना, आरंभ करना, आविष्कार करना
- अभिव्यंजना : विचारों एवं भावों को प्रकट करना, अभिव्यक्ति, मनोगत भावों को यथार्थ रूप में व्यक्त करने की मान्यता।

16.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. वक्रोक्ति से आप कया समझते हैं?
2. वक्रोक्ति के भेदों को समझाइए।
3. वक्रोक्ति सिद्धांत पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. आचार्य कुंतक	2. बाकपन	3. सौंदर्य	4. (स)
5. (द)	6. (स)	7. सत्य	8. असत्य
9. सत्य।			

16.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र – *सत्यदेव चौधरी एवं शांतिस्वरूप गुप्त।*

नोट

इकाई–17 : औचित्य का सिद्धांत

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
17.1 औचित्य की अवधारणा
17.2 औचित्य के भेद
17.3 सारांश (Summary)
17.4 शब्दकोश (Keywords)
17.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
17.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- औचित्य का अर्थ ग्रहण करने हेतु।
- औचित्य के भेदों को जानने हेतु।
- औचित्य की अवधारणा समझने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

औचित्य का अर्थ है उपयुक्त सामंजस्य। भारत के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने औचित्य पर ध्यान दिया है। ध्वनिकार आनंदवर्धन ने काव्य के प्राणभूत रस के साथ औचित्य का घनिष्ठ संबंध स्थापित किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के बारे में कहा है कि उचित का भाव ही औचित्य है।

17.1 औचित्य की अवधारणा

औचित्य को काव्य में विशेष महत्त्व प्रदान करने वाले **आचार्य क्षेमेंद्र** थे। यद्यपि मूलत: क्षेमेंद्र ध्वनिवादी आचार्य थे परंतु उन्होंने अपने ग्रंथ **'औचित्य विचार चर्चा'** में औचित्य को व्यापक काव्य तत्त्व में रूप में प्रतिष्ठित कर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया।

"औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"

अर्थात् रस से सिद्ध काव्य पर स्थिर जीवित (प्राणतत) औचित्य है। रस की सत्ता होने पर ही काव्य सिद्ध होता है और तब उस समय स्थिर जीवन के रूप में औचित्य का जन्म होता है, अर्थात औचित्य के बिना रस की सत्ता संभव ही नहीं है रस को स्थिर जीवनी-शक्ति प्रदान करने वाला तत्त्व औचित्य है, अत: वही काव्य का प्राण तत्त्व है। क्षेमेंद्र से पूर्व भी आचार्यों ने औचित्य पर विचार किया है, परंतु उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने

का श्रेय आचार्य क्षेमेंद्र को ही है। भरत मुनि ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में नायक के स्वरूप, अभिनय, वेशभूषा आदि के लिए औचित्य की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है:

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो वेषोनुरूपश्च गतिः प्रचारः।

गति प्रचारनुगतं च पाठ्यं पाठयानुरूपोऽभिनयश्च कार्य : ॥

अर्थात् आयु के अनुसार वेश, वेश के अनुरूप क्रिया, गति प्रचार के अनुरूप पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए।

औचित्य का ध्यान न रखने से उपहास होता है। भरत का निम्न श्लोक इस प्रसंग में बड़ा सारगर्भित है:

अदेशजो हि वेषश्तु न शोभां जनयिष्यति ।

मेखलोरसि बंधे च हास्यायेवोपजायते ॥

अर्थात् जो जिस देश का वेश है, जो आभूषण जिस अंग में पहना जाता है, उससे भिन्न देश या अंग में उसका विधान करने पर वह शोभा नहीं पाता। यदि कोई करधनी को गले में पहन ले तो वह उपहास का ही पात्र होगा।

वस्तुतः औचित्य का अर्थ है उपयुक्त सामंजस्य। रस इस सामंजस्य या संतुलन का नियामक है तथा इसका महत्त्व न केवल काव्य गति जगत में अपितु व्यावहारिक जगत में भी है।

क्या आप जानते हैं देशकाल एवं परिस्थिति के अनुरूप औचित्यपूर्ण व्यवहार ही सदाचार कहा जाता है।

सौंदर्य एवं कला के क्षेत्र में भी औचित्य का विशेष महत्त्व है। भरत के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी बाद में औचित्य पर ध्यान दिया। ध्वनिकार आनंदवर्धन ने काव्य के प्राणभूत रस के साथ औचित्य का घनिष्ठ संबंध स्थापित किया है।

अनौचित्याद् ऋते नान्यद रसभंगस्य कारणम्।

प्रसिद्धौचित्यबंधतु रसस्योनिषत्पर ॥

अर्थात् अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का कोई कारण हो नहीं है और औचित्य ही रस का पर रहस्य है। वस्तुतः क्षेमेंद्र ने औचित्य विवेचना का मूल आधार भरत और आनंदवर्धन के मत को ही बनाया है और उन्हीं से सामग्री ग्रहण की है।

आचार्य क्षेमेंद्र ने औचित्य की परिभाषा देते हुए लिखा है–

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।

उचितस्य चयो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे उचित कहा जाता है और उचित का भाव ही औचित्य है।

टास्क औचित्य का क्या अभिप्राय है?

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. औचित्य को काव्य में विशेष महत्त्व प्रदान करने वाले .... थे।

नोट

2. औचित्य का अर्थ है .... ।
3. क्षेमेन्द्र ने औचित्य विवेचना का मूल आधार भरत और .... के मत को ही बनाया है।

17.2 औचित्य के भेद

औचित्य के प्रकार—काव्य में इस औचित्य के छ: भेद बताए गए हैं: (1) अलंकार औचित्य, (2) गुण औचित्य, (3) संगठन औचित्य, (4) प्रबंध औचित्य, (5) रीति औचित्य, (6) रस औचित्य।

1. **अलंकार औचित्य** से अभिप्राय यह है कि काव्य में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से मुख्य भाव की पुष्टि के लिए होना चाहिए। उनका स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व उचित नहीं है।

2. **गुण औचित्य** से तात्पर्य यह है कि काव्य में रसानुकूल गुणों की योजना होनी चाहिए। प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणों से संपन्न कविता तदनुसार प्रभाव उत्पन्न करेगी।

3. **संगठन औचित्य** में चार बातों पर विचार किया जाता है: (*i*) रस का औचित्य, (*ii*) विषय का औचित्य, (*iii*) वक्ता का औचित्य, और (*iv*) वाच्य का औचित्य।

सम्यक सामासिक पद रचना को संगठन औचित्य कहा जाता है।

4. **प्रबंध औचित्य** से अभिप्राय यह है कि प्रबंध काव्य में प्रख्यात एवं कल्पित कथा उचित अनुपात होना चाहिए कोई कथा रस प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए और संपूर्ण घटनाएँ देश काल स्वभाव आदि के अनुसार होनी चाहिए।

5. **रीति औचित्य** का अभिप्राय यह है कि विविध गुणों के अनुकूल वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियों का प्रयोग होना चाहिए।

6. **रस औचित्य** का अभिप्राय यह है कि विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का वर्णन करने में औचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। मुख्य रस का विवेचन किस प्रकार होना चाहिए? अंग रस किस प्रकार मुख्य रस को विकसित करते है? रसों में पारस्परिक विरोध किस प्रकार होता है? कौन-सा रस किस रस के साथ किस विधि से निबद्ध होने पर अपनी विरुद्धता का परिमार्जन करता है? यह सारा विवेचन रसौचित्य का विषय है। यदि काव्य में इस रसौचित्य का ध्यान नहीं रखा जाएगा तो अनेक दोष उत्पन्न हो जाएँगे।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य निर्माण में विविध अनुकूलताओं पर ध्यान देना ही औचित्य है। इसका ध्यान रखने से काव्य में सरसता आती है, उसकी शोभा बढ़ती है, भाव प्रेषणीयता में वृद्धि होती है और काव्य सहृदयों के लिए आह्लादकारी बन जाता है। काव्य के सभी सिद्धांत अपने स्थान पर भले ही उपस्थित हों, परंतु यदि उनमें औचित्य का निर्वाह नहीं किया गया है तो ऐसा काव्य अनेक दोषों से युक्त हो जाएगा और उसकी प्रभावोत्पादकता समाप्त हो जाएगी।

क्या औचित्य काव्य की आत्मा है? प्रश्न यह उठता है कि क्या काव्य के ऐसे व्यापक तत्त्व औचित्य को काव्य की आत्मा माना जा सकता है? यह तो निर्विवाद है कि औचित्य एक व्यापक तत्त्व है। अलंकार योजना, रस योजना, वाक्य विन्यास, पद रचना, प्रबंधत्व आदि सभी में औचित्य का भाव आवश्यक है। औचित्य से अलंकार भाव निरूपण में सहायक बनते हैं, वर्ण विन्यास में चारुता और रसानुकूलता आती है। उद्देश्य कथन में सहज आकर्षण उत्पन्न हो जाता है।

फिर भी औचित्य को काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता।

नोट्स औचित्य काव्य का पथ प्रदर्शक तो हो सकता है किंतु यह काव्य का मूल तत्त्व नहीं है।

काव्य का अंतरंग तत्त्व होने पर भी औचित्य की महत्ता रस पर टिकी हुई है। रस से पृथक् औचित्य का अस्तित्व नहीं है। इस बात को आचार्य अभिनव गुप्त ने पहले ही बताया था। आचार्य क्षेमेंद्र भी इस बात को स्वीकार करते हैं क्योंकि वे रस सिद्ध काव्य का ही स्थिर जीवित (प्राणतत्त्व) औचित्य को मानते हैं, रसहीन काव्य का नहीं।

निष्कर्ष रूप में औचित्य काव्य का नितांत अंतरंग गूढ़ और अति सूक्ष्म तत्त्व है, किंतु यह काव्य की आत्मा नहीं है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. औचित्य को क्या नहीं कहा जा सकता?

   (अ) काव्य का गूढ़ तत्त्व (ब) काव्य का अति सूक्ष्म तत्त्व

   (स) काव्य की आत्मा (द) इनमें से कोई नहीं

5. औचित्य के कितने प्रकार बताए गये हैं?

   (अ) 5 (ब) 6

   (स) 8 (द) 7

6. संगठन औचित्य में कितनी बातों पर विचार किया जाता है?

   (अ) 8 (ब) 14

   (स) 4 (द) 8

17.3 सारांश (Summary)

- औचित्य को काव्य में विशेष महत्त्व प्रदान करने वाले **आचार्य क्षेमेंद्र** थे।
- देशकाल एवं परिस्थिति के अनुरूप औचित्यपूर्ण व्यवहार ही सदाचार कहा जाता है। सौंदर्य एवं कला के क्षेत्र में भी औचित्य का विशेष महत्त्व है।
- **अलंकार औचित्य** से अभिप्राय यह है कि काव्य में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से मुख्य भाव की पुष्टि के लिए होना चाहिए।
- काव्य के सभी सिद्धांत अपने स्थान पर भले ही उपस्थित हों, परंतु यदि उनमें औचित्य का निर्वाह नहीं किया गया है तो ऐसा काव्य अनेक दोषों से युक्त हो जाएगा और उसकी प्रभावोत्पादकता समाप्त हो जाएगी।
- अलंकार योजना, रस योजना, वाक्य विन्यास, पद रचना, प्रबंधत्व आदि सभी में औचित्य का भाव आवश्यक है।
- रस से पृथक् औचित्य का अस्तित्व नहीं है।

17.4 शब्दकोश (Keywords)

- विन्यास : जमाकर रखना, सजाना-संवारना
- निरूपण : विवेचना करना, अच्छी तरह समझाना

17.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. औचित्य से क्या अभिप्राय है?

नोट

2. औचित्य सम्प्रदाय पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।
3. औचित्य के भेद बताइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self-Assessment)

1. आचार्य क्षेमेन्द्र	2. उपयुक्त सामंजस्य	3. आनंदवर्धन	4. (स)
5. (ब)	6. (स)।		

17.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. रस सिद्धांत – *डॉ. नगेन्द्र।*

इकाई–18 : हिंदी समीक्षा की पृष्ठभूमि

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
18.1 भारतेंदुयुगीन समालोचना
18.2 द्विवेदीयुगीन आलोचना
18.3 शुक्लयुगीन आलोचना
18.4 शुक्लोत्तरयुगीन आलोचना
18.5 सारांश (Summary)
18.6 शब्दकोश (Keywords)
18.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
18.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- भारतेंदुयुगीन समालोचना जानने हेतु।
- द्विवेदीयुगीन आलोचना करने हेतु।
- शुक्लयुगीन आलोचना समझने हेतु।
- शुक्लोत्तरयुगीन आलोचना जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

किसी रचना की संयक् परीक्षा करते हुए उसके गुण-दोषों का उद्घाटन करना 'समालोचना' कहा जाता है। संस्कृत में सैद्धांतिक आलोचना की विकसित परंपरा 'काव्यशास्त्र' के रूप में विद्यमान भी, कालांतर में रीतिकालीन लक्षण ग्रंथकारों ने उसी पद्धति पर लक्षण ग्रंथों की रचना की। कवियों की तुलनात्मक श्रेणियाँ निर्धारित करने की जो प्रवृत्ति तत्कालीन ग्रंथों में उपलब्ध होती है और जिसके आधार पर **'सूर-सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास'** जैसी उक्तियाँ कही गई हैं, वे भी आलोचना पद्धति के प्रारंभिक बीज को लिए हुए हैं। रीतिकाल में समीक्षा का अधिक प्रौढ़ रूप दिखाई नहीं देता, क्योंकि उस समय तक गद्य का पूर्ण विकास न हो सका था।

हिंदी आलोचना के विकास को चार कालखंडों में विभक्त किया जा सकता है–

1. भारतेंदुयुगीन आलोचना।
2. द्विवेदीयुगीन आलोचना।

नोट

3. शुक्लयुगीन आलोचना।
4. शुक्लोत्तरयुगीन आलोचना।

यहाँ इन युगों के प्रमुख आलोचकों एवं उनकी विशेषताओं का विवरण प्रस्तुत हैं–

18.1 भारतेंदुयुगीन समालोचना

भारतेंदु युग में जिस प्रकार गद्य की अन्य विधाओं का श्रीगणेश हुआ, उसी प्रकार 'हिंदी समीक्षा' का प्रारंभ भी इसी काल में हुआ। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने हिंदी समालोचना का द्वार खोल दिया। **'हिंदी में** अपेक्षाकृत गंभीर आलोचनाएँ प्रकाशित होती थीं। भारतेंदु जी ने जिस प्रकार अन्य गद्य विधाओं के विकास में योगदान किया, उसी प्रकार समालोचना के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। उन्होंने **'नाटक'** नामक एक ग्रंथ भरत के 'नाट्यशास्त्र' के अनुकरण पर लिखा। यह सैद्धांतिक आलोचना का एक प्रौढ़ ग्रंथ है, जिसकी प्रशंसा करते हुए डॉ० गणपति चंद्र गुप्त ने लिखा है–**"यह ग्रंथ एक अत्यंत प्रौढ़ रचना है जिसमें प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र एवं आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा साहित्य का समन्वय करते हुए तत्कालीन हिंदी के नाटककारों के लिए सामान्य नियम निर्धारित किए गए हैं।"** इस ग्रंथ की रचना सन् 1883 ई. में हुई। इस काल में आलोचना के तीन रूप मिलते हैं–1. सैद्धांतिक आलोचना, 2. टीका अथवा भाष्य, 3. इतिहास ग्रंथों में लिखे हुए कवि परिचय। सैद्धांतिक आलोचना में भारतेंदु कृत 'नाटक' के अतिरिक्त जगन्नाथ प्रसाद कृत **'छंद प्रभाकर'** मुरारिदान कविराजकृत **'जसवंत जसो भूषण'** और प्रतापनारायण सिंह कृत **'रस कुसुमाकर'** आदि ग्रंथ भी सैद्धांतिक आलोचना के ग्रंथ हैं। टीका पद्धति के अंतर्गत लिख गए आलोचना ग्रंथों में बिहारी सतसई पर लल्लूलाल कृत **'लाल चंद्रिका'** का संशोधित रूप ग्रियर्सन ने 1896 ई. में प्रकाशित करवाया। कवियों के जीवन परिचय एवं उनके कृतित्व की समीक्षा उस काल में लिखे गए शिव सिंह सेंगर कृत **'शिवसिंह सरोज'** एवं ग्रियर्सन के इतिहास ग्रंथ में भी मिलती है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली पुस्तक समीक्षा में तत्कालीन अलोचना का बीज विद्यमान है। भारतेंदु काल के समालोचकों में बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के नाम लिए जा सकते हैं। 'प्रेमघन' जी ने लाला श्री निवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा अपनी पत्रिका 'आनंद कादंबिनी' में की। बालकृष्ण भट्ट ने अपने पत्र 'हिंदी प्रदीप' में 'सच्ची आलोचना' शीर्षक से संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना की, इसी प्रकार उन्होंने भारतेंदु के नाटक नीलदेवी की और श्रीनिवासदास के उपन्यास परीक्षा गुरु की भी समीक्षा लिखी। भट्ट जी की आलोचना शैली में सरसता, भावात्मकता और व्यंग्यात्मकता का पुट विद्यमान है।

> *नोट्स* 'प्रेमघन' जी ने लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा अपनी पत्रिका 'आनंदकादंबिनी' में की है।

18.2 द्विवेदीयुगीन आलोचना

द्विवेदी युग में आलोचना का रूप भारतेंदु युग की तुलना में अधिक निखरा है, साथ ही इस काल में आलोचना की विभिन्न पद्धतियाँ भी विकसित हुईं। एक ओर तो संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुकरण पर सैद्धांतिक आलोचना के ग्रंथ लिखे गए, यथा लाला भगवानदीन कृत **'अलंकार मंजूषा'**, जगन्नाथ प्रसाद भानु कृत **'काव्य प्रभाकर'** आदि, तो दूसरी ओर तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात पद्म सिंह शर्मा ने 'बिहारी' और 'सादी' की तुलना करके किया। इसी परंपरा में मिश्रबंधुओं ने **'हिंदी नवरत्न'**, लाला भगवान दीन ने **'बिहारी और देव'** तथा कृष्ण बिहारी मिश्र ने **'देव और बिहारी'** नायक पुस्तक तुलनात्मक आलोचना की पद्धति लिखीं। तुलनात्मक आलोचना का आधार परंपरागत शास्त्रीय विवेचना ही रही।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. 'रस कुसुमाकर' प्रतापनारायण सिंह कृत ·············· है।
2. हिंदी समालोचना को चरम उत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय ·············· को है।

परिचयात्मक आलोचना के अंतर्गत विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षाओं का प्रकाशन इस काल में अधिक विकसित हुआ। सरस्वती में प्रकाशित अधिकांश परिचयात्मक अलोचनाएँ महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखी गईं। ऐसी आलोचनाओं में पुस्तक का संक्षिप्त परिचय, उसकी विषय-वस्तु की निंदा या प्रशंसा तथा लेखकीय दृष्टिकोण का उद्घाटन किया जाता था। द्विवेदी जी के अनुसार समालोचक का कर्तव्य है कि वह इस बात पर विचार करे कि **"किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को भी लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय है।"** द्विवेदी जी ने एक ओर भाषा संस्कार के द्वारा लोगों का शुद्ध हिंदी लेखन की ओर अग्रसर किया तो दूसरी ओर कवियों और लेखको को उनके कर्तव्य का बोध भी कराया। आलोचना क्षेत्र में उनका महत्त्व निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। उन्होंने नवीन एवं प्राचीन का समन्वय किया तथा आगे के आलोचकों को दिशा निर्देश दिए। उनकी शैली सरल, व्यावहारिक एवं सरस है जिसमें व्यंग्यात्मक पुट भी देखा जा सकता है।

इस काल में पाश्चात्य समीक्षकों की आलोचनात्मक कृतियों का अनुवाद भी हिंदी में किया गया। पोप के **'ऐम्से आन क्रिटिसिज्म'** का हिंदी अनुवाद बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर ने **'समालोचनादर्श'** नाम से किया। इसी परंपरा में आगे चलकर शुक्ल जी ने **'ऐम्से आन इमेजिनेशन'** का अनुवाद **'कल्पना का आनंद'** नाम से किया। द्विवेदी जी के कुछ निबंधों में भी पाश्चात्य समालोचकों के विचारों की झलक विद्यमान है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के परिचित होने के बाद भारतीय (हिंदी) आलोचना का स्वरूप बदला है। संस्कृत पद्धति में जहाँ केवल शास्त्रीय आलोचना होती थी, वहाँ अब आलोचना के नए मानदंड निर्धारित किए गए और कृति के सामान्य गुण-दोषों की विवेचना के अतिरिक्त कृति की मूल प्रवृत्तियों एवं शाश्वत तत्त्वों का विवेचन भी किया जाने लगा।

हिंदी आलोचना को विकसित करने में **'काशी नागरी प्रचारिणी सभा'** का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। बाबू श्यामसुंदरदास ने इस संस्था के माध्यम से हिंदी के आलोचना साहित्य की पर्याप्त श्री वृद्धि की है। उन्होंने **'हिंदी भाषा और साहित्य', 'साहित्यालोचन', 'भाषा-रहस्य'** जैसी कृतियों की रचना करके हिंदी का महान उपकार किया। साहित्यालोचन में भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र को समंवित करने का स्तुल्य प्रयास किया गया है।

क्या आप जानते हैं पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्ल परंपरा के आलोचक हैं।

18.3 शुक्लयुगीन आलोचना

हिंदी समालोचना को चरम उत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय आलोचक सम्राट आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। उनसे पूर्व जिस तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात हुआ था, उसमें न तो कोई आदर्श था और न कोई सिद्धांत। आलोचक अपने व्यक्तिगत पूर्वाग्रह के कारण किसी भी कवि को श्रेष्ठ या हीन सिद्ध करने का प्रयास करते थे। निश्चित रूप से तुलनात्मक आलोचना के स्वस्थ प्रतिमानों का निर्णय तब तक नहीं हो सका था। शुक्ल जी ने आलोचना के नवीन मानदंडों की स्थापना की और समीक्षा पद्धति का सुनिश्चित पथ निर्मित किया। वे युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किसी कृति की समीक्षा करने पर बल देते हैं। निश्चित रूप से हिंदी आलोचना में शुक्ल जी का अवदान

नोट

महत्त्वपूर्ण है। शुक्लजी ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन किया था, इनका समन्वय करके नवीन पद्धति का विकास करने में उन्हें महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई। शुक्ल जी की आलोचना पद्धति विश्लेषणात्मक थी परिणामत: वे रचना के गुण-दोष कथन तक ही सीमित न रहकर रचनाकारों की विशेषताओं और उनकी अंत: प्रवृत्ति की छानबीन भी करते थे। हिंदी के अन्य अनेक आलोचकों पर जहाँ एकांगी दृष्टि रखने का आरोप लगाया जा सकता है, वहीं शुक्ल जी इस आरोप से बरी हैं। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि कुछ मूल्यों पर आधारित है यथा **लोक मंगल की साधना, रस सिद्धांत, विरोधों का सामजंस्य** आदि शुक्ल जी ने एक ओर तो **'चिंतामणि'** के सैद्धांतिक समीक्षा संबंधी निबंधों में अपने सिद्धांतों का स्पष्टीकरण किया दूसरी ओर उन सिद्धांतों के व्यावहारिक उदाहरण देकर अपने सिद्धांतों को पुष्ट किया। हिंदी साहित्य के इतिहास में उन्होंने कवियों और लेखकों के साहित्य के विषय में जो आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किए हैं वे इस इतिहास ग्रंथ का सर्वाधिक सशक्त पक्ष है। **'रस मीमांसा'** में उन्होंने रस के शास्त्रीय पक्ष का विवेचन मौलिक ढंग से किया। **'जायसी ग्रंथावली', 'भ्रमरगीत सार', 'गोस्वामी तुलसीदास'** में शुक्ल जी ने भक्तिकाल के इन तीन प्रमुख कवियों की काव्यगत विशेषताओं का मौलिक विवेचन एवं विश्लेषण किया। कुछ लोगों ने शुक्ल जी पर यह आरोप भी लगाया है कि वे तुलसी को पैमाना बनाकर अन्य कवियों को नापते हैं, इसी कारण कबीर के प्रति वे न्याय नहीं कर सके हैं। वे प्रबंध काव्य को अधिक श्रेष्ठ मानते थे, इसीलिए मुक्तकों के प्रति भी वे उतने आकृष्ट नहीं हुए। यही नहीं अपितु हिंदी काव्य की श्रेष्ठतम 'छायावाद' की अंतरात्मा को न समझ पाने का आरोप भी उन पर लगाया गया है। इस संबंध में यही कहना पर्याप्त है कि शुक्ल जी नैतिकतावादी, लोकमंगलवादी, आदर्शवादी सिद्धांतों के पोषक थे अत: उनकी आलोचनाएँ अपने सिद्धांत के अनुरूप हैं, किंतु उन पर संकीर्णता का आरोप लगाना नितांत असंगत है।

शुक्ल जी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय पं. कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चंद्रावली पांडेय और, रमाशंकर शुक्ल जैसे कतिपय आलोचकों को दिया जा सकता है। पं. कृष्णशंकर शुक्ल ने **'केशव की काव्य कला'** और **'कविवर रत्नाकर'** नामक कृतियों में केशव और रत्नाकर इन दो प्रमुख कवियों पर समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बिहारी, घनांनद को अपने अध्ययन का आधार बनाया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

3. पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी आलोचक हैं–

   (अ) परंपरा के (ब) साहित्य के

   (स) कविता के (द) संसार के

4. डॉ. नगेंद्र आलोचक माने जाते हैं–

   (अ) साहित्य के (ब) रसवादी

   (स) काव्य के (द) इनमें से कोई नहीं।

18.4 शुक्लोत्तरयुगीन आलोचना

हिंदी समीक्षकों में शुक्ल जी के बाद जिस आलोचक का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। वे हैं आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी। उन्होंने **छायावादी काव्य** की विस्तृत समीक्षा करते हुए इस काव्य धारा को प्रतिष्ठित कराने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनके द्वारा रचित कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं–**'आधुनिक साहित्य', नया साहित्य नए प्रश्न', 'कवि निराला', 'प्रकीर्णिका'** तथा **'राष्ट्रीय साहित्य'** आदि। वे काव्य में सौंदर्य विधायक तत्वों के उद्घाटन पर विशेष बल देते हैं। कथा साहित्य और नाटक की आलोचना वे इनके प्रभावकारी पक्ष को ध्यान में रखकर करते हैं।

प्रसाद जी के नाटकों को वे स्वच्छंदतावादी तथा लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटकों को पुनरुत्थानवादी कहना उपयुक्त मानते हैं। वे मूलत: छायावादी एवं स्वछंदतावादी समीक्षक के रूप में हिंदी समीक्षा में प्रतिष्ठित हुए हैं।

पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्ल परंपरा के आलोचक हैं, किंतु शुक्ल जी की कई मान्यताओं से सहमत नहीं हैं। वे कबीर को एक उच्चकोटि का कवि और समाज सुधारक मानते हैं। कबीर की भाषा की शक्ति पर भी उन्होंने ही पहली बार विचार किया है। **'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'नाथ संप्रदाय', 'हिंदी साहित्य', सूर साहित्य', 'कबीर'** आदि कृतियाँ उनके गंभीर, चिंतन, मौलिक विवेचन को उजागर करती हैं। उनका दृष्टिकोण मानवतावादी अधिक है। मध्यकालीन धर्म साधना और तद्‌युगीन साहित्य का विश्लेषण करने में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

टास्क शुक्लयुगीन आलोचना पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

डॉ० नगेंद्र ने व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया है। वे 'रसवादी' आलोचक माने जाते हैं। उनका ग्रंथ **'रस सिद्धांत'** रस के सांगोपांग विवेचन की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। **'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, 'सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत : एक अध्ययन', 'रीति काव्य की भूमिका', 'आधुनिक हिंदी नाटक', 'विचार और अनुभूति', 'आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ'** आदि उनके प्रमुख ग्रंथ हैं। डॉ० नगेंद्र ने अपनी कृतियों में कवि की सौंदर्यानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति सामर्थ्य का सुंदर विश्लेषण किया है। रसवाद को वे व्यापक आयामों की ओर ले गए हैं, किंतु वे परिष्कृत आनंदानुभूति को ही काव्य लक्ष्य मानते हैं।

बाबू गुलाबराय ने सैद्धांतिक एवं व्याख्यात्मक आलोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सैद्धांतिक आलोचना के जिनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं–**'सिद्धांत और अध्ययन', काव्य के रूप।** समीक्षात्मक निबंधों का संकलन उन्होंने 'अध्ययन और आस्वाद' नामक रचना में किया है।

मार्क्सवादी आलोचना के क्षेत्र में भी हिंदी के कई आलोचकों का नाम लिया जाता है। डॉ० रामविलास शर्मा इनमें शीर्षस्थ हैं। **'प्रगति और परंपरा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', 'आस्था और सौंदर्य', आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी नव हिंदी नवजागरण'** आदि उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त वे **'निराला की साहित्य साधना'** के द्वारा निराला जी को प्रतिष्ठित करने में भी सफल रहे हैं। **'भाषा और समाज'** उनके भाषा वैज्ञानिक रूप को उजागर करने वाली महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। **'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना'** उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। मार्क्सवादी दृष्टि होने से उनकी आलोचना दृष्टि निश्चित रूप से सीमित हो गई है। इस वर्ग के अन्य आलोचक हैं–शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चंद्र गुप्त, नामवर सिंह, अमृतराय आदि। शिवदान सिंह चौहान की समीक्षा कृतियों में **'प्रगतिवाद', 'साहित्य की परख', 'आलोचना के मान', 'साहित्य की समस्याएँ'** और **'साहित्यानुशील'** का नाम लिया जा सकता है। प्रकाश चंद्र गुप्त की प्रमुख रचनाएँ हैं–**'हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा'** आदि। डॉ० नामवर सिंह की **इतिहास और आलोचना', 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, दूसरी परंपरा की खोज',** आदि कृतियाँ प्रकाश में आई हैं।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के क्षेत्र में अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी एवं देवराज उपाध्याय का नाम लिया जा सकता है। जोशी जी ने **'विश्लेषण', विवेचना', 'साहित्य चिंतन', 'साहित्य संतरण'** में संकलित निबंधों में मनोविश्लेषण के सिद्धांतों को स्पष्ट किया है। अज्ञेय के **'त्रिशंकु'** पर फ्रायड, एडलर युग के सिद्धांतों की छाप है।

18.5 सारांश (Summary)

- हिंदी की आधुनिक समीक्षा विविध आयामों को लेकर विकसित हो रही है। शैली विज्ञान पर भी इधर कई

नोट

पुस्तकें प्रकाश में आई हैं। डॉ० विद्यानिवास मिश्र की **'रीति विज्ञान'**, भोलानाथ तिवारी की **'शैली विज्ञान'**, रवींद्र नाथ श्रीवास्तव कृत **'शैली विज्ञान'** और **'आलोचना की नई भूमिका'** इस विषय की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। विभिन्न विषयों पर होने वाले शोधकार्यो ने भी हिंदी समीक्षा की श्री वृद्धि की है। आजकल अनेक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं जो आलोचना को समृद्ध कर रही हैं यथा–**'आलोचना'**, **'समीक्षा'**, **प्रतीक'**, **'वार्षिकी'**, **'माध्यम'** आदि। हिंदी की नवीन आलोचना तभी अधिक सुसंगत होगी जब हम प्राचीन एवं नवीन ज्ञान का समंवय कर सकेंगे।

18.6 शब्दकोश (Keywords)

- सैद्धांतिक : सिद्धांत के अनुसार
- विद्यमान : मौजूद, उपस्थित
- व्यावहारिक : व्यवहार के योग्य

18.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारतेंदु युग की समालोचना कीजिए।
2. द्विवेदी युग की परिचयात्मक आलोचना कीजिए।
3. 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल आलोचक सम्राट थे' पर टिप्पणी कीजिए।
4. शुक्लोत्तर युग के आलोचकों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. रचना 2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 3. (अ) 4. (ब)

18.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. आलोचना और आलोचक – *डॉ. बच्चन सिंह।*

इकाई–19 : आचार्य का सिद्धांत : अवधारणा एवं भेद

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
19.1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884–1941)
19.1.1 भक्तिकाल का विवेचन
19.1.2 शुक्ल और छायावाद
19.1.3 गद्य साहित्य का विवेचन
19.2 सारांश (Summary)
19.3 शब्दकोश (Keywords)
19.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
19.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एक आलोचक के रूप में जानने हेतु।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के दृष्टिकोण को जानने हेतु।
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रमुख आलोचकों में उपयोगिता जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचनात्मक चेतना का विकास द्विवेदी युग में ही हुआ था और कविता-कहानी की ओर भटककर अन्ततः वे आलोचना की ओर आए थे। आलोचना के लिए अपनी दृष्टि और कार्यभार उन्होंने भारतेन्दु-युग की उसी सामाजिक-नैतिक चेतना से ग्रहण किए थे जिसका विकास एक रीतिवाद विरोधी अभियान के रूप में, महावीर प्रसाद द्विवेदी में दिखाई देता है।

19.1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884–1941)

एक आलोचक के रूप में शुक्लजी की सबसे महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी भूमिका यह थी कि निजी पसंद-नापसंद वाली आलोचना को खारिज करके उन्होंने साहित्य के वस्तुवादी दृष्टिकोण का विकास किया और सामाजिक विकास की समानान्तरता में साहित्य को देखने-परखने पर बल दिया। अपने आलोचनात्मक प्रतिमानों के निर्माण और निर्धारण के लिए वे सीधे रचना के पास जाते हैं और रचना एवं सामाजिक व्यवहार के आधार पर अपने प्रतिमानों को व्यवस्थित करते दिखाई देते हैं। भारतीय इतिहास के मध्यकाल को उन्होंने विशेष रूप से अपना कर्मक्षेत्र चुना और

नोट

भक्ति-आंदोलन की पीठिका को विस्तारपूर्वक देखने-परखने की पहल की। संस्कृत में वाल्मीकि और भवभूति तथा हिंदी में गोस्वामी तुलसीदास उनके प्रिय कवि हैं। अपने मूल्यांकन के लिए जो प्रतिमान उन्होंने विकसित किए उनका प्रधान उपजीव्य इन कवियों की रचनाएँ ही रही हैं। इन्हीं को आधार बनाकर वे सामंती और दरबारी-संस्कृति के विरोध में लोक-संस्कृति की प्रतिष्ठा करते हैं।

तुलसीदास के आदर्श नायक राम के प्रति उनके युग की जनता के अदम्य आकर्षण के कारणों पर उनकी टिप्पणी है, 'जनता ने लोक की रक्षा करने वाले प्राकृतिक धर्म का मनोहर रूप देखा। उसने धर्म को दया, दाक्षिण्य, नम्रता, सुशीलता, पितृभक्ति, सत्यव्रत, उदारता, प्रजापालन, क्षमा आदि में ही नहीं देखा बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि में भी उसे देखा। अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन-दुखियों को सताने वालों का जो संहार किया जाता है, कठिन कर्त्तव्यों के पालन में जो वीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है। जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है–जिससे समाज चलता है–वह यही व्यापक धर्म है।' (गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण 1970, पृ० 20) 'लोकधर्म' की अपनी इस अवधारणा को और स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं, 'संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा वही लोकधर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म लोकधर्म नहीं। जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरने वाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उनके लिए कोई व्यवस्था न करे, वह लोकधर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है। यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे से ऊँचे ले जा सकती है जहाँ वह लोकधर्म से परे हो जाती है। पर सारा समाज इसका अधिकारी नहीं। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोकधर्म होता है...' (वही, पृ० 21)

लोकमंगल की प्रतिष्ठा वाला अपना आलोचना सिद्धांत उन्होंने मूलतः इन्हीं तुलसीदास के आधार पर निर्मित किया। सामाजिक और पारिवारिक मर्यादा की दृष्टि से भी तुलसी उनके आदर्श हैं। भले ही आगे चलकर वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थन की खातिर उन पर ब्राह्मणवादी होने का आरोप लगाया गया, रचना में वे कर्म की महत्ता पर विशेष बल देते हैं। राम और कृष्ण उन्हें इसीलिए विशेष प्रिय हैं क्योंकि जीवन के संघर्ष में ही उनके गुणों का विकास होता है। लोक रक्षा के निमित्त शुक्ल जी दमन और आतंक के सक्रिय प्रतिरोध की हिमायत बहुत स्पष्ट रूप से करते हैं। तुलसीदास के राम वस्तुतः अपने लोक कल्याणकारी रूप के कारण ही शुक्ल जी को इतने प्रिय हैं। दुष्टों के दमन में सक्रिय प्रतिरोध के अभाव में लोकमंगल की स्थापना असंभव है। 'रामायण' और 'रामचरितमानस' के राम और 'शिशुपाल वध' के कृष्ण उन्हें इसीलिए प्रिय हैं क्योंकि वे सक्रिय प्रतिरोध के द्वारा दमन और आतंक का प्रतिकार करके लोकमंगल की स्थापना में प्रवृत्त होते हैं। इसी आधार पर वे तोलस्तोय और गांधी की प्रतिरोधहीनता की तीखी आलोचना करते हैं क्योंकि उससे अंततः प्रभु-वर्ग को ही लाभ पहुँचता है। जनता की क्रांतिकारी प्रतिरोधी चेतना के दमन में वह अप्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है।

शुक्ल जी इस प्रतिरोध-चेतना को प्रेम और करुणा से जोड़कर देखते हैं। भारतीय महाकाव्यों के संदर्भ में करुणा की व्यापकता स्वतः सिद्ध है। करुणा के विरोधी भाव के रूप में वे क्रोध से उसका सामंजस्य करते हैं। व्यक्तिगत क्रोध को त्याज्य ठहराकर वे उस क्रोध का समर्थन और सराहना करते हैं जो लोकरक्षा और लोकमंगल का निमित्त है। क्षमा जहाँ श्रीहत हो जाती है वहीं क्रोध में सौंदर्य का आरंभ होता है। वाल्मीकि के क्रोध के भीतर प्राणिमात्र की सहानुभूति छिपी है। राम के क्रोध के भीतर संपूर्ण लोक के दुख का क्षोभ समाया हुआ है। इस पर अलग से कोई टिप्पणी करना जरूरी नहीं होना चाहिए कि साहित्य में लोकमंगल की प्रतिष्ठा का यह सिद्धांत जातीय संदर्भों में उसकी व्यापकता का संकेत अपने इन्हीं संदर्भों में एक क्रांतिकारी सिद्धांत था। यह भी संभव है कि सन् 1902 में 'इंडियन रिव्यू' में प्रकाशित शुक्ल जी के निबंध 'व्हाट हैज इंडिया टू डू' को देखकर मिर्जापुर के तत्कालीन जिलाधिकारी विंढम की उनके पिता को दी गई चेतावनी 'तुम्हारा लड़का रिवोल्यूशनरी हो रहा है, हाथ से निकल जायेगा, किसी तरह रोको' इसके मूल में हो।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रति प्रगतिवादी आलोचना का रवैया शुरू से ही दुविधापूर्ण रहा है। सन् 1950 के आसपास

नोट

प्रगतिवादी आलोचकों का एक पर्याप्त बड़ा वर्ग ऐसा था जो शुक्ल जी की मान्यताओं को लेकर, किसी न किसी मुद्दे पर, उनसे अपना मतभेद प्रकट करता था और उनके नकार एवं स्वीकार की यह बहस खासी दिलचस्प भी थी और तल्ख भी। शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव, नामवर सिंह आदि आलोचक किसी न किसी रूप में शुक्ल जी को भाववादी, ब्राह्मणवादी और वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक आलोचक मानते थे। उनके इस मतभेद की पृष्ठभूमि में हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'कबीर' (1942) की अनुगूँज साफ सुनी जा सकती है। इसी विवाद में हिस्सा लेते हुए 'नयापथ' में दिए गए एक वक्तव्य में यशपाल ने यहाँ तक कह दिया था कि शुक्ल जी का महत्त्व केवल छात्रों की दृष्टि से है, वैसे उनमें ऐसा कुछ नहीं है जिससे उन्हें गंभीरता से लिया जाए। इसी वक्तव्य की प्रतिक्रिया में डॉ० रामविलास शर्मा ने यशपाल को शुक्ल जी से मार्क्सवाद पढ़ने की सलाह दी थी। उनकी पुस्तक 'हिंदी आलोचना और रामचंद्र शुक्ल' (1955) वस्तुत: इसी पृष्ठभूमि में लिखी गई थी जिसमें उन्होंने शुक्ल जी के सामंत विरोधी स्वरूप और सर्वत्र सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि में साहित्य के मूल्यांकन की उनकी प्रवृत्ति को उद्घाटित किया। चूँकि डॉ० शर्मा की यह पुस्तक शुक्ल जी पर लगाए गए अनेक आरोपों-प्रत्यारोपों के निरस्तीकरण के उद्देश्य से लिखी गई थी उसमें शुक्ल जी के मूल्यांकन और विश्लेषण की जो पद्धति अपनाई गई थी वह उतनी वस्तुपरक नहीं थी जितनी कि उसे होना चाहिए। डॉ० शर्मा शुक्ल जी के अंतर्विरोधों को जानबूझकर दबाने की कोशिश करते हैं और आलोचना की विश्वसनीयता का अपना जो तर्क होता है, जब-तब वे उससे विचलित होते दिखाई देते हैं। लेकिन इन सीमाओं के बावजूद इस पुस्तक का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। इसी से डॉ० रामविलास शर्मा हिंदी में शुक्ल जी के पहले गंभीर आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इस पुस्तक का महत्त्व इस दृष्टि से भी आंका जा सकता है कि इसके बाद प्रगतिवादी आलोचकों ने शुक्ल जी के प्रति अपेक्षाकृत अधिक गंभीर और वस्तुनिष्ठ रुख अपनाया और अनेक लोगों ने उसके संबंध में अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार भी किया। नामवर सिंह द्वारा 'चिंतामणि' के तीसरे भाग का संपादन और शुक्ल-ग्रंथावली के संपादन का उनका असफल प्रयास वस्तुत: इसी पृष्ठभूमि में देखे जाने चाहिए। लेकिन यहाँ नामवर सिंह के अपने अंतर्विरोध भी छिपे नहीं रहते-एक ओर वे शुक्ल जी के स्वीकार का उत्साह दिखाते हैं तो वहीं 'दूसरी परंपरा की खोज' में, हजारी प्रसाद द्विवेदी को सामने रखकर, शुक्ल जी के अंतर्विरोधों के बहाने उनके अवमूल्यन की कोशिश भी करते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल भौतिकवादी नहीं थे। वे ईश्वर और धर्म में विश्वास रखने वाले एक आस्तिक व्यक्ति थे। रूसी साम्यवाद एवं लेनिन आदि के प्रसंग में उनकी टिप्पणियाँ पर्याप्त हतोत्साहित करने वाली हैं। उन्हें पढ़कर यह धारणा बनती है कि वे उन ऐतिहासिक शक्तियों को नहीं देख और समझ पा रहे थे जो सदियों से शोषित-उत्पीड़ित मनुष्य के लिए संघर्ष और आशा का एक नया संदेश लेकर आईं थीं। रामविलास शर्मा स्पष्ट ही इन मुद्दों पर लीपा-पोती करने की कोशिश करते हैं।

दूसरी ओर आलोचना ओर साहित्येतिहासिक के क्षेत्रों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की उपलब्धियों और योगदान को पूरी तरह नकारते हुए उनकी विश्व-दृष्टि, इतिहास-दर्शन और समूचे आलोचना-कर्म को भाववादी, प्रतिक्रांतिकारी, साम्राज्यवाद-समर्थक आदि सिद्ध करने वाली अपनी पुस्तक 'रामचंद्र शुक्ल' को नीलकांत 'नया दृष्टिकोण' कहकर प्रस्तुत करते हैं। रामचंद्र शुक्ल नीलकांत के स्कूली दिनों से ही उन्हें उबाते थे...'शुक्ल जी की रहस्य और अध्यात्म से बोझिल दृष्टि और भाषा उस समय भी ऊब पैदा करती थी जब मैं विद्यालय में पढ़ता था...'(रामचंद्र शुक्ल, भूमिका, पृ० 8) यह उन शुक्ल जी के बारे में लेखक की टिप्पणी है जिन्होंने अत्यंत दृढ़तापूर्वक कहा था कि साहित्य के क्षेत्र में 'अध्यात्म' शब्द की कोई सार्थकता नहीं है और 'रहस्य' के कारण किंचित अतिवादी हो जाने की चिंता किए बिना वे कबीर से लेकर रवीन्द्रनाथ और छायावादी काव्य तक का विरोध करते हैं। जहाँ तक शुक्ल जी की भाषा की बोझिलता का सवाल है अनेक मुद्दों पर उनसे घोर असहमति एवं मतभेद रखने वाले हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनकी भाषा टिप्पणी करते हुए उनकी स्पष्टता और मितव्ययिता की सराहना की थी और कहा था कि शुक्ल जी के साथ संकोच और दुविधा की स्थिति में नहीं रहा जा सकता—या तो आप उनसे तत्काल सहमत होंगे या असहमत। परवर्ती आलोचकों—हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी और रामविलास शर्मा—की अपेक्षा शुक्ल जी की

नोट

आलोचना का स्वरूप अधिक शास्त्रीय है। उसकी गंभीरता के कारण उसे 'बोझिल' बताना अन्ततः अपनी समझ पर ही टिप्पणी करना है।

अपनी पुस्तक के 'दो दृष्टि : (दृष्टियाँ?) दो दिशाएँ', शीर्षक अध्याय के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल की विश्व-दृष्टि, इतिहास-दर्शन, मृत सौंदर्य की उपासना, साहित्य का सौंदर्य शास्त्र आदि सब कहीं नीलकांत शुक्ल जी के अवमूल्यन का प्रयास करते हैं। उन पर लगाए जाते रहे आरोपों को तो वे बहुत अतिरंजित रूप में, बुतशिकन के-से उत्साह के साथ, दोहराते ही हैं, इस प्रक्रिया में वे प्रायः ही शुक्ल जी के उद्धरणों को संदर्भ से अलग और विकृत करके पेश करते हैं। तत्कालीन हिंदी साहित्य के परिदृश्य में नीलकांत रचना और आलोचना के क्षेत्रों में, दो परस्पर विरोधी दृष्टियों की चर्चा करते हैं जिनमें से एक का प्रतिनिधित्व प्रेमचंद कर रहे थे, और दूसरी का रामचंद्र शुक्ल। यह वस्तुतः रामविलास शर्मा की उस स्थापना के विरोधी में दिया गया वक्तव्य है जिसमें वे आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी को वही महत्त्व देने पर बल देते हैं जो उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद और काव्य के क्षेत्र में निराला का है। इस संदर्भ में शुक्ल जी को विज्ञान की अपेक्षा धर्म में मुक्ति खोजने वाला सिद्ध करने के साथ ही वे उन्हें साम्राज्यवाद का समर्थक, प्रतिक्रियावादी और ऐसा ही बहुत कुछ साबित करना चाहते हैं। उनके 'उत्साह' नामक निबंध से वे एक उद्धरण देते हैं, 'अतः हम कह सकते हैं कि कर्म भावना प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल भावना प्रधान उत्साह तो लोभ का ही प्रच्छन्न रूप है...' गीता के निष्काम कर्म की पृष्ठभूमि में स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में किए गए तात्कालीन परिणाम बहुत उत्साहवर्धक नहीं भी हो सकते हैं क्योंकि वह एक लंबी और अनिर्णीत लड़ाई होती है। इस सारे संदर्भ की उपेक्षा करके 'कर्मफल' में वेतन और मजदूरी का आरोप करके, कर्म की व्याख्या श्रम के रूप में करके, स्वामी-सेवक संबंधों में वर्गविरोध के बचाव के लिए 'निष्काम कर्मयोग की वकालत' जैसी व्याख्या ऐसे ही स्वेच्छाचारी और अनर्गल निष्कर्षों का उदाहरण है। इसी तरह 'चिंतामणि'-2 पशु-पक्षियों के प्रति उसकी मानवीय चिंता की 'मनुष्य मात्र से घृणा' के रूप में की गई व्याख्या इस मूल्यांकन का एक और प्रतिनिधि उदाहरण है।

आचार्य शुक्ल की विश्व-दृष्टि के संबंध में नीलकांत के निष्कर्ष और भी हास्यास्पद हैं। शुक्ल जी नवजागरण काल में रामानंदी सम्प्रदाय की मूल मान्यताओं को स्थापित कर रहे थे, धर्म को दार्शनिक पंथ के रूप में पेश करने की उनकी कोशिश सत्ताधारी वर्ग की विश्व-दृष्टि थी और उसी की आवश्यकता को पूरी करती थी जो 'धर्म की आड़ में उनके शोषण के अधिकार को छिपाने की कोशिश करती थी...' (वही, पृ० 41) कुल मिलाकर वे पंद्रहवीं शती की भाषा में बोल रहे थे। नीलकांत का सबसे रोचक निष्कर्ष यह है कि अपनी विश्वदृष्टि के कारण शुक्ल जी स्वयं आधुनिक मनुष्य बनने में असफल रह गए।

शुक्ल जी की 'करुणा' के मनोवैज्ञानिक आधार पर विकृत करके नीलकांत 'हमारी अर्थात् विशिष्ट व्यक्तियों के परिमण्डल की करुणा' (वही पृ० 66) में बदल देते हैं जिसमें अवतारी पुरुष समेत उसके नियुक्त किए हुए सूरमा, सामन्त, महात्मा, आचार्य, सेठ-महाजन और आलोचक भी शामिल हैं। शुक्ल जी की 'लोकसत्ता' का अर्थ उनके यहाँ 'वर्णाश्रम व्यवस्था की आदर्श प्रतिलिपि के सिवा और कुछ नहीं है जिसका अधिपति मुकुटधारी राजा होता है...' (वही, पृ० 102) इस तरह नीलकांत शुक्ल जी के सारे आलोचना-विवेक की उपेक्षा करके एकांगी और मनमाने निष्कर्ष निकालते हैं। तुलसीदास के राम जन संपर्क और जन सहयोग से सामंती और विस्तारवादी मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।

नोट्स लोकमंगल की प्रतिष्ठा के माध्यम से शुक्ल जी साहित्य में कलावाद के विरुद्ध एक लंबी और निर्णायक लड़ाई लड़ते हैं, काव्य में प्रकृति और जनजीवन के चित्रण को अनिवार्य बताकर वे जिन मूल्यों की हिमायत करते हैं, जिनके आधार पर वे रीतिकाल के बहुत बड़े भाग को खारिज कर देते हैं। और जायसी जैसे विजातीय कवि को प्रतिष्ठित करते हैं—इन सारी बातों की उपेक्षा के कारण ही नीलकांत का यह प्रयास आचार्य शुक्ल के उच्छेदवाद की व्यर्थता का एक करुणा साक्ष्य बनकर रह गया है।

नोट

अपनी अपूर्ण और अधूरी पुस्तक 'रामचंद्र शुक्ल' में मलयज एक 'विवेक-पुरुष' कहकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मूल्यांकन करते हैं। यहाँ 'पृष्ठभूमि' में वे शुक्ल जी को अपने युग-संदर्भों की उपज बताते हुए भी उसके उस मौलिक विवेक की ओर संकेत करते हैं जो अंततः उन्हें एक इतिहास-पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करता है। उनकी क्रांतिकारी ऐतिहासिक भूमिका पर टिप्पणी करते हुए मलयज लिखते हैं, 'आज यह खुले मन से कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल से पहले साहित्य को 'शास्त्र' करके दिखाने वाली आँखें ही थीं, साहित्य को 'मर्म' कहकर बताने वाली आँखें नहीं। शुक्ल जी की दृष्टि पुराने और नए तथ्य और भाव, शास्त्र और मर्म के बीच सिर्फ समन्वय या तालमेल की दृष्टि न थी, बल्कि अपने विवेक की तुला पर तौलकर साहित्य और जीवन का एक ऐसा रसायन तैयार करने की थी जो मनुष्य के अर्थ को उसकी तात्कालिकता में भी और उसकी चिरंतनता में भी दूर तक प्रकाशित कर दे। साहित्य में अभिव्यक्त जीवन के अर्थ की सिर्फ व्याख्या नहीं उसके मूल उत्सों की खोज और पड़ताल उस विवेक की कसौटी है, जिसे संभव बनाकर आचार्य शुक्ल ने हिंदी में पहली बार वास्तविक आलोचना-कर्म को संभव बनाया...' (रामचंद्र शुक्ल, पृ० 23) शुक्ल जी के पूर्ववर्ती आलोचकों से उनके कार्य में अंतर की ओर संकेत करते हुए मलयज आगे लिखते हैं, 'शुक्ल जी की पूर्ववर्ती समीक्षा इसी 'विषय' पर केन्द्रित समीक्षा थी जिसमें तथ्य के आवरण में लिपटी परंपरा थी, विचार की ओर खुलती सर्जनात्मकता नहीं...' (वही, पृ० 26) शुक्ल जी की रचना में अंत:साक्ष्य पर उनके जीवन और उस पर पड़ने वाले प्रभावों एवं संस्कारों की मूर्त्ति मलयज ने कुछ उसी प्रकार गढ़ी और उकेरी है जिसके लिए उन्होंने, एक आलोचक के रूप में, शुक्ल जी की प्रशंसा की है। संस्कार निर्माण करने वाली इस 'लय', की बनावट पर टिप्पणी करते हुए मलयज लिखते हैं, 'यह लय बनी थी परंपरा से, वर्ण-व्यवस्था से, अटूट श्रद्धा से, कष्ट-सहिष्णुता से, पर-दुख कातरता और धैर्य से। यांत्रिकता की छाँह तक न थी खेती अभी भी उत्तम मानी जाती थी और सम्मिलित परिवार अभी भी समाज-रचना की रीढ़ थे। जाति व्यवस्था मजबूत थी, प्रकृत्ति प्रेम इस प्रकार के जीवन का संस्कार था...' (वही, पृ० 37) एक आलोचना के रूप में शुक्ल जी की मुख्य चिंता असाधारण और विशिष्ट के विरुद्ध सहज और सामान्य की प्रतिष्ठा है। मलयज उनकी इस चिंता को 'मिथ में बदलता आदमी' शीर्षक निबंध में बहुत सर्जनात्मक ढंग से रेखांकित करते हैं। वे हिंदी में कथित रूप से जनवादी लेखकों की इसलिए भर्त्सना भी करते हैं जिन्होंने शुक्ल जी के इस पक्ष की ओर उपेक्षा दिखाई है।

मलयज कहीं भी अलग से शुक्ल जी की प्रासंगिकता की चर्चा नहीं करते। लेकिन जगह-जगह वे इस सवाल से टकराते दिखाई देते हैं कि यदि आज शुक्ल जी होते तो हमारे अपने समय की कविता के प्रति उनका क्या रुख होता? मलयज का अनुमान है कि आज की जनोन्मुख और पक्षधर कविता की शायद वे वैसी ही आलोचना करते जैसी उन्होंने कबीर की कविता की क्योंकि वे कविता में अनुभूति पक्ष पर बल देने के साथ ही उसमें वास्तविक जीवन के चित्रों को महत्त्व देने वाले आलोचक थे। शुक्ल जी चूँकि जीवन की समग्रता पर बल देने वाले आलोचक थे इसलिए प्रबंध और मुक्तक दो भिन्न काव्य प्रकार उनके लिए दो भिन्न जीवन-मूल्य जैसे थे। मुक्तक की तुलना में प्रबंध की उनकी पसंद चमत्कार और ऊहात्मकता से बचकर जीवन के प्रति उनकी आस्था को ही व्यक्त करती है। शुक्ल जी के कुछ बीज-शब्दों की ओर संकेत करके मलयज उनके आलोचनात्मक सरोकारों की तह तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। प्रकृत, सामाजिक असली, गृहस्थ, भद्दा, बेधड़क, ठीक-ठाक आदि शब्दों का प्रयोग करके वे कुछ जीवन-मूल्यों के विरोध में एक भिन्न मूल्य-दृष्टि की प्रतिष्ठा पर बल देते हैं और काव्य के मूल्यांकन के लिए यहीं से अपने प्रतिमान भी उठाते और गढ़ते हैं।

रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि की कुछ सीमाएँ आज की आलोचना में कैसे सक्रिय हैं मलयज ने इसकी ओर भी संकेत किया है। छायावाद-रहस्यवाद को शुक्ल जी ने ठेठ किसान की नहीं, सामान्य आदमी की दृष्टि से देखा था। इस प्रसंग में मलयज ने नाम भले ही न लिया हो, उनका संकेत स्पष्ट ही रामविलास शर्मा की ओर है जो शुक्ल जी की इस छायावाद विरोधी दृष्टि से ही आधुनिकता और नई कविता का मूल्यांकन करते हैं।... मलयज की इस अधूरी पुस्तक का रामचंद्र शुक्ल के मूल्यांकन में एक विशेष महत्त्व है। वे न तो नीलकांत की तरह शुक्ल जी के प्रति उच्छेदवादी दृष्टि अपनाते हैं और न ही डॉ० नगेन्द्र और रामचंद्र तिवारी की तरह रामचंद्र शुक्ल को शास्त्रीय और अकादेमिक आलोचक के रूप में वरीयता देकर जीवन से आलोचना के सर्जनात्मक रिश्ते का अवमूल्यन करते

नोट

हैं। वे शुक्ल जी जैसे एक बड़े आलोचक को आत्मसात् करने की प्रक्रिया में अपनी विनम्र असहमतियों के प्रति भी खुलेपन से काम लेते हैं और अत्यंत व्यापक रचनात्मक परिदृश्य में चीजों को देखने-समझने पर बल देते हैं।

क्या आप जानते हैं आचार्य रामचंद्र द्वारा लिखित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' सन् 1929 में प्रकाशित हुआ, जो वस्तुत: हिंदी शब्द-सागर की भूमिका के रूप में लिखा गया था।

फिर उसका दूसरा परिवर्धित और संशोधित संस्करण सन् 1940 में आया। हिंदी साहित्य के सभी कालों प्रवृत्तियों के रचनात्मक विकास और लेखकों पर यहाँ उनकी टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं। उनके निबंधों के संग्रह 'चिंतामणि' का प्रथम भाग भी उनके जीवनकाल में, सन् 1939 में, प्रकाशित हो गया था। इसके निबंधों को उन्होंने स्वयं 'विचारात्मक निबंध' कहा है और मनोवैज्ञानिक निबंधों के अतिरिक्त 'कविता क्या है?' शीर्षक उनके प्रसिद्ध निबंध के अतिरिक्त कुछ और निबंध भी इस संग्रह में हैं। इन निबंधों में 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' के अतिरिक्त 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक-बोध के विविध रूप' आदि शामिल हैं। 'चिंतामणि' का दूसरा भाग उनके निधन के बाद सन 1945 में उनकी अन्य मरणोपरांत प्रकाशित पुस्तकों की तरह ही विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के संपादन में प्रकाशित हुआ। उसमें उनके तीन लंबे निबंध 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शामिल हैं। 'चिंतामणि' का तीसरा भाग, उनकी शताब्दी संबंधी आयोजन से कुछ पूर्व सन् '83 में डॉ० नामवर सिंह के संपादन में प्रकाशित हुआ। व्यवस्थित रूप से उन्होंने केवल तीन कवियों पर लिखा-गोस्वामी तुलसीदास, जायसी और सूरदास, इनमें से 'गोस्वामी तुलसीदास' और 'जायसी ग्रंथावली' में जायसी पर लिखी गई लगभग तीन सौ पृष्ठों की उनकी भूमिका ही उनके जीवन काल में प्रकाशित हुई। सूरदास के 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका उन्होंने लिखी थी जो उनके जीवनकाल में ही छपी। 'सूरदास' नामक उनकी पुस्तक अपने अपूर्ण रूप में सूरदास संबंधी उनके निबंधों और टिप्पणियों के संकलन की शक्ल में सन् 1943 में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के ही संपादन में प्रकाशित हुई। शुक्ल जी कविता के आलोचक हैं लेकिन गद्य के विकास, प्रवृत्तियों और लेखकों पर भी उनकी टिप्पणियाँ बहुत सटीक और सारगर्भित हैं। हिंदी कथा-साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में भी उनकी कुछ सूक्ष्म अंतर्दृष्टि संपन्न टिप्पणियाँ उल्लेखनीय हैं।

अपने प्रसिद्ध निबंध 'कविता क्या है?' में कविता को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं, 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।...' (चिंतामणि 1, संस्करण 71, पृ० 113) कविता मनुष्य के हृदय को संकुचित और स्वार्थपूर्ण आग्रहों से मुक्त करती है जहाँ उसकी अपनी सत्ता लोक-सत्ता में विलीन हो जाती है। काव्य में अर्थग्रहण से आगे जाकर वे बिंबग्रहण की आवश्यकता पर बल देते हैं। कविता बाह्य प्रकृति और मनुष्य की अंत:-प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित करती है।

अपने काव्य सिद्धांतों का निर्माण आचार्य शुक्ल इसी लौकिक और वास्तविक जगत को आधार बनाकर करते हैं। अध्यात्म और रहस्य को वे पूरी तरह कविता से निष्कासित तो नहीं करते लेकिन उसे कविता का सामान्य रूप समझने से इंकार करते हैं। रहस्यवादी काव्य को वे दो श्रेणियों में बांटते हैं—सच्ची रहस्य-भावना वाला काव्य और वाद-ग्रस्त आडम्बरपूर्ण रहस्यवादी काव्य। मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र के भीतर, गोचर अभिव्यक्त को लेकर चलने वाली कविता ही उनकी दृष्टि में, सच्ची रहस्यभावना से पूर्ण कविता है। ऐसी कविता 'चेतना के कोने से बाहर' न झांकने जाती है, न जा सकती है। आयरिश कवि येट्स की, उन्हें रवींद्र नाथ का मित्र बताकर वे विलियम ब्लेक की 'साम्प्रदायिक और सिद्धांती रहस्यवाद' वाली कविताओं की प्रशंसा के लिए आलोचना करते हैं। इस नाते चाहे कबीर हों या ब्लेक और रवीन्द्रनाथ, वे सबकी तीखी आलोचना करते हैं। रहस्यवाद की सहज और गोचर अभिव्यक्ति के कारण ही वे जायसी की प्रशंसा करते हैं। इसी तरह वे कविता में चमत्कारवाद के विरोधी हैं और कविता की अंतर्वस्तु एवं

अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर सहजता एवं संप्रेषणीयता के पक्षपाती हैं। जैसा कि मलयज द्वारा उनके मूल्यांकन के संदर्भ में कहा जा चुका है–साधारण मनुष्य की चिंता उनके काव्य प्रतिमानों के निर्धारण का मूलाधार है। उनके मसय तक भावुकता का आज जैसा अवमूल्यन नहीं हुआ था और सामान्यत: कवि के भावुक होने का अर्थ उसकी अनुभूतिशीलता से जोड़ा जाता था। इससे काव्य में भावसाधना के साथ ही मार्मिक स्थलों की पहचान में कवि को सहायता मिलती थी। इसी भावुकता को वे कविता के मूल गुण के रूप में रेखांकित करते हैं इसी से अनुभूति की तीव्रता संभव होती है। इसी आधार पर वे तुलसी, जायसी और सूरदास के साथ ही हिंदी की समूची काव्य-परंपरा का आदिकाल से लेकर छायावाद तक मूल्यांकन करते हैं।

वे तुलसीदास की प्रशंसा एक ओर यदि उनके 'लोकधर्म' और 'मंगलाशा' के लिए करते हैं तो दूसरी ओर उनकी इसी भावुकता के लिए जिसके कारण वे 'रामचरितमानस' में मार्मिक स्थलों की अचूक पहचान कर सके हैं। एक सुंदर राजकुमार के, छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन-वन भटकने वाले प्रसंग को इसीलिए वे 'मानस' के अतिरिक्त 'कवितावली' और 'गीतावली' में भी दोहराते हैं। सीता और राम के माध्यम से तुलसी द्वारा दाम्पत्य-प्रेम के विभिन्न रूपों के अंकन में मर्यादा और शील के प्रसेग में उनकी टिप्पणी है, 'दाम्पत्य प्रेम का दृश्य भी गोस्वामी जी ने बहुत ही सुन्दर दिया है, पर बड़ी ही मर्यादा के साथ। नायिका भेद वाले कवियों का सा या कृष्ण की रासलीला के रसिकों का सा लोकमर्यादा का उल्लंघन उसमें कहीं नहीं है। सीता राम के परम पुनीत प्रणय की जो प्रतिष्ठा उन्होंने मिथिला में की, उसकी परिपक्वता जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के बीच पति-पत्नी के संबंध की उच्चता और रमणीयता संघटित करती दिखाई देती है...' (गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण 1970, पृ० 79) दुख की परिस्थिति में छोटे-छोटे सामान्य सुखों की कल्पना के भीतर जीवनयात्रा में श्रांत पथिक को जैसे सुखद छाया की अनुभूति होती है।–'यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नहीं करता उसमें बिखरे हुए काँटों पर फूल बिछाता है..' (वही)।

तुलसीदास के मूल्यांकन में यदि एक ओर वे उनकी भक्तिपद्धति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं वहीं वे शीलसाधना और ज्ञान से उसके अंतर्सम्बंधों की व्याख्या भी करते हैं। स्थान-स्थान पर उन्होंने तत्त्वज्ञान का सन्निवेश भले ही किया हो, परंतु अपने लिए उन्होंने कोई सिद्धांत स्थिर करने का प्रयत्न नहीं किया है। भक्ति मार्ग का अनुगामी होने के कारण तर्क-वितर्क उन्हें अरुचिकर व्यसन जैसा लगता है। अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी इसी बात पर बल देते हैं कि तुलसीदास भक्ति मार्गी थे, अत: उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ढूँढ़ना ही अधिक फलदायी होगा, ज्ञानमार्ग के सिद्धांतों को वहाँ ढूँढ़ने से कोई लाभ नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदास की 'सर्वांगपूर्ण काव्य कुशलता' पर टिप्पणी करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'उनकी साहित्य मर्मज्ञता, भावुकता और गंभीरता के संबंध में इतना और जान लेना भी आवश्यक है कि उन्होंने रचना नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन कहीं नहीं किया है और न शब्द चमत्कार आदि के खेलवाड़ों में वे फँसे हैं। अलंकारों की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक ढंग से की है कि वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाए जाते हैं, अपनी अलग चमक-दमक दिखाते हुए नहीं। कहीं-कहीं लंबे-लंबे सांगरूपक बाँधने में अवश्य उन्होंने एक भद्दी परंपरा का अनुसरण किया है। 'दोहावली' के कुछ दोहों के अतिरिक्त और सर्वत्र भाषा का प्रयोग, उन्होंने भावों और विचारों को स्पष्ट रूप में रखने के लिए किया है कारीगरी दिखाने के लिए नहीं। उनकी सी भाषा की सफाई और किसी कवि में नहीं...' (हिंदी साहित्य का इतिहास, संस्करण 65, पृ० 141)

तुलसीदास के मूल्यांकन के संदर्भ में आचार्य शुक्ल के बीजशब्द 'समन्वय' और 'सर्वांगपूर्णता' है। इन्हीं के आधार पर वे तुलसीदास का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। शुक्ल जी की दृष्टि में तुलसी की भक्ति पद्धति की सबसे बढ़ी विशेषता उनकी यही सर्वांगपूर्णता है। वह जीवन के किसी पक्ष को छोड़कर नहीं चलती। सब पक्षों के सामंजस्य पर ही उनका विशेष बल है। तुलसीदास की भक्ति पद्धति में यदि कर्म और धर्म का महत्त्व है तो वे इस को त्यागने के पक्ष में नहीं हैं। वे भक्ति और ज्ञान का एक सर्वस्वीकार्य रसायन तैयार करते हैं। लेकिन उनका ज्ञान भी सूखा और लंठ न होकर रस के छीटों से सिक्त है जिसमें वे एक सीमा तक योग को भी स्वीकार करके चलते हैं।

आचार्य शुक्ल तुलसी संबंधी अपने विवेचन में नाथपंथी और निर्गुण काव्य को तुलसी की ही दृष्टि से देखते हैं। वे

नोट

तुलसी संदर्भ में ही उनकी इस दृष्टि का उपयोग नहीं करते, अपने मूल्यांकन के प्रतिमान भी बहुत कुछ उसी पर आधारित करते हैं। तुलसी की तरह उन्हें भी नाथपंथियों और निर्गुण कवियों में रागात्मिका वृत्ति का अभाव दिखाई देता है। जनता अंधी भेड़ की तरह उनकी करामातों को साधुता का चिह्न मानकर भ्रमित थी। वह ईश्वरीय साधना को चंद विरले रहस्यदर्शी लोगों के खाते में डालकर अपने को उससे अलग किए थी। इन काव्य प्रवृत्तियों की सीमा का संकेत करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं, 'जो हृदय सबके पास होता है वही अपनी स्वाभाविक वृत्तियों द्वारा भगवान की ओर लगाया जा सकता है इस बात पर परदा सा डाल दिया गया था। इससे हृदय रहते भी भक्ति का सच्चा स्वाभाविक मार्ग लोग देख नहीं पाते थे।...' (वही, पृ० 136) तुलसी का महत्त्व यही है कि भारतीय जनता के हृदय से भ्रम का यह परदा उन्होंने उठा दिया और परस्पर विरोधी दृष्टियों और पद्धतियों में भी समन्वय और सामंजस्य के आधार पर एक सर्वांगपूर्ण जीवन-दृष्टि का अन्वेषण किया।

तुलसीदास के बाद शुक्ल जी के दूसरे प्रिय कवि जायसी हैं। ऐसा नहीं है कि शुक्ल जी पहले लोग जायसी से अपरिचित थे या प्रेममार्गी निर्गुण कवि के रूप में उनकी प्रतिष्ठा नहीं थी। शुक्ल जी ने 'जायसी ग्रंथावली' का संपादन किया और जायसी पर लिखी गई उसकी लंबी भूमिका में उनका महत्त्व विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया। शुक्ल जी काव्य में रहस्यवाद के सांप्रदायिक और जटिल रूप के विरोधी थे। इसी आधार पर वे विलियम ब्लेक, कबीर और रवींद्रनाथ के रहस्यवादी काव्य की आलोचना करते हैं। लेकिन रवींद्रनाथ की 'गीतांजलि' की उन कविताओं को 'रमणीय' मानकर वे अपनी स्वीकृति देते हैं जो 'लोकपक्ष' समन्वित हैं। वे कविता में गोचर और लौकिक अभिव्यक्ति के हामी थे। इन प्रेम मार्गी कवियों के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हुए वे लिखते हैं, 'कुतबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।' (वही, पृ० 101)

शुक्ल जी जायसी की अचूक पहचान का साक्ष्य देने पर भी जायसी के 'पद्मावत' को तुलसी के 'रामचरितमानस' के बाद ही स्थान देते हैं। इसका कारण यह है कि वे काव्य में जीवन की समग्रता के पक्षपाती थे। तुलसी का 'रामचरितमानस' जीवन की व्यापकता को अंकित करता है, जीवन को कोई भी पक्ष उसमें छूटा नहीं है जबकि जायसी का 'पद्मावत' एक प्रेमाख्यान के रूप में, अपनी सारी संश्लिष्टता और सघनता के बावजूद, प्रेमानुभूति को ही गहराई से चित्रित करता है। लेकिन 'पद्मावत' का सबसे महत्त्वपूर्ण उसका लोकपक्ष है जिसकी शुक्ल जी भरपूर सराहना करते हैं। भारतीय तीज-त्योहार, ऋतु-परिवर्तन, पर्व, उत्सव और हिंदू समाज के विभिन्न संस्कार-शायद ही कोई पक्ष हो जो जायसी की दृष्टि से छूटा हो। मुसलमान होने पर भी हिंदू समाज और उसकी संस्कृति का जैसा अंतरंग चित्र जायसी यहाँ अंकित करते हैं, वह अनेक हिंदू कवियों के लिए दुर्लभ है। लोकपक्ष और लोक जीवन को इतना महत्त्व देने के कारण ही जायसी नागमती और उसकी सखियों के विभिन्न क्रिया कलापों और क्रीड़ाओं को इतने जीवंत और स्वाभाविक रूप में अंकित कर सके हैं। आध्यात्मिक और साधनात्मक दृष्टि से विचार किए जाने पर नागमती ईश्वर की प्राप्ति में एक बाधा के रूप में अंकित होने पर भी एक सामान्य नारी के रूप में उसकी विरह वेदना पर शुक्ल जी मुग्ध दिखाई देते हैं। उस पर उनकी टिप्पणी है, 'जायसी के भावुक हृदय ने स्वकीया के पुनीत प्रेम के सौंदर्य को पहचाना। नागमती का वियोग हिंदी साहित्य में विप्रलंभ शृंगार का अत्यंत उत्कृष्ट निरूपण है'...(जायसी ग्रंथावली, पृ० 34) इस विरह वेदना की उत्कृष्टता का सबसे बड़ा प्रमाण शुक्ल जी यह मानते हैं कि रानी होकर भी वह अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है और एक साधारण स्त्री की तरह अपनी प्रेम की पीर को व्यक्त करती है। कुछेक स्थलों पर अपनी ऊहात्मक और चमत्कारवादी उक्तियों के बावजूद उसकी वेदना औरों को गहराई से स्पर्श करती है। विप्रलंभ शृंगार के चित्रण में, तुलसी सहित हिंदी के समस्त कवियों में वे जायसी को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

नोट

तुलसीदास और जायसी के बाद सूरदास तीसरे कवि हैं जिन पर शुक्ल जी ने स्वतंत्र रूप से लिखा है। शुक्ल जी ने सन् 1925 में 'भ्रमर गीत' की अपनी विस्तृत भूमिका में 'महाकवि सूरदास जी' शीर्षक निबंध में सूरदास पर अपनी विस्तृत आलोचना की इच्छा व्यक्त की थी। अपनी इस योजना पर बाद में उन्होंने काम भी शुरू किया था परंतु उसके समाप्त होने के पूर्व ही उनका निधन हो गया। उनकी पुस्तक 'सूरदास' उनके मरणोपरांत सन् 1943 में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के संपादन में प्रकाशित हुई। इसके पाँच वर्ष बाद पुस्तक के दूसरे संस्करण के संपादकीय वक्तव्य से यह सूचना भी मिलती है कि 'सूरदास' के प्रकाशित होने पर कुछ 'संतों' ने उसकी तीव्र आलोचना की थी। एक समीक्षक ने सबसे बड़ी आपत्ति यह उठाई थी कि शुकदेव जी की भक्ति के आवेश को 'रसदशा' कहना केवल अपने पक्ष का समर्थन करने का आग्रह ही है, वस्तुत: रहस्यादर्शों के 'दर्शन' और भक्ति की तल्लीनता में कोई अंतर नहीं है। इस आपत्ति के उत्तर में उनकी अपूर्ण 'रसमीमांसा' का हवाला देते हुए विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है, जिन्हें सूत्ररूप में रहस्यदशा और रसदशा का पार्थक्य यहीं जानना हो उन्हें जान लेना चाहिए कि पहली व्यक्तिभूमि की अनुभूति है और दूसरी लोकभूमि की। पहली परोक्ष सत्ता को परोक्ष रखकर होती है और दूसरी उसे प्रत्यक्ष करके। शुक्ल जी की उक्ति 'प्रलाप' नहीं है उसका निश्चित और बुद्धिबोधित अर्थ होता है। इतने पर भी जो शंका करे उसे क्या कहा जाए।' (सूरदास, संस्करण 69, पृ० 2)

मुक्तक की अपेक्षा प्रबंध काव्य के प्रति शुक्ल जी के आग्रह को मलयज जीवन के प्रति दो दृष्टियों के अंतर के रूप में रेखांकित करते हैं। जीवन समग्रता का आग्रह ही उन्हें प्रबंध काव्य की श्रेष्ठता संबंधी अपने निष्कर्ष की ओर ले जाता है। वीरगाथा काल और रीतिकाल में दरबारी कवियों द्वारा अपने आश्रयदाता राजाओं के प्रति कविता के दुरुपयोग का जो उदाहरण शुक्ल जी के सामने था उसे देखते हुए उनका यह आग्रह बहुत गलत भी नहीं था। वैसे मुक्तक काव्य के प्रतिनिधि 'सूरसागर' का न सिर्फ उन्होंने संपादन किया था, सूरदास को उन्होंने जयदेव और विद्यापति की परंपरा से जोड़कर भी देखा। लेकिन इसे वे मुख्यत: शृंगार की परंपरा के रूप में ही स्वीकार करते हैं। शुक्ल जी सूर को वात्सल्य और शृंगार का अप्रतिम कवि स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में शुक्ल जी लिखते हैं, 'यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक उनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदास ने 'गीतावली' में बाल-लीला को इनकी देखा-देखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही पर उसमें बालसुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई उसमें रूपवर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भण्डार और कहीं नहीं....' (वही, पृ० 96)।

सूरदास में प्रेम के चित्रण के संबंध में शुक्ल जी की टिप्पणी है 'वृंदावन के उसी सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन-दिन खिलते हुए सौंदर्य और मनोहर चेष्टओं को देख मुग्ध होती चली आती हैं, और कृष्ण कौमार्य अवस्था की स्वाभाविक चपलतावश उनसे छेड़छाड़ करना आरंभ करते हैं। हास-परिहास और छेड़छाड़ के साथ-साथ प्रेम व्यापार का अत्यंत स्वाभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है। किसी की रूपचर्चा सुन या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरंभ नहीं हुआ है। नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हंसते-बोलते वन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विघ्नबाधाओं को पार करने की लंबी-चौड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोकबंधनों में जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार के स्वच्छंद समाज का स्वप्न अँग्रेज कवि शैली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया।' (वही, 132) यहाँ इस प्रसंग में एक-दो बातों पर ध्यान देने की जरूरत है। पहली तो यह कि यहाँ जायसी की अपेक्षा सूर के प्रेम चित्रण को, ऊहात्मकता और अतिरंजना के विरुद्ध सहज और स्वाभाविक बताकर शुक्ल जी सूफी प्रेम-परंपरा की तुलना में भारतीय प्रेमपद्धति को वरीयता देते हैं। दूसरी और भी महत्त्वपूर्ण बात यह

नोट

है कि सूर द्वारा चित्रित प्रेम को 'जीवनोत्सव' और पक्षियों के समान स्वच्छंद बताकर वे उस सूत्र की स्थापना करते हैं जिसे आधार बनाकर अनेक परवर्ती आलोचक, सूर और मीरा के प्रसंग में, प्रेमानुभूति को सामन्ती समाज-रचना के विरुद्ध एक सार्थक विद्रोह के रूप में विकसित करते दिखाई देते हैं। आचार्य शुक्ल इस बात के लिए सूर की आलोचना भी करते हैं कि इस प्रेम चित्रण में चुने गए पदार्थों और व्यापारों की पूँजी बहुत सीमित है। राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसंग में उन्होंने उनके अंग-प्रत्यंग, मुद्राओं और चेष्टाओं, यमुनातट, वंशीवट, निकुंज, गोचारण, वन विहार, बाललीला, चोरी, नटखटी तथा कवि परिपाटी में परिगणित ऋतु सुलभ वस्तुओं तक ही अपने को सीमित रखा है। लोकमंगल की प्रतिष्ठा वाले मुद्दे पर भी तुलसीदास की अपेक्षा सूरदास उन्हें कमतर प्रभाव वाले कवि लगते हैं। ऐसा नहीं है कि राम की तरह कृष्ण के जीवन में ऐसे प्रसंगों का अभाव हो। लेकिन सूरदास की वृत्ति उस ओर नहीं है... 'असुरों के अत्याचार से दुखी होकर पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान का कृष्णावतार हुआ, इस बात को उन्होंने केवल एक ही पद में कह डाला है। इसी प्रकार कागासुर, बकासुर, सकटासुर आदि को हम लोक पीड़कों के रूप में नहीं पाते हैं। केवल प्रलंब और कंस के वध पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर उक्त कर्म के लोकव्यापी प्रभाव का कुछ आभास मिलता है। पर यह वर्णन विस्तृत नहीं हैं। सूरदास का मन जितना नंद के घर की आनंद बधाई, बालक्रीड़ा, मुरली की मोहनी तान, रासनृत्य प्रेम के रंग, रहस्य और संयोग-वियोग की नाना दशाओं में लगा है, उतना ऐसे प्रसंगों में नहीं।' (वही, पृ० 128)

शुक्ल जी की दृष्टि में सूर का विशेष महत्त्व उनकी भाषा के कारण है। 'सूर सागर' के रूप में शुक्ल जी के समय तक, पहली उपलब्ध कृति इन्हीं की थी। अपनी पूर्णता के कारण वह उन्हें आश्चर्य में डालती है। वे लिखते हैं, 'पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वालों को उलझन में डालने वाली होगी। 'सूर सागर' किसी चली आती हुई परंपरा का चाहे वह मौखिक ही रही हो-पूर्ण विकास सा जान पड़ता है, आगे चलने वाली परंपरा का मूल रूप नहीं' (वही, पृ. 129) वस्तुतः यही वह सूत्र है जिसके सहारे डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने बाद में 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका काव्य' शीर्षक अपना शोध प्रबंध प्रस्तुत किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' आलोचना की पुस्तक न होने पर भी उनकी आलोचना-दृष्टि को समझने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। हिंदी साहित्य के काल विभाजन, प्रवृत्तियों, सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों के विश्लेषण के अतिरिक्त लेखकों पर उनकी संक्षिप्त आलोचनात्मक टिप्पणियाँ साहित्येतिहास होने पर भी आलोचना के रूप में भी उसे उल्लेखनीय बनाने वाली चीजें हैं। इस तरह वह उनकी आलोचना का ही हिस्सा है—उनका विश्लेषण विवेचन यहाँ संपूर्णता प्राप्त करता है। जैसा कि उल्लेख किया गया है, इसका पहला संस्करण हिंदी शब्द सागर की भूमिका के रूप में सन् 1929 में और फिर संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण सन् 1940 में प्रकाशित हुआ था। शुक्ल जी के जीवनकाल में प्रकाशित यही उसका अंतिम संस्करण था। इस बीच उसके कई संस्करण पहले के ही पुनः मुद्रित रूप थे। काल विभाजन के संदर्भ में 'किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता' के तर्क से उन्होंने आदिकाल को वीरगाथा काल नाम दिया था और उसके अंतर्गत अपभ्रंश और देशभाषा की उपलबध कृतियों की चर्चा की। अपभ्रंश में लिखित अनेक पुस्तकों को जैनधर्म के निरूपण से संबंधित होने के कारण वे साहित्य कोटि में नहीं मानते। उनका उल्लेख वे केवल यह दिखाने के लिए करते हैं कि एक भाषा के रूप में अपभ्रंश का व्यवहार कब से हो रहा था। इस संशोधित संस्करण की भूमिका में वे लिखते हैं, 'आदिकाल के भीतर बज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखाने के लिए करना पड़ा कि कबीर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण संतमत के प्रचार के लिए किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य कोटि में नहीं आतीं और योगधारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।' (हिंदी साहित्य का इतिहास, संस्करण 65 'दो बातें' शीर्षक भूमिका, पृ० 9) वस्तुतः यह शुक्ल जी का बहुत विवादास्पद वक्तव्य था और आगे चलकर उन पर वर्णाश्रम के समर्थन और ब्राह्मणवाद के आरोप मुख्यतः इसी आधार पर लगाए गए। शुक्ल जी रसवाद और अनुभूति की सघनता को प्रमुख काव्य प्रतिमान के रूप में स्वीकृति देने के कारण निर्गुण संत कवियों को भी

सहानुभूति से नहीं देख पाते। चूंकि संत कवि और उससे भी पहले नाथ और सिद्ध कवि, जाति-पांति को नहीं मानते और उनमें अनेक दलित जातियों के लोग भी थे जो वर्णारम व्यवस्था का विरोध करते थे, शुक्ल जी की सहानुभूति के केंद्र में नहीं आते थे, उन्हें वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थक कहा गया और इस तर्क से फिर ब्राह्मणवादी तो वे हो ही गए। तुलसी के उनके मूल्यांकन को इससे जोड़कर देखे जाने से इस तर्क को और भी बल मिलता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. तुलसीदास के आदर्श नायक .... हैं।
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित हिंदी साहित्य का इतिहास सन् .... में प्रकाशित हुआ था।
3. 'चिंतामणि' का तीसरा भाग .... के संपादन में प्रकाशित हुआ था।

19.1.1 भक्तिकाल का विवेचन

शुक्ल जी का मन सबसे अधिक भक्तिकाल के विवेचन में रमता है और उनके द्वारा लिखी यह स्वतंत्र पुस्तकें भी तीन प्रमुख भक्त कवियों पर ही हैं। उन्होंने तुलसीदास और जायसी को विशेष महत्त्व दिया। इनकी तुलना में वे कबीर को बड़े हल्के हाथों से पकड़ते हैं। शुक्ल जी मानते हैं कि कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद के मेल से अपना अलग पंथ खड़ा किया। भाव सघनता के अभाव और अनुभूति की विरलता के कारण वे कबीर को वैसी सहानुभूति से नहीं देखते लेकिन अपने मूल्यांकन में वे कबीर के वैशिष्ट्य को पकड़ने की अपनी क्षमता का परिचय अवश्य देते हैं। वे लिखते हैं.... 'ज्ञान मार्ग की बातें कबीर ने हिंदू, साधु-संन्यासियों से ग्रहण की जिनमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्त्व' का मिश्रण किया और अपना एक अलग पंथ चलाया। उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकांड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी-खरी सुनाई और 'राम रहीम' की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उद्देश्य दिया। देशांतर और उपासना विधि के कारण मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कार पूर्ण बातें निकलती थीं। उनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था...' (वही, पृ. 80)

आचार्य शुक्ल की विवेचन-पद्धति की एक सामान्य प्रवृत्ति यह है कि वे जिस लेखक या प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं उसके सकारात्मक पक्षों की भी उपेक्षा नहीं करते। ऐसा नहीं है कि एक आलोचक के रूप में उनके पूर्वग्रह न हों, लेकिन अपने विवेचन में वे पर्याप्त वस्तुपरकता का परिचय देते हैं। रीतिकाल विरोधी उनकी आलोचना-दृष्टि अपनी प्रखरता और तेजस्विता के लिए जानी जाती है। केशव को उन्होंने 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा और बिहारी सहित अनेक रीति कालीन कवियों की ऊहात्मक उक्तियों की उन्होंने व्यंग्य और कटाक्षपूर्ण आलोचना की है। लेकिन अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में रीतिकाल के सामान्य परिचय के अंतर्गत रीतिग्रंथों और उनके रचयिताओं पर वे यह टिप्पणी भी करते हैं, 'इन रीतिग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना अत: उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषत: श्रृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में उपस्थित हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिका भेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे श्रृंगार रस के अंतर्गत बहुत सुंदर मुक्तक रचना हिंदी में हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिंदी साहित्य में हुआ कि इसके एक-एक, अंग को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ रचे गए। इस रस का सारा वैभव कवियों ने नायिकाभेद के भीतर दिखाया। रस ग्रंथ वास्तव में नायिका भेद के ही ग्रंथ हैं जिनमें और दूसरे रस पीछे से संक्षेप में चलते कर दिये गए हैं। नायिका श्रृंगार रस का आलंबन

नोट

है। इस आलंबन के अंगों का वर्णन एक स्वतंत्र विषय हो गया और न जाने कितने ग्रंथ केवल नखशिख वर्णन के लिखे गए। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षट्ऋतु वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गईं। विप्रलम्भ संबंधी 'बारह मासे' भी इन कवियों ने लिखे।' (वही, पृ. 229) इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्ल जी काव्य में न मुक्तक के विरोधी थे और न ही शृंगार रस के। प्रबंध काव्य की तुलना में मुक्तक पर विचार करते हुए वे सिर्फ मुक्तक की प्रकृतिगत सीमाओं का ही संकेत करते हैं। इसी तरह जीवन की समग्रता और विस्तार की उपेक्षा करके रीतिकाव्य में वे शृंगार के अतिवाद की आलोचना करते हैं। रस काव्य की ऊहात्मक प्रकृति को वे दरबारी-संस्कृति के स्वाभाविक परिणाम के रूप में रेखांकित करते हैं। काव्य में चूँकि वे रस और अनुभूति के पक्षधर थे, कृत्रिमता और अनुभूति विरलता को आधार बनाकर वे केशवदास की तीखी आलोचना करते हैं। रीतिकाव्य में ही वे मतिराम की प्रशंसा उनके काव्य की सरलता और स्वाभाविकता के लिए करते हैं। उनमें न उन्हें भावों के स्तर पर कैसी कृत्रिमता मिलती है, न भाषा के। उनकी प्रशंसा करते हुए वे लिखते हैं, 'भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएँ। भावों को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं। नायिका के विरहताप को लेकर बिहारी के समान मजाक इन्होंने नहीं किया है। इनके भाव व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है बिहारी के समान चक्करदार नहीं', (वही, पृ० 244)। घनानंद को वे 'प्रेम की तन्मयता' का उदाहरण बनाकर प्रस्तुत करते हैं और आलम के लिए घनानंद और रसखान के साथ रखकर देखे जाने की सिफारिश करते हैं। आलम के ही संदर्भ में उनकी यह टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है, 'शृंगार रस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुनने वाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही संभव है।' (वही, पृ० 314)

19.1.2 शुक्ल और छायावाद

आधुनिक काव्य के संदर्भ में छायावाद संबंधी शुक्ल जी का अभिमत उसी प्रकार विवाद के केंद्र में रहा है, मध्यकालीन काव्य में जैसे कबीर संबंधी उनके विचार रहे हैं। उनके जीवनकाल में ही लिखे गए अपने एक निबंध में उन्हीं के शिष्य आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने उन्हें हिंदी समीक्षा का 'बालारूण' कहते हुए परवर्ती काव्य–विकास को जो वस्तुतः छायावाद ही था, 'नए प्रकाश तथा नई ऊष्मा' के रूप में रेखांकित किया था–जिसे शुक्ल जी का काव्य-विवेक समझ पाने में अक्षम था।

शुक्ल जी मानते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा प्रवर्तित काव्य की स्वच्छंद नूतन धारा में ही छायावाद का आभास मिलने लगा था। इसी के आस-पास रवींद्र नाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। उनका मानना है कि पुराने ईसाई संतों ने छायाभास (फैंटास या भाटा) तथा योरपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (सिंबालिज्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं। शुक्ल जी इस काव्य प्रवृत्ति को एक स्वतंत्र और क्रमशः विकसित उद्भावना के रूप में स्वीकृति न देते हुए लिखते हैं, 'छायावाद' नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु विन्यास की विशृंखलता चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली का इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभावपक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य क्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यंत चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गतिविधि बँध गई। हृततंत्री की झंकार, नीरवसंदेश, अभिसार, अनन्त प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाँव आना आँख मिचौली मद में झूमना, विभोर होना इत्यादि के साथ-साथ शराब, प्याला, साकी आदि सूफी कवियों द्वारा पुराने सामान भी इकट्ठे किए गए। कुछ हेर-फेर के साथ वही बँधी पदावली, वेदना का वही प्रकांड प्रदर्शन, कुछ विशृंखलता के साथ प्रायः सब कविताओं में मिलने लगा।' (वही, पृ० 621/622) काव्य की इस प्रवृत्ति को शुक्ल जी अपनी प्रकृति में भारतीय

नहीं मानते और न ही उसका कोई सामाजिक आधार उन्हें दिखाई देता है। वे अनेक स्तरों पर इसे रहस्यवाद, प्रतीकवाद, कलावाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से जोड़कर इसकी आलोचना करते हैं। इसकी अंतर्वस्तु के रूप में ऊपर वे जिन प्रतीकों और चिह्नों का उल्लेख करते हैं वे सर्वाधिक मात्रा में जयशंकर प्रसाद के काव्य में उपलब्ध थीं–विशेषकर उनके 'लहर' और 'आँसू' में। संभवत: इसीलिए अपने ढंग से प्रसाद ने इन आपत्तियों और आरोपों का उत्तर भी दिया। यह अकारण नहीं है कि कुछ आलोचक यह सुझाव देते हैं कि शुक्ल जी की छायावाद संबंधी आपत्तियों को प्रसाद के 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' के साथ रखकर देखा-पढ़ा जाना चाहिए।

छायावाद संबंधी शुक्ल जी के इस विवेचन में भी एकांगिता नहीं है। वे उसके अनेक सकारात्मक पक्षों की सराहना भी करते हैं। शुक्ल जी इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त करते हैं कि रहस्यवाद और प्रतीकवाद के प्रभाव में यह काव्य प्रवृत्ति प्रेमगान के सीमित से बाहर आकर आने अनुभव संसार को व्यापक बना रही है। वे लिखते हैं, 'हर्ष की बात है कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत और जीवन के और मार्मिक पक्षों की ओर भी बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। इसी के साथ ही काव्य शैली में प्रतिक्रिया के प्रदर्शन या नयेपन की नुमाइश का शौक भी घट रहा है। अब अपनी शाखा की विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाकर दिखाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमश: कम तथा रचनाओं को सुव्यवस्थित और अर्थ गर्भित रूप देने की रुचि क्रमश: अधिक होती दिखाई पड़ती है'... (वही, पृ० 626) वे प्रसाद की प्रशंसा करते हैं कि विरहवेदना के नाना सजीले शब्द पथ निकालने तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय के मधुगान के बाद 'लहर' में ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की चित्रमयी शैली को विस्तृत अर्थभूमि पर जाने के लिए। इसी प्रकार सुमित्रानंद पंत 'गुंजन' में सौंदर्य चयन से आगे बढ़ाकर व्यापक जीवन को अपने काव्य की अंतर्वस्तु बनाते हैं। इन दोनों कवियों की अपेक्षा निराला को शुरू से ही वे काव्य के क्षेत्र विस्तार का श्रेय देते हैं। 'तुम' और 'मैं' के रहस्यवाद एवं 'जूही की कली' और 'शेफालिका' में उन्मद प्रणय चेष्टाओं के बाद उन्होंने 'जागरण वीणा' भी बजाई, विधवा की करुण मूर्ति खड़ी की और फिर इधर आकर 'इलाहाबाद के पथ पर' एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर के श्रम सीकर दिखाए। वे छायावाद को इन तीन प्रमुख कवियों तक ही सीमित कर देने के पक्ष में भी नहीं हैं। वे रामनरेश त्रिपाठी और मुकुटधर पाण्डेय में छायावाद के उत्स की खोज करते हुए सियाराम शरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, ठाकुर गुरुभक्त सिंह, उदयशंकर भट्ट आदि कवियों को विस्तृत अर्थभूमि पर स्वाभाविक स्वच्छंदता का मर्म पथ ग्रहण करने का श्रेय देते हैं। अपने 'आचार्य शुक्ल और छायावाद' शीर्षक निबंध में डॉ० शिवकुमार मिश्र लिखते हैं, 'वे छायावादी, सर्जना को लेकर पूर्वाग्रह ग्रस्त नहीं हैं। वस्तुत: शुक्ल जी की छायावादी कवियों की जिस सर्जना की इस कारण दाद देते हैं कि वह छायावाद के सीमित घेरे के बाहर सर्जना है, असलियत यह है कि वह सर्जना भी छायावाद के भीतर की ही सर्जना है। फर्क यही है कि शुक्ल जी छायावाद को उसके समूचेपन में नहीं देख पाए, इसी कारण उनके कतिपय निष्कर्ष विवादास्पद बन गये, अन्यथा उनकी काव्य मर्मज्ञता छायावाद के संदेवनामय पक्ष को पकड़ने और व्याख्यायित करने में पूरी तरह सफल रही है।' (साक्षात्कार, आचार्य शुक्ल जन्मशती अंक, अगस्त-नवंबर' 84, पृ० 109)।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपनी अभिरुचियों और आग्रहों को छिपाने में कम विश्वास करते थे। उनके अपने समय को देखते हुए उन्हें कदाचित् एक बहुपठित और विश्व साहित्य की गतिविधियों के प्रति अत्यंत सजग आलोचक भी माना जा सकता है। लेकिन यूरोप में उपन्यास के रूप में, महाकाव्य की समकक्षता में खड़े होने वाले साहित्य रूप को लेकर उनकी ऐसी किसी सजगता का कोई साक्ष्य दुर्भाग्यवश हमें नहीं मिलता है। कथा-साहित्य संबंधी उनकी छिट-पुट चर्चा या तो 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में उपलब्ध है या फिर सन् 1910 में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित उनकी एक तीन पृष्ठ की 'उपन्यास' शीर्षक टिप्पणी में, जिसे डॉ० नामवरसिंह न 'चिंतामणि' के तीसरे भाग में संकलित किया है। इसके अतिरिक्त 'शशांक' के उनके द्वारा किए गए अनुवाद की भूमिका से भी ऐतिहासिक उपन्यास के महत्त्व और अवधारणा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उनके द्वारा 'शशांक' में किए गए परिवर्तन भी ऐतिहासिक उपन्यास संबंधी उनकी कुछ धारणाओं को खोलने में सहायक हो सकते हैं। कथा-साहित्य पर शुक्ल जी की ये टिप्पणियाँ बहुत संक्षिप्त और अपर्याप्त हैं। लेकिन इनके संदर्भ में जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह कि ये बहुत जिम्मेदारी के साथ की गई टिप्पणियाँ हैं। जो अपनी विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता के कारण प्रभावित करती हैं।

नोट

साहित्य के किसी भी इतिहासकार और आलोचक की वस्तुपरकता का इससे बड़ा प्रमाण और कुछ नहीं हो सकता कि प्राय: तीन-चौथाई शताब्दी के बाद भी उनकी तीन-चौथाई स्थापनाएँ और मान्यताएँ झूठी नहीं पड़ी हैं।

कविता के प्रति अपनी केंद्रीय और अविभक्त चिंता के बावजूद शुक्ल जी उपन्यास की स्थिति और महत्त्व को लेकर पर्याप्त आश्वस्त दिखाई देते हैं। वे लिखते हैं, 'उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अंग है। मानव प्रकृति पर इसका प्रभाव बहुत पड़ता है। अत: अच्छे उपन्यासों से भाषा की बहुत कुछ पूर्ति और समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।' (चिंतामणि-3, संस्करण 83, पृ० 102) इस टिप्पणी का वास्तविक महत्त्व समझाने के लिए भारतेन्दु और द्विवेदी युगों में उपन्यास को लेकर प्रचलित उपेक्षा और निंदा वाले रवैये को ध्यान में रखना जरूरी है। जहाँ शुक्ल जी के पूर्वती और कुछ समकालीन लेखक यह मानकर चलते थे कि उपन्यास युवा पीढ़ी पर बुरा और हानिकर प्रभाव डालता है, शुक्ल जी अच्छे उपन्यासों को समाज के लिए कल्याणकारी मानने का साहस दिखाते हैं। इसी टिप्पणी में वे यह भी कहते हैं कि अहंकारपूर्ण कोरे नीति उपदेशकों के बदले उपन्यास मनुष्य के आचरण और सदाचार के सौंदर्य को कहीं बेहतर ढंग से दिखा सकता है। जहाँ रूखे नीति उपदेशक सामान्य जनता के प्रति उपेक्षा और हिकारत का भाव लेकर चलते हैं, वहीं उपन्यास के साधारण पात्रों के सुख-दुख की कहानी पढ़ने वालों को वह बहुत निजी और आत्मीय-सी लगती है–'अस्तु चाणक्य-नीति और स्माइल्स के 'कैरेक्टर' आदि की अपेक्षा उत्तम श्रेणी के उपन्यासों का पढ़ना आचरण पर कहीं बढ़कर प्रभाव डालता है...' (वही, पृ० 104) उपन्यास के महत्त्व पर बात करते हुए शुक्ल जी प्राय: हमेशा ही 'अच्छे' और 'उत्तमकोटि' के उपन्यास का उल्लेख करते हैं। अत: यह जरूरी हो जाता है कि अच्छे और उत्तमकोटि के उपन्यासों से शुक्ल जी का जो आशय था उसे ठीक से समझा जाए। गद्य के प्रथम उत्थान के अंतर्गत बंगला के अनूदित उपन्यासों की चर्चा के प्रसंग में उनकी टिप्पणी है, 'इन उपन्यासों में देश के सर्वसामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते हैं...' (हिंदी साहित्य का इतिहास, संस्करण 65 पृ० 434) इसी तरह द्वितीय उत्थान में मौलिक उपन्यासों को लेकर वे शिकायत करते हैं कि शील वैचित्र्य की उद्भावना उनमें नहीं के बराबर मिलती है। इस संदर्भ में प्रेमचंद के 'गबन' की प्रशंसा वे खासतौर से करते हैं–'अंत:प्रकृति या शील के उत्तरोत्तर उद्घाटन' के कौशल के लिए। मनोवृत्ति की अस्थिरता का चित्रण वे उपन्यास के लिए जरूरी समझते हैं जिसके अभाव में सत् और असत् भला और बुरा दो सर्वथा भिन्न वर्ग बताकर पात्र निर्माण की कृत्रिम और अस्वाभाविक प्रक्रिया से बचना असंभव है। उपन्यास के चरित्र चित्रण में वे मानव-प्रवृत्ति की आत्यंतिक सीमा की संभावनाओं से इंकार नहीं करते, लेकिन औसत सामाजिक, व्यवहारों को वरीयता देते हैं। कौतूहल प्रधान घटना वैचित्र्य वाले उपन्यासों के बदले वे चरित्र प्रधान और व्यापक जन-जीवन के चित्रण वाले उपन्यासों को पसंद करते हैं। अपने समय में प्रचलित वे उन उपन्यासों की निंदा करते हैं जो यूरोपीय जीवन पद्धति और आचरण को प्रमुखता देकर होस्टल, क्लब, ड्राइंगरूम, टेनिस, मैच और मोटर में हवाखोरी आदि को ही सामने लाते हैं। वे भारतीय जनता के सामान्य रीति-व्यवहार और रहन-सहन के अंकन पर खास तौर से बल देते हैं–देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नहीं समझते...' (वही, पृ० 514) उपन्यास से व्यापक सामाजिक राष्ट्रीय जीवन के अंकन की अपेक्षा करते हुए भी वे किसी संकुचित अर्थ में उसके राजनीतिक उपयोग को तैयार नहीं थे। ऐसा लग सकता है कि 'अच्छे' और 'उत्तमकोटि' के उपन्यासों की उनकी अवधारणा के मूल में प्रेमचंद के उपन्यास भी किसी न किसी रूप में अवश्य रहे होंगे। लेकिन अपने सारे विवेचन में वे 'गोदान' का एक जगह उल्लेख मात्र करते हैं और अनेक स्थलों पर साहित्यकार से अधिक प्रचारक हो जाने के लिए प्रेमचंद की निंदा भी करते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास शुक्ल जी को कुछ अधिक प्रिय हैं। ऐतिहासिक उपन्यास के लिए 'कल्पना' और 'अनुमान' जैसे शब्दों को आमने-सामने रखकर वे कल्पना की अपेक्षा अनुमान को अधिक महत्व देते हैं क्योंकि उनका विचार है कि कल्पना घटना वैचित्र्य वाले कोतूहलवर्द्धक उपन्यासों के अधिक काम की चीज है। चूँकि शुक्ल जी ऐसे उपन्यासों को साहित्यिक कोटि में रखने को तैयार नहीं हैं वे कल्पना को ही कुछ घटिया किस्म की चीज समझते दिखाई देते हैं। वे लिखते हैं, 'बहुत लोग उपन्यास का आधार शुद्ध कल्पना बतलाते हैं। पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान शक्ति है, न कि केवल कल्पना' और फिर वे अपनी बात को स्पष्ट करते हुए टिप्पणी करते हैं, 'तोता मैना का किस्सा और तिलस्म ऐयारी की कहानियाँ नि:संदेह कल्पना की क्रीड़ा है पर 'स्वर्णलता',

नोट

'दुर्गेशनन्दिनी', 'जीवन-संध्या', 'बड़ा भाई' आदि के ढंग के गार्हस्थ और ऐतिहासिक उपन्यास अनुमान मूलक और सत्य हैं, उच्च श्रेणी के उपन्यासों से वर्णित छोटी-छोटी घटनाओं पर यदि विचार किया जाए तो जान पड़ेगा कि वे यथार्थ में सृष्टि के असंख्य और अपरिमित व्यापारों से छांटे हुए नमूने हैं...' (चिंतामणि-3, पृ० 102) वस्तुतः 'अनुमान' और 'कल्पना' को आमने-सामने रखकर शुक्ल जी कल्पना के महत्त्व को उतना कम नहीं कर रहे हैं जितना के उपन्यास के यथार्थवादी स्वरूप को उद्‌घाटित करने पर बल दे रहे हैं। भारतेंदु-युग में जिस यथार्थवादी उपन्यास-धारा का सूत्रपात हुआ, वे उसे सोत्साह रेखांकित करते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास में, शुक्ल जी के अनुसार, इसी अनुमान का सहारा लेकर लेखक संबद्ध युग को पुनरुज्जीवित करता है। ऐतिहासिक उपन्यास में काल्पनिक समझे जाने वाले पात्रों एवं स्थितियों का महत्त्व भी इसीलिए होता है कि वे युग का चित्र खड़ा करने में सहायक होते हैं–'बिना इन बातों का जोड़ लगाए ऐतिहासिक वृत्त स्वाभाविक मानव व्यापार समझ ही नहीं पड़ते। ऐतिहासिक उपन्यासों के बीच जो पात्र और व्यापार ऊपर से लाए जाते हैं वे उस समय की सामाजिक स्थिति के सर्वथा अनुकूल हों तो उन्हें ठीक मान लेना कोई बड़ी भारी भूल नहीं है क्योंकि उनके अनुमान करने का साधन तो हमारे पास है पर खंडन करने का एक भी नहीं'... (वही, पृ० 103)।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के अतिरिक्त दायित्व की चर्चा शुक्ल जी किंचित विस्तार से करते हैं। उन कल्पित मानी जाने वाली स्थितियों और पात्रों के संदर्भ में भी के स्पष्ट कहते हैं, कि ऐतिहासिक उपन्यासकर्त्ता के इस अधिकार की एक सीमा है...'यह उन्हीं छोटी-छोटी घटनाओं को ऊपर से ला सकता है जो किसी ऐतिहासिक घटना के अंतर्गत अनुमान की जा सकें। न वह किसी विख्यात घटना में उलट-फेर कर सकता है और न ऐसी बातों को ठूंस सकता है जिसका अनुमान उस समय की अवस्था को देखते नहीं हो सकता... ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए इतिहास के पूरे ज्ञान के साथ परंपरागत रहन-सहन, बोल-चाल की आलोचना शक्ति आदि भी खूब होनी चाहिए...' (वही, पृ० 104) कहने का मतलब यह कि वे ऐतिहासिक उपन्यास को जीवंत और आत्मीय मानव-व्यवहार के अंतरंग चित्र के रूप में ही स्वीकार करते हैं जो संबद्ध युग के पूरी तरह मेल में हो। इसी कारण वे हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यास की धीमी प्रगति से निराश नहीं दीखते, ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम देखने में आ रहे हैं। एक प्रकार से तो यह अच्छा है। जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्‌भावना करने वाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 514)।

ऐतिहासिक उपन्यास की तैयारी के लिए शुक्ल जी इतिहास और पुरातत्व का गंभीर अध्ययन और सुविस्तृत जानकारी जरूरी समझते हैं। उस युग के रहन-सहन, आचार-विचार, कला-संस्कृति और दर्शन आदि की प्रामाणिक जानकारी के अभाव में लेखक हास्यास्पद भूलें करेगा और ऐतिहासिक उपन्यास के वास्तविक आशय को ही नष्ट कर देगा। ध्यान देने की बात यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास के प्रतिदर्श के रूप में वे यूरोप के विक्टर ह्यूगो या वाल्टर स्कॉट का नाम न लेकर बंगाल के राखालदास बंद्योपाध्याय को सामने रखते हैं। वैसे बंगाल के ही बंकिमचंद्र और रमेशचंद्र दत्त आदि के ऐतिहासिक उपन्यासों का उल्लेख वे अवश्य करते हैं लेकिन राखाल बाबू के गंभीर ऐतिहासिक और पुरातात्विक ज्ञान को वे विशेष महत्त्व देते हैं। 'शशांक' की भूमिका में वे उन्हें 'पुरातत्व व्यवसायी' कहकर अनुमान के आधार पर उस युग का प्रामाणिक चित्र खड़ा करने के लिए उनकी सराहना करते हैं। 'शशांक' में नई ऐतिहासिक खोजों को समर्थन देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं, 'उस समय की स्थिति पर दृष्टि रखते हुए यही कहना पड़ता है कि इस उपन्यास में शशांक जिस रूप में दिखाए गए हैं वह असंगत नहीं है। उपन्यासकार का काम यही है कि वह इतिहास के द्वारा छोड़ी हुई बातों का अपनी कल्पना द्वारा आरोप करके सजीव चित्र खड़ा करे'... (शशांक, भूमिका, पृ० 15) राखालदास बंद्योपाध्याय के तीन में से दो उपन्यासों 'करुणा' और 'शशांक' के अनुवाद हिंदी में हुए हैं जिनमे से 'शशांक' का अनुवाद स्वयं शुक्ल जी ने किया है। इसका चुनाव भी उनकी अभिरुचि पर एक टिप्पणी है। 'करुणा' गुप्तकाल के पतन और पराभव का चित्र है जो सारे संघर्ष और प्रतिरोध के बावजूद अंततः स्कंदगुप्त की पराजय और मृत्यु के साथ समाप्त होता है। इसके विपरीत 'शशांक' बौद्धधर्म की राष्ट्रघाती षड्‌यंत्र प्रिय

सिद्धांतहीनता के उद्घाटन के साथ ही वैष्णवधर्म और वर्ण व्यवस्था की पुनर्स्थापना पर बल देता है। 'शशांक' के अनुवाद में जिन कुछ परिवर्तनों का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है उनमें से एक शशांक की मृत्यु से उसे दुखांत न बनाकर, माधवगुप्त के पुत्र आदित्य सेन को शशांक द्वारा नई आस्था और विश्वास की दीक्षा से उसे समाप्त करना है। इस परिवर्तन के ऐतिहासिक आधार के लिए वे सैन्य भीति के शिलालेख का उल्लेख भी करते हैं जो मूल बंगला उपन्यास के प्रकाशन के बाद मिला था और जो हर्षवर्द्धन से युद्ध में शशांक की मृत्यु को अमान्य सिद्ध करता है। यह ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन के लिए ही नहीं, अनुवाद जैसे द्वितीय श्रेणी के माने जाने वाले काम के लिए भी इतिहास और पुरातत्व की अद्यतन जानकारी की अपरिहार्यता की ओर संकेत करता है। अपनी राष्ट्रीय अपेक्षाओं के संदर्भ में शुक्ल जी हताशा और पराभव के बदले आशा और आस्था का उद्घोष आवश्यक समझते हैं। इस अनुवाद में किए गए परिवर्तन से वे सहज ही अपने को स्वाधीनता आंदोलन के राष्ट्रीय संदर्भों से जोड़ लेते हैं।

हिंदी में किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों को साहित्यिक कोटि में शामिल करने की अपनी उदारता के बावजूद वे उन्हें बहुत प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देख पाते। अपने युग के आत्मीय और प्रामाणिक चित्रण के बजाय ये उपन्यास 'निम्नकोटि की वासनाएँ प्रकाशित करने वाले' दृश्यों पर अधिक बल देते हैं। उनके 'चपला' की इसी आधार पर वे खासतौर से भर्त्सना करते हैं। उपन्यास के परवर्ती विकास को रेखांकित करते हुए वे वृंदावनलाल वर्मा के 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' का उल्लेख खूब उत्साहपूर्वक करते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल एकदम दुविधाहीन भाव से स्वीकार करते हैं कि उपन्यास और कहानी के ढाँचे हमने पश्चिम से लिए हैं–'इसमें कोई संदेह नहीं कि उपन्यास और छोटी कहानी दोनों के ढाँचे हमने पश्चिम से लिए हैं। हैं भी ये ढाँचे बड़े सुन्दर..' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 516) लेकिन इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि पश्चिम के वर्गीकरण और सिद्धांत निरूपण को भी हम ज्यों का त्यों स्वीकार कर लें, यह बिल्कुल जरूरी नहीं है। हमें अपने यहाँ के रचनात्मक साहित्य के आधार पर स्वतंत्र वर्गीकरण और सिद्धांत निरूपण की पहल करनी चाहिए। जितना और जो भी विकास, इस क्षेत्र में उनके समय तक हुआ था वे उससे विशेष निराश नहीं दीखते और उसी को आधार बनाकर वर्गीकरण एवं सिद्धांत-निरूपण में प्रवृत्त होते हैं।

टास्क आचार्य रामचंद्र शुक्ल की एक आलोचक के रूप में समीक्षा कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मन किसके विवेचन में सबसे अधिक रमता है?
   (अ) रीतिकाल (ब) भक्तिकाल
   (स) आधुनिककाल (द) इनमें से कोई नहीं
5. 'गबन' किसकी रचना है?
   (अ) मुंशी प्रेमचंद (ब) सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
   (स) डा. नामवर सिंह (द) इनमें से कोई नहीं
6. 'शशांक' का अनुवाद किसने किया है?
   (अ) आचार्य भरत मुनि (ब) आचार्य रामचंद्र शुक्ल
   (स) डा. नामवर सिंह (द) इनमें से कोई नहीं

19.1.3 गद्य साहित्य का विवेचन

गद्य साहित्य के विवेचन के क्रम में वे तीन उत्थानों की चर्चा करते हैं। पहला उत्थान वे सन् 1868 से 1893 तक मानते हैं। इस कालखंड में बहुत से अनूदित उपन्यासों के साथ मौलिक उपन्यास भी प्रकाशित हुए। अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास वे लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' (1882) को ही स्वीकार करते हैं। इसके बाद वे राधाकृष्णदास वे 'नि:सहाय हिंदू' और बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' का उल्लेख करते हैं। गद्य का द्वितीय उत्थान वे सन् 1893 से 1918 तक मानते हैं। इस काल में उपन्यास के क्षेत्र में जहाँ एक प्रीतिकर वैविध्य वे दर्शन होते हैं वहीं कथा-भाषा के निर्माण एवं सुस्थिरता की दृष्टि से भी वे इस काल को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस काल के प्रमुख उपन्यासकारों में वे देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता आदि का उल्लेख करते हैं। जैसा कि उल्लेख किया गया है घटना वैचित्र्य और कल्पना के अतिरेक के कारण वे देवकी नंदन खत्री के उपन्यासों को 'साहित्यिक कोटि' में रखने को तैयार नहीं हैं। 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' में उन्हें रससंचार, भावविभूति और चरित्र-चित्रण का अभाव खटकता है। फिर भी इनके महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं, 'पर हिंदी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकी नंदन खत्री का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने किसी और ग्रंथकार ने नहीं...' (वही, पृ० 476) किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं को साहित्यिक कोटि में रखे जाने का उनका तर्क है, 'इनके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूपरंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्यक पाया जाता है।' (वही, पृ० 477) लेकिन वासनाओं को सहलाने वाले उच्छृंखल वर्णनों और इतिहास के प्रति अराजक रवैये के लिए वे उनकी भर्त्सना भी करते हैं। पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय के उपन्यासों की एकमात्र विशेषता उनका भाषा-वैचित्र्य है। मनोभावों और मनोविकारों की वेगमी अभिव्यंजना की दृष्टि से वे बाबू ब्रजनंदन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकांत' नामक उपन्यासों की विशेष सराहना करते हैं। शुक्ल जी की टिप्पणी में यह संकेत स्पष्ट है कि आगे चलकर हिंदी में मनोवैज्ञानिक उपन्यास का जो विकास हुआ उसके बीज कहीं न कहीं बाबू ब्रजनंदन सहाय के उपन्यासों में ही खोजे जाने चाहिए।

हिंदी गद्य के तृतीय उत्थान की शुरुआत आचार्य शुक्ल सन् 1918 से मानते हैं। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' का प्रथम प्रकाशन सन्' 29 में हुआ। अत: इस काल के विवेचन में इस समय तक के उपन्यासों को ही लिया गया होगा। लेकिन 'गबन', 'चित्रलेखा', 'सुनीता', 'विराटा की पद्‌मिनी' आदि के उल्लेख से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि बाद के संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण में उन्होंने मोटे तौर पर चौथे दशक के मध्य तक के उपन्यासों को अपने विवेचन में शामिल कर लिया था। लेकिन इनमें से 'गबन' को छोड़कर अन्य किसी उपन्यास से उनके अंतरंग परिचय का कोई साक्ष्य नहीं मिलता है। 'गोदान' सहित इन उपन्यासों का वे मात्र उल्लेख करके रह जाते हैं। 'गबन' के संदर्भ में वे प्रेमचंद को 'शील वैचित्र्य की उद्‌भावना' और 'पात्रों' के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा के कारण विशेष महत्त्व देते हैं। प्रेमचंद के महत्त्व को देखते हुए, उपन्यास के प्रति शुक्ल जी की कुंठाहीन उदार स्वीकृति के कारण और भी, उनका यह विवेचन बेहद संक्षिप्त और अपर्याप्त है। इस काल के अन्य उपन्यासकारों में, प्रेमचंद के समकालीनों में, वे प्रसाद, कौशिक, चंडी प्रसाद हृदयेश, प्रताप नारायण श्रीवास्तव, राजा राधिकारमण सिंह आदि का उल्लेख करते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सिर्फ वृंदावन लाल वर्मा का उल्लेख वे केवल चार पंक्तियों में करते हैं लेकिन वृंदावनलाल वर्मा के सारे गुणात्मक मूल्यांकन की दिशा आज भी उससे बहुत भिन्न नहीं है। परवर्ती आलोचना में डॉ० रामविलास शर्मा ने खास तौर से इन संकेत-सूत्रों के आधार पर ही उनके मूल्यांकन की सफल कोशिश की है। प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों में आचार्य शुक्ल भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र कुमार, उग्र, भगवतीचरण वर्मा आदि का उल्लेख करते हैं। इलाचंद्र जोशी का 'घृणामयी' सन्' 29 में निकल चुका था, तत्कालीन औपन्यासिक परिदृश्य में वह एक भिन्न प्रकार का उपन्यास भी था, लेकिन आचार्य शुक्ल उसका कोई उल्लेख नहीं करते। जैनेन्द्र के 'परख' का उल्लेख न करके उनके 'तपोभूमि' और सुनीता' की चर्चा वे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के रूप में करके 'अंतर्वृत्ति अथवा शील-वैचित्र्य और उसका विकास क्रम अंकित करने वाले' उपन्यासों के अंतर्गत

करते हैं। प्रेमचंद के 'गबन' की चर्चा भी वे इसी क्रम में करते हैं, समाज के पाखंडपूर्ण पक्षों के उद्‌घाटन और भाषा की जीवंतता के लिए वे पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के उपन्यासों का उल्लेख पर्याप्त प्रशंसा-भाव से करते हैं।

उपन्यास संबंधी अपने विवेचन में शुक्ल जी उपन्यास के शिल्प की चर्चा के साथ ही उपन्यास में काव्य तत्त्व तथा उपन्यास और राजनीति जैसे विषयों पर भी टिप्पणी करते चलते हैं। प्रकृति-चित्रण के नाम पर अलंकार की प्रवृत्ति से मुक्ति को वे 'यथातथ्यवाद' कहते हैं। उनके विचार से इससे उपन्यास कला की अपनी निज की विशिष्टता उभरकर सामने आती है। घटनाओं और पात्रों के क्रियाकलाप ही भावों को स्पष्ट कर देते हैं। पात्रों के प्रगल्भ भाषण और लंबे-लंबे अलंकृत दृश्य-वर्णनों से सहज ही बचा जा सकता है। यूरोप में उपन्यास और नाटक के काव्यतत्व के इस निष्कासन को वे कलावादी उभार के रूप में विश्लेषित करते हैं। फ्रांस और इटली के कलावादियों द्वारा काव्य भी बेलबूटे की नक्काशी की तरह जीवन से सर्वथा पृथक कहा और माना जाने लगा। ऐसी स्थिति में जीवन को ही लेकर चलने वाले नाटक और उपन्यास का उससे सर्वथा पृथक समझा जाना स्वाभाविक था। लेकिन इस अतिवादी दृष्टिकोण को शुक्ल जी ठीक समझते। वे लिखते हैं, 'पर इस अत्यंत पार्थक्य का आधार प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं' और फिर इसी बात को थोड़ा और आगे बढ़ाते हुए वे स्पष्ट अभिमत देते हैं, 'उपन्यास न जाने कितनी ऐसी परिस्थितियाँ सामने लाते हैं जो काव्यधारा के लिए प्रकृत मार्ग खोलती हैं...' (वही, पृ० 517) उपन्यास को काव्य के निकट रखने वाला कथा का भारतीय ढांचा, 'कादंबरी' और 'हर्षचरित' वाला उन्हें अभी भी पर्याप्त संभवानापूर्ण लगता है। गौर करने की बात यह है कि यह बात उन्होंने तब लिखी थी जब उपन्यासकार के रूप में हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहीं कोई अस्तित्व न था।

उपन्यास के साथ ही शुक्ल जी कहानी पर भी विचार करते हैं। इस मामले में वे अपने परवर्ती आलोचकों एवं इतिहास लेखकों से कहीं अधिक सजगता का परिचय देते हैं। एक संभावनाशील विधा के रूप में वे कहानी के महत्व और विकास को रेखांकित करते हैं। और रचनात्मक स्तर पर स्वयं उससे जुड़ते थी हैं। हिन्दी कहानी का विकास उन्हें पर्याप्त आश्वस्त करता है। और उसी के आधार पर वे उसके लिए स्वतंत्र सिद्धांत स्थिर करने और उसके भेद-उपभेद निरूपित करने का प्रस्ताव रखते हैं। कहानी के विकास पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं, 'छोटी कहानियों का विकास तो हमारे यहाँ और भी विशद और विस्तृत रूप में हुआ उसमें वर्तमान कवियों का पूरा योग रहा है। उसके इतने रूपरंग हमारे सामने आए हैं। वे सबके सब अब पाश्चायत्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते...' (वही, पृ. 519) कहानी के वस्तु-विन्यास में आए वैचित्र्य और वक्रता को वे विशेष उत्साह एवं सराहना के साथ देखते है।। किसी विशिष्ट और नए ढंग की रचना को बहुत सीमित संख्या के बावजूद, वे तत्परतापूर्वक रेखांकित करते हैं जैसे लाक्षणिक और किसी 'तथ्य का प्रतीक खड़ा' करने वाली कहानी के रूप में वे 'उग्र' की 'भुनगा' का एक अलग उपभेद बताते हैं।

हिन्दी कहानी का आरंभ वे द्वितीय में मानते हैं। सन् 1900 में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' को वे हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। सन् 1901 में 'इंदु' में प्रकाशित प्रसाद की 'ग्राम' के संदर्भ में प्रसाद का उल्लेख वे 'कल्पना और भावुकता के कोश' कहकर करते हैं। अन्य प्रारंभिक कहानीकारों में वे 'कल्पना और भावुकता के कोश' कहकर रकते हैं। अन्य प्रारंभिक कहानीकारों में वे मास्टर भगवानदास, रामचंद्र शुक्ल, गिरिजादत्त वाजपेयी, बंग महिला आदि का उल्लेख करते हैं। इन सारे कहानीकारों पर उनकी टिप्पणियाँ बहुत संक्षिप्त हैं लेकिन लेखक के जीवन और रचना प्रवृत्ति संबंधी जो तथ्य उनसे उभरकर आते हैं वे प्राय: बड़े सारगर्भित, प्रामाणिक औरसुस्पष्ट होते हैं। इसी द्वितीय उत्थान के अन्य लेखकों में, आगे चलकर, वे विशम्भरनाथ कौशिक, राजा राधिका रमणसिंह और चंद्रधर शर्मा गुलेरी का नाम खासतौर से लेते हैं। सन् 1915 में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'उसने कहा था' के संबंध में उनकी टिप्पणी द्रष्टव्य है, 'इसमें, पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है...' (वही, पृ० 519) इस बात का उल्लेख हो चुका है, तुलसीदास की भावुकता के प्रसंग में कि शुक्ल जी के समय में 'भावुकता' का उल्लेख दुर्बलता के रूप में न होकर रचना की मार्मिकता और संवेदनशीलता के अर्थ में होता था। प्रसाद के संदर्भ में उनकी जिस उक्ति का उल्लेख किया गया है, उसमें भी वस्तुत: प्रसाद के कलागत वैशिष्ट्य का प्रतिपादन ही उनका अभीष्ट है। लेकिन वे इसे

छिपाते भी नहीं कि अतिशय कल्पना-प्रधान कहानियों की अपेक्षा वे यथार्थवादी कहानियाँ पसंद करते हैं। घटनाओं और वर्णन की चित्रतात्मकता, भाषा और शैली की सजीवता तथा प्रेम के मर्यादित अंकन के कारण 'उसने कहा था' उन्हें बहुत अच्छी लगती है। अपने अत्यन्त निकट के काल-संदर्भों से उस कहानी का जुड़ा होना भी संभवतः उसके 'पक्के यर्थावाद' के रूप में उसके उल्लेख का एक कारण रहा हो।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. पहला मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' माना जाता है।
8. 'घृणामयी' की रचना इलाचंद्र जोशी ने की है।
9. किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' हिन्दी की दूसरी कहानी मानी जाती है।

19.2 सारांश (Summary)

- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचनात्मक चेतना का विकास द्विवेदी युग में ही हुआ था और कविता-कहानी की ओर भटककर अन्ततः वे आलोचना की ओर आए थे।
- आचार्य रामचंद्र शुक्ल भौतिकवादी नहीं थे। वे ईश्वर और धर्म में विश्वास रखने वाले एक आस्तिक व्यक्ति थे। रूसी साम्यवाद एवं लेनिन आदि के प्रसंग में उनकी टिप्पणियाँ पर्याप्त हतोत्साहित करने वाली हैं।
- शुक्ल जी की दृष्टि पुराने और नए तथ्य और भाव, शास्त्र और मर्म के बीच सिर्फ समन्वय या तालमेल की दृष्टि न थी, बल्कि अपने विवेक की तुला पर तौलकर साहित्य और जीवन का एक ऐसा रसायन तैयार करने की थी जो मनुष्य के अर्थ को उसकी तात्कालिकता में भी और उसकी चिरंतनता में भी दूर तक प्रकाशित कर दे।
- शुक्ल जी चूँकि जीवन की समग्रता पर बल देने वाले आलोचक थे इसलिए प्रबंध और मुक्तक दो भिन्न काव्य प्रकार उनके लिए दो भिन्न जीवन-मूल्य जैसे थे।
- आचार्य शुक्ल तुलसी संबंधी अपने विवेचन में नाथपंथी और निर्गुण काव्य को तुलसी की ही दृष्टि से देखते हैं। वे तुलसी संदर्भ में ही उनकी इस दृष्टि का उपयोग नहीं करते, अपने मूल्यांकन के प्रतिमान भी बहुत कुछ उसी पर आधारित करते हैं।
- तुलसीदास और जायसी के बाद सूरदास तीसरे कवि हैं जिन पर शुक्ल जी ने स्वतंत्र रूप से लिखा है। शुक्ल जी ने सन् 1925 में 'भ्रमर गीत' की अपनी विस्तृत भूमिका में 'महाकवि सूरदास जी' शीर्षक निबंध में सूरदास पर अपनी विस्तृत आलोचना की इच्छा व्यक्त की थी।
- आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' आलोचना की पुस्तक न होने पर भी उनकी आलोचना-दृष्टि को समझने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।
- शुक्ल जी मानते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा प्रवर्तित काव्य की स्वच्छंद नूतन धारा में ही छायावाद का आभास मिलने लगा था।
- आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपनी अभिरुचियों और आग्रहों को छिपाने में कम विश्वास करते थे। उनके अपने समय को देखते हुए उन्हें कदाचित् एक बहुपठित और विश्व साहित्य की गतिविधियों के प्रति अत्यंत सजग आलोचक भी माना जा सकता है।

नोट

19.3 शब्दकोश (Keywords)

- परिपाटी : प्रथा, ढंग, शैली, चलता हुआ क्रम
- कौतूहल : उत्सुकता

19.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. हिन्दी साहित्य के आलोचक के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा कीजिए।
2. हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की उपयोगिता का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self-Assessment)

1. राम	2. 1929	3. डॉ. नामवर सिंह	4. (ब)
5. (अ)	6. (ब)	7. सत्य	8. सत्य
9. असत्य।			

19.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।*
2. आलोचक का दायित्व – *तिवारी शुक्ल, रामचन्द्र।*

इकाई–20 : आचार्य केशवदास और चिंतामणि का साहित्यिक योगदान

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

20.1 आचार्य केशवदास (1560–1617 ई०)

20.2 चिन्तामणि (1600–1680 ई०)

20.3 सारांश (Summary)

20.4 शब्दकोश (Keywords)

20.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

20.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आचार्य केशवदास का अलंकारवाद जानने हेतु।
- चिंतामणि का रसवाद जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

आचार्य केशवदास रीतिकाल के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके रीतिग्रंथों में कविप्रिया, रसिकप्रिया और छंदमाला प्रमुख हैं। इसी प्रकार चिंतामणि रसवादी आचार्य थे। उनके कविकुल कल्पतरु काव्य विवेक, रस विलास और शृंगार मंजरी प्रमुख ग्रंथ हैं।

20.1 आचार्य केशवदास (1560–1617 ई०)

आचार्य केशवदास को रीतिकाल का प्रवर्तक माना जाता है। वे अलंकारवादी आचार्य थे और अलंकार को काव्य का प्राणतत्व स्वीकार करते हुए कहते हैं :

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

अर्थात् भले ही कोई स्त्री सुजाति हो, सुलक्षणा हो, सुन्दर वर्ण वाली हो, सरस एवं सुवृत्त हो, किंतु जब तक वह आभूषण धारण नहीं करती तब तक शोभा नहीं पाती। यही स्थिति कविता की भी है। अन्य अनेक गुणों से संपन्न होने पर भी यदि कविता अलंकारों से रहित है, तो वह शोभा नहीं पाती।

नोट्स केशवदास अलंकारवादी आचार्य हैं, अत: अलंकार विवेचना ही उनका प्रमुख लक्ष्य है।

नोट

आचार्य केशवदास के रीतिग्रंथों में **कविप्रिया, रसिकप्रिया** और **छंदमाला** के नाम प्रसिद्ध हैं। 'कविप्रिया' में 16 प्रभावों के अंतर्गत काव्य रचना के उपयोगी विषयों यथा–काव्य दोष, अलंकार, नख-शिख आदि का समावेश है। 'रसिकप्रिया' में रस, रस दोष तथा वृत्तियों का विवेचन है साथ ही श्रृंगार रस एवं नायिका भेद का विस्तार से विवेचन किया गया है। 'छन्दमाला' में छन्दों के लक्षण एवं उदाहरण दिए गए हैं। केशव अलंकारवादी आचार्य हैं, अत: अलंकार विवेचन ही उनका प्रमुख लक्ष्य है। अलंकार विवेचन के लिए उन्होंने संस्कृत आचार्य 'जयदेव' के 'चन्द्रालोक' नामक अलंकार ग्रंथ का आधार ग्रहण किया है।

क्या आप जानते हैं चिंतामणि रसवादी आचार्य थे और उन्होंने अलंकार को काव्य की शोभा बताया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. आचार्य केशवदास को .... का प्रवर्तक माना जाता है।
2. 'छंदमाला' में छंदों के .... एवं उदाहरण दिए गए हैं।
3. आचार्य केशवदास .... आचार्य थे।
4. चिंतामणि .... आचार्य थे।
5. चिंतामणि अलंकार को .... में वृद्धि करने वाला तत्व स्वीकार करते हैं।

20.2 चिन्तामणि (1600–1680 ई०)

चिन्तामणि रसवादी आचार्य थे और अलंकार को काव्य की शोभा में वृद्धि करने वाला तत्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार :

''अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन आनि।''

अर्थात् अलंकार को ऐसा ही समझिए जैसे पुरुष के लिए 'हार' आदि हैं। उनके कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध होते हैं–**कविकुल कल्पतरु, काव्य विवेक, रस विलास एवं श्रृंगार मंजरी।** इनमें से कविकुल कल्पतरु में काव्य गुण, अलंकार, दोष, शब्द-शक्ति आदि पर प्रकाश डाला गया है। जबकि **'श्रृंगार मंजरी'** में नायक-नायिका भेद विवेचन किया गया है। इन्होंने आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ के संस्कृत ग्रंथों को ही उपजीव्य बनाकर अपनी रचनाएँ लिखी हैं, इनका विवेचन, विश्लेषण एवं लक्षण सटीक हैं।

टास्क आचार्य केशवदास के संबंध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

20.3 सारांश (Summary)

- चिंतामणि ने रीति निरूपण में अपनी निष्ठा एवं गंभीरता का परिचय दिया तथा आधार ग्रंथों के लक्षणों पर पूर्ण विचार करने के उपरांत जो लक्षण इन्हें ठीक लगा, उसी को प्रस्तुत किया। चिंतामणि के उपरांत रीति ग्रंथों

नोट

की अखण्ड परंपरा हिन्दी में उपलब्ध होती है, अतः कुछ आलोचक इन्हें रीतिकाल का प्रवर्तक मानते है केशवदास को नहीं।

20.4 शब्दकोश (Keywords)

- सुंदर वर्ण : सुंदर रंग-रूप
- सुलक्षण : सभी लक्षणों से युक्त

20.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. केशवदास अलंकारवादी आचार्य थे–स्पष्ट कीजिए।
2. चिंतामणि रसवादी आचार्य थे–स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. रीतिकाल   2. लक्षण   3. अलंकारवादी   4. रसवादी
5. काव्य की शोभा

20.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. आलोचना एवं आलोचक – *डॉ. बच्चन सिंह।*

नोट

इकाई–21 : भिखारीदास और देव का साहित्यिक योगदान

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
21.1 भिखारीदास (1725-1760 ई०) कविता काल
21.2 देव (1670-1767 ई०)
21.3 सारांश (Summary)
21.4 शब्दकोश (Keywords)
21.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
21.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- भिखारीदास का कविता काल जानने हेतु।
- देव द्वारा रचित रीति ग्रंथों को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

रीतिकाल के कवियों में भिखारीदास का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनका रीति निरूपण मौलिक चिंतन से युक्त है तथा उसमें मूल्य विश्लेषण की शक्ति भी दिखाई पड़ती है। इन्होंने 103 अलंकारों और 10 गुणों का विद्वतापूर्ण विवेचन किया है।

21.1 भिखारीदास (1725-1760 ई०) कविता काल

रीतिकाल के सर्वांग निरूपक कवियों में भिखारीदास का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके प्रमुख रीतिग्रंथ हैं–**काव्य निर्णय सारांश, शृंगार निर्णय** एवं **छन्दोवर्ण पिंगल।** इनमें से रस सारांश और शृंगार निर्णय के अंतर्गत निर्णय के अंतर्गत रस एवं नायिका भेद का विवेचक भानुदत्त की 'रसमंजरी' एवं रुद्रभट्ट के 'शृंगार तिलक' को आधार ग्रंथ बनाकर किया गया है। काव्य निर्णय में काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य भाषा, शब्द शक्ति, आदि का वर्ण मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' के आधार पर किया गया है।

इनका रीति निरूपण मौलिक चिंतन से युक्त है तथा सूक्ष्म विश्लेषण की शक्ति भी इनमें दिखाई पड़ती है। इन्होंने 103 अलंकारों का और 10 गुणों का विवेचन विद्वतापूर्ण ढंग से किया है।

नोट

नोट्स रीतिकाल के कवियों में भिखारीदास का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. रीतिकाल के सर्वांग निरूपक कवियों में .... का महत्त्वपूर्ण स्थान है।
2. भिखारीदास का रीति निरूपण .... से युक्त है।
3. भिखारीदास ने 103 .... का विवेचन किया है।
4. देव द्वारा रचित रीति ग्रंथों में भावविलास, भवानी विलास, काव्यरसायन .... आदि प्रसिद्ध हैं।
5. रस विलास में .... है।

क्या आप जानते हैं रस विलास में रस का विवेचन है और नायक-नायिका भेद पर प्रकाश डाला गया है।

21.2 देव (1670–1767 ई०)

देव द्वारा रचित रीति ग्रंथों में **भाव विलास, भवानी विलास, काव्य रसायन, रस विलास, शब्द रसायन** आदि प्रसिद्ध हैं। रस विलास में रस विवेचन है तथा नायक-नायिका भेद पर प्रकाश डाला गया है। इसमें अलंकार विवेचन भी है जो भानुदत्त रसमंजरी के आधार पर किया गया है। देव को रीतिकाल सर्वांग निरूपक आचार्यों में स्थान दिया जाता है, क्योंकि इन अलंकार रस नायिका भेद, छंद आदि सब पर प्रकाश है। इनके रीति निरूपण में गुण-दोष दोनों हैं। लक्षणों की सुबोध विभेदीकरण, मौलिक उद्भावना यदि इनके गुण हैं तो लाभ एवं उदाहरणों में असंगतता एवं अस्पष्टता सबसे बड़ा दोष कवित्व की दृष्टि से इनकी रचनाएं उच्चकोटि की हैं।

टास्क रीतिकाल के कवियों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

21.3 सारांश (Summary)

- भिखारीदास रीतिकाल के सर्वांग निरूपक कवि हैं। इनका रीति निरूपण मौलिक चिंतन से युक्त है तथा सूक्ष्य विश्लेषण की शक्ति भी इनमें दिखाई पड़ती है। परंतु देव द्वारा रचित रीति ग्रंथों में रस विवेचन है। मौलिक उद्भावना इनकी रचनाओं का प्रमुख गुण है।

21.4 शब्दकोश (Keywords)

- विवेचक : विवेचना करने वाला
- प्रयोजन : उद्देश्य

नोट

21.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भिखारीदास के प्रमुख रीतिग्रंथ कौन-कौन से हैं?
2. देव द्वारा रचित ग्रंथों का विवरण दीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. भिखारीदास 2. मौलिक चिंतन 3. अलंकारों 4. रस विलास, शब्द रसायन
5. रस विवेचन।

21.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. आलोचना एवं आलोचक – *डॉ. बच्चन सिंह।*

नोट

इकाई–22 : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (1907-1979) की लेखन कुशलता एवं उनका साहित्यिक योगदान

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
22.1 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की लेखन कुशलता
22.2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक योगदान
22.3 सारांश (Summary)
22.4 शब्दकोश (Keywords)
22.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
22.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- हिन्दी साहित्य में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का योगदान जानने हेतु।
- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की लेखन कुशलता जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य में उल्लेखनीय योगदान है। हिन्दी साहित्य के विकास के मुख्य कारकों में वे संत-मत, भक्तों की परंपरा, योग-मार्ग, सगुण मतवाद के साथ ही भक्ति-काल के प्रमुख कवियों के व्यक्तित्व की चर्चा करते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृत और हिन्दी के रीति काव्य का अंतर बताते हुए हिन्दी में लिखित रीति काव्य की सीमाओं का निर्देश करते हैं। हजारी प्रसाद स्वीकार करते हैं कि संस्कृत में योगियों के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे साधारण तौर पर साधना मार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रंथ हैं। वे आदिकाल में प्रचलित और प्रयुक्त काव्य रूपों पर विचार करते हुए परवर्ती कवियों द्वारा उनके ग्रहण करने और छोड़ देने की संभावनाओं पर भी विचार करते हैं।

22.1 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की लेखन कुशलता

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के रचनात्मक विकास में शांतिनिकेतन की एक विशिष्ट भूमिका है। यहाँ वे सन् 1930 के अंत में आए और सन् 1950 तक रहे। इनमें से ग्यारह वर्ष वे रवींद्रनाथ के निकट और आत्मीय संपर्क में रहे। यहीं जिस दूसरे व्यक्ति का प्रभाव उनके रचनात्मक विकास और चिंतन पर पड़ा वे आचार्य क्षितिमोहन सेन थे। नामवर सिंह ये अनुभव करते हैं कि द्विवेदी जी पर रवींद्रनाथ और शांति निकेतन का जितना ऋण है उसे वास्तव

नोट

से कुछ अधिक ही महत्त्व दिया गया है। लेकिन इसे वे भी स्वीकार करते हैं कि यदि वे शांति निकेतन नहीं आए होते तो शायद रवींद्रनाथ के प्रसिद्ध निबंध 'भारतीय इतिहास की धारा' (1912) पर उनकी दृष्टि न पड़ी होती। द्विवेदी जी के संदर्भ में इस निबंध की ऐतिहासिक भूमिका का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं,–'इस निबंध की ऐसी अनेक स्थापनाएँ हैं जिनका पल्लवन द्विवेदी जी की कृतियों में मिलता है।' (दूसरी परंपरा की खोज, संस्करण–1982 पृष्ठ. 14) आर्येतर जातियों के कलात्मक अवदान को देखने-समझने वाली दृष्टि उन्होंने यहीं विकसित की। नामवर सिंह हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'सूर साहित्य' सन्–1924 में ही काशी से निकल चुकने का उल्लेख करते हैं जबकि स्वयं द्विवेदी जी सन् 1955 वाले संस्करण के अपने 'निवेदन' में उसे कोई पच्चीस वर्ष पूर्व अर्थात् सन्–1930-31 की रचना ही बताते हैं। जो भी हो अपना वर्तमान परिवर्तित रूपाकार वह शांतिनिकेतन में ही ग्रहण करती है–अनेक विकसित–परिवर्तित स्थापनाओं, रवींद्रनाथ की कविता 'सूरदासेर प्रार्थना' और सबसे अधिक आचार्य क्षितिमोहन सेन की भूमिका के रूप में। बाद में यही उन्होंने 'कबीर'–'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसी कृतियों की रचना की। रवींद्र नाथ द्वारा कबीर के पदों का अंग्रेजी अनुवाद और उसकी भूमिका का स्पष्ट प्रभाव 'कबीर' पर है। शांतिनिकेतन में कला और संगीत की अबाध स्वीकृति उनके सौंदर्य बोध को संवारती ही नहीं है, जीवन के प्रति वर्जना और कुंठाविहीन सहज दृष्टि का विकास भी करती है जिसमें रागतत्व की क्रांतिकारी भूमिका है।

नोट्स द्विवेदी जी द्वारा कबीर को रहस्यवाद के सीमित घेरे से निकाल कर जाति-धर्म निरपेक्ष मानव के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय नामवर सिंह भी रवींद्रनाथ और शांति निकेतन को ही देते हैं।

उनका मानना है, 'कबीर' के साथ इतिहास की एक भिन्न परंपरा ही नहीं आती, साहित्य को जाँचने-परखने का एक प्रतिमान भी प्रस्तुत होता है।' और फिर इसका श्रेय भी शांति निकेतन को देते हुए वे आगे लिखते हैं, 'इस प्रसंग में उल्लेखनीय बात यह है कि अपने समकालीन अन्य शुक्लोत्तर आलोचकों की तरह द्विवेदी जी न तो कहीं शुक्ल जी से आतंकित हैं, न ग्रस्त-मुख्यत: शांतिनिकेतन काल की कृतियों में। इस मामले में वे कबीर के समान ही सौभाग्य से शास्त्रवंचित थे। कबीर को हिंदुओं का शास्त्र पढ़ने को नहीं मिला तो द्विवेदी जी को हिंदी आलोचना का शास्त्र। एक बात और है जिसमें वे कबीर से ज्यादा भाग्यशाली थे वे अपने निर्माण-काल में काशी से दूर रहे-शुक्ल जी आदि की छाया से। इसलिए न उन्हें हिंदी की यह महान परंपरा विरासत में मिली, न इस परंपरा से खामखाह उलझने की कड़वाहट ही महसूस हुई' (वही, पृष्ठ. 19) द्विवेदी जी हिंदी की परंपरा से दूर अर्थात् शांतिनिकेतन में थे। यह अकारण नहीं है कि 8 नवंबर सन् 1930 को, जिस दिन उन्होंने शांतिनिकेतन में अध्यापन कार्य प्रारंभ किया वे अपने द्विजंत्व-प्राप्ति के दिन के रूप में स्मरण करते हैं। इस स्मरण में कृतज्ञता-ज्ञापन का जो भाव है उसी का रचनात्मक साक्ष्य 'मृत्युंजय रवींद्र' नामक उनकी पुस्तक है। इसमें बहुत विह्वल-भाव से वे आश्रम के उत्सवों और मनाए जाने वाले पर्वों का उल्लेख करते हैं।

'सूर साहित्य' में द्विवेदी जी सूरदास को 'भारतीय साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रत्नों में है'–की प्रतिज्ञा के साथ स्थापित करते हैं। उनकी एक महती विशेषता के रूप में वे उनकी असाधारण तल्लीनता का उल्लेख करते हैं और मानते हैं कि अपने विषय के प्रति ऐसी तन्मयता संसार के थोड़े कवियों में ही मिलती है। वे लिखते हैं, 'भक्तों के साहित्य में जो अपूर्व तन्मयता दिखाई देती है वह किसी महान अज्ञात के चरणों में अहैतुक आत्मसमर्पण के उल्लास से, अनुप्रमाणित है। जब तक आत्मदान का अद्‌भुत उल्लास जीवन में नहीं आता, कोई बड़ा साहित्य नहीं लिखा जा सकता। सूरदास, कबीरदास और तुलसीदास जैसे भक्त कवियों के साहित्य में जिस प्रकार के माधुर्य, तेजस्विता और मंगल का साक्षात्कार होता है वे उसी महिमामयी दातृत्व-शक्ति की उपज हैं।' (सूर-साहित्य, संस्करण-55 'निवेदन', पृष्ठ. 13) आत्मदान की इस शक्ति को ही केंद्र में रखकर वे संत कवियों के मर्म को उद्‌घाटित करने में प्रवृत्त होते हैं।

नोट

गोरखनाथ और कबीर के प्रति उनकी जो दृष्टि आगे चलकर पल्लवित हुई उसके संकेत यही मिलते लगते हैं। इस पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय ' उस युग की साधना और तात्कालिक समाज' है जिसमें वे उत्तर कालीन वैष्णव धर्ममत पर महायान बौद्धधर्म के प्रभाव की चर्चा बांग्ला स्रोतों के आधार करते हैं। राधा-कृष्ण के ऐतिहासिक विकास के साथ ही वे जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की राधा को साथ रखकर सूर की राधा पर विचार करते हुए उसका वैशिष्ट्य उद्घाटित करते हैं। सूरदास के पूर्ववर्ती ये तीनों कवि राधा को परकीया-भाव से चित्रित करते हैं। जयदेव की राधा शुरू में ही प्रगल्भा है और प्रथम समागम में भी नवोढ़ा की लज्जा उनमें नहीं है। विद्यापति की राधा विलास कलामयी है, किशोरी हैं। इन दोनों की तुलना में 'चंडीदास की राधा का प्रेम अनुपम है, स्वर्णिम है। इस राधा में जयदेव की प्रगल्भा विलासवती राधा की छाया भी नहीं है, विद्यापति की रूप-मधुरा किशोरी का निशान भी नहीं है; यह विशुद्ध प्रेम की मूर्ति है।' (वही पृष्ठ.103) यह अश्रुत और अभूतपूर्व प्रीति है जिसमें यह प्रिय को क्षण भर न देखने से मरण हो जाता है। विरह हो या मिलन उसमें सर्वत्र आत्मदान की व्याकुलता दिखाई देती है। सूरदास की राधा इस क्रम में अपूर्व, अद्भुत और विचित्र है। द्विवेदी जी लिखते हैं 'सूरदास की राधा केवल विलासिनी नहीं है। श्री कृष्ण के साथ उनका केवल युवा काल का संबंध नहीं है, वे परकीया नायिका भी नहीं है।' (वही. पृष्ठ 110) फिर वे विस्तार से बताते हैं कि गुड़िया के खेल और आँख-मिचौली के बीच वे कृष्ण के साथ बड़ी हुई हैं। और फिर उनकी संक्षिप्त टिप्पणी है', वह स्वर्गीय प्रेम है, वासना से रहित निर्मल, विशुद्ध....'(वही पृष्ठ 111) बाल-कवि की वर्णना में सूरदास अकेले हैं। उनकी राधा दारूण मानिनी हैं। उनका प्रेम उन्हें पूर्णता तक पहुँचाने के लिए है। बोझ होने के लिए नहीं।.... हजारी प्रसाद द्विवेदी संत कवियों की जिस तन्मयता को उनके एक विशिष्ट गुण के रूप में रेखांकित करते हैं, लगभग वैसी ही तन्मयता से वे सूर-काव्य के विविध पक्षों का उद्घाटन स्वयं भी करते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी शुक्ल जी का नाम लिए बिना भी उनकी अनेक स्थापनाओं से अपनी उत्कट असहमति व्यक्त करते हैं। शुक्ल जी भक्ति काव्य को इस्लाम के आक्रमण से परास्त एक हतदर्प राष्ट्र की प्रतिक्रिया का परिणाम मानते हैं। इस्लाम के प्रभाव की अतिरिक्त व्याख्या को वे अनेक ऐतिहासिक कारणों से स्वाभाविक मानते हुए भी उचित नहीं मानते। द्विवेदी जी हिंदी साहित्य को हजार वर्षों में हिंदी भाषी जन समुदाय की चिंता के स्वाभाविक विकास के रूप में देखे जाने पर बल देते हैं। इस्लाम की प्रतिक्रिया से उसे जोड़े जाने का प्रतिवाद करते हुए वे लिखते हैं, 'दुर्भाग्यवश, हिंदी साहित्य के अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिंदी-साहित्य का संबंध हिंदू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं। और इस प्रकार अंजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं– एक यह कि हिंदी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की संपत्ति है, इसलिए उसका महत्त्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान-पतन के साथ अंगागि-भाव से संबंध है, और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह निरंतर पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त प्रतीक हैं, जो अपने आप में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता है। मैं इन दोनों बातों का प्रतिवाद करता हूँ और अगर ये बातें मान भी ली जाएँ तो भी यह कहने का साहस करता हूँ और फिर इस साहित्य का अध्ययन करना नितांत आवश्यक है, क्योंकि दस सौ-वर्षों तक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्यों की बात मानवता की प्रगति के अनुसंधान के लिए केवल उपेक्षणीय ही नहीं बल्कि अवश्य ज्ञातव्य वस्तु है। ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।' (हिंदी साहित्य की भूमिका संस्करण' 69, पृष्ठ.1)

हिंदी साहित्य के आरंभिक काल में हिंदी कविता के प्रधानत: छह अंगों का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी इन छहों धाराओं को-डिंगल कवियों की वीर गाथाओं से लेकर सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों तथा ऐतिहासिक हिंदू कवियों के रोमांस और रीतिकाव्य तक अपभ्रंश कविता के स्वाभाविक विकास के रूप में देखे जाने पर बल देते हैं। एक बार फिर वे हिंदी साहित्य के सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति काव्य को मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया के भ्रम के निवारण की चेष्टा करते हैं। इस भ्रम के कारण ही कभी-कभी निर्गुणिया संतों की जाति-पाँति विरोधी, प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्तिपूजा के खंडन की चेष्टा को 'मुसलमानी जोश' के रूप में रेखांकित

नोट

करने की कोशिश भी की गई। इस बात पर वे रोष भी प्रकट करते हैं किसी-किसी ने कबीरदास आदि की वाणियों को 'मुसलमानी हथकंडे' के रूप में देखा। वे इस बात पर बल देते हैं कि निर्गुण मतवादी संतों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य, वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छंद और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन है। इस्लाम के प्रभाव को वे 'प्रभाव' के रूप में ही देखे जाने पर जोर देते हैं, 'प्रतिक्रिया' के रूप में नहीं.....'एक जीवित जाति के स्पर्श में आने पर दूसरी पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्य के सुवर्ण-काल में भी इस प्रकार विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। परंतु जिस प्रकार कालिदास की कविताओं में यवनी या ग्रीक प्रभाव देखकर यह नहीं कहा जाता है कि वह दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक है, उसी प्रकार हिंदी साहित्य में भी यह 'प्रभाव' के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं है।' (वही, पृष्ठ. 25)

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. 'भारतीय इतिहास की धारा' ·············· द्वारा लिखित एक प्रसिद्ध निबंध है।
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ·············· को इसलिए विशेष रूप से प्रिय मानते थे, क्योंकि वे बहुत कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे।
3. वीरगाथा काल का समय ·············· तक माना जाता है।

22.2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक योगदान

हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृत, बौद्ध और जैन साहित्य पर भी हिंदी साहित्य की 'भूमिका' के रूप में विचार करते हैं। हिंदी साहित्य के विकास के मुख्य कारकों में वे संत-मत, भक्तों की परंपरा, योगमार्ग और संत मत, सगुण मतवाद के साथ ही भक्ति-काल के प्रमुख कवियों के व्यक्तित्व की चर्चा करते हैं। शुक्ल जी अपनी पूरी शक्ति से रीतिकाल का विरोध करते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृत और हिंदी के रीतिकाव्य का अंतर बताते हुए हिंदी में लिखित रीतिकाव्य की सीमाओं का निर्देश करते हैं। संस्कृत के रीतिकाव्य पर भी नाट्य और कामसूत्र का प्रभाव अलक्षित नहीं था। उसमें नायिका-भेद की परंपरा और उसका व्यावहारिक अंग कामशास्त्रीय ग्रंथों से ही अनुप्रमाणित थे। ये सब कुछ स्वीकार करने के बाद भी उनकी टिप्पणी है, 'फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि रीति-काल का कवि केवल नाट्य शास्त्र और कामशास्त्र की रटंत विद्या का जानकार था। यह स्पष्ट करके समझ लेना चाहिए कि रीतिकाल में लक्षण ग्रंथों की भरमार होने पर भी वह उस प्राचीन लोक-भाषा के साहित्य का ही विकास था जो कभी संस्कृत साहित्य को अत्यधिक प्रभावित कर सका था। इस विशेष काल में जबकि शास्त्र-चिंता लोक-चिंता का रूप धारण करने लगी थी, वह पुरानी लौकिकता-परक लोक काव्य-धारा शास्त्रीय मत के साथ मिलकर देखते-देखते विशाल रूप ग्रहण कर गई। कवियों ने दुनिया को अपनी आँखों से देखने का कार्य बंद नहीं कर दिया। नायिका-भेद की संकीर्ण सीमा में जितना लोक चित्र आ सकता था, इस काल का उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है। इतना दोष अवश्य है कि यह चित्र असंपूर्ण और विच्छिन्न है। शास्त्रमत की प्रधानता ने इस काल के कवियों को अपनी स्वतंत्र उद्भावना-शक्ति के प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया, उन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया, इसलिए स्वाधीन चिंता के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया। यह भाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और वही इस युग की सबसे अधिक खतरनाक बात थी।' (वही, पृष्ठ. 102)

द्विवेदी जी रीतिकाल का समर्थन नहीं करते, उसकी सीमाओं का निर्देश भी वे करते हैं लेकिन भरसक उसे सहानुभूति से देखते हुए। यह सहानुभूति उसके प्रति पक्षपात के रूप में नहीं, उसे संपूर्णता में देखे जाने के आग्रह के साथ प्रकट होती है। इसी में वे शास्त्र और लोक का सवाल भी उठाते हैं, लोक-भाषा को उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि के रूप

नोट

में रेखांकित करते हुए लेकिन उसमें स्वाधीन चिंता के निरंतर क्षरण की प्रवृत्ति उनकी अपनी चिंता बनकर भी सामने आती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्ति-काव्य को कबीर के माध्यम से देखने और समझने का उपक्रम करते हैं लेकिन अपने इस काम में बलाघात के सारे परिवर्तन के बावजूद, वे कहीं तुलसीदास का अवमूल्यन नहीं करते जैसा शुक्ल जी कबीर का करते हैं। तुलसी के प्रसंग में ग्रियर्सन की इस उक्ति से वे अपनी सहमति व्यक्त करते हैं कि वे बुद्धदेव के बाद उत्तर भारत के सबसे बड़े लोक नायक थे। लोक और शास्त्र के अपने व्यापक ज्ञान के आधार पर ही तुलसीदास अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर सके। तुलसीदास की सफलता वे उनके काव्य में समन्वय की विराट चेष्टा के रूप में देखते हैं जो दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों और विचार सरणियों के बीच अद्भूत संश्रेष के रूप में सामने आती है। लेकिन इस समन्वय की सीमा भी वे जानते हैं, 'समन्वय का मतलब है कुछ झुकना, कुछ दूसरों को झुकने के लिए बाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा है। यह करने के लिए जिस असामान्य दक्षता की जरूरत थी वह उनमें थी। फिर भी झुकना झुकना ही है। यही कारण है कि 'रामचरित मानस' के कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह विशुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा जाता तो कुछ और ही हुआ होता। यहाँ दार्शनिक मत की विवेचना है तो वहाँ भक्ति-तत्त्व की व्याख्या। फिर भी अपनी असामान्य दक्षता के कारण तुलसीदास ने इस बाधा को यथासंभव कम किया है। अपने प्रयत्न में वे इतने अधिक सफल हुए हैं कि भावुक समालोचक को उसमें कोई दोष ही नहीं दिखाई देता। कथा का झुकाव इतनी मार्मिकता के साथ पहचाना गया है कि यह बात आदमी प्राय: भूल जाता है कि रामचरित मानस का लक्ष्य केवल कथा ही नहीं, और कुछ भी है। शुष्क तत्वज्ञान तुलसीदास को कभी प्रिय नहीं हुआ, जब उसकी चर्चा वे करते हैं तो कवि की भाषा में उपमा को और रूपकों के प्रयोग से विषय अत्यंत साफ हो जाता हैं और जहाँ कविता करने के लिए तुलसीदास कवि की भाषा का प्रयोग करते हैं, वहाँ वे अद्वितीय नज़र आते हैं।' (वही पृष्ठ. 86)

कबीर हजारी प्रसाद द्विवेदी को इसलिए विशेष रूप से प्रिय है क्योंकि वे 'बहुत कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे।' आज धर्मवीर जैसे दलित विचारक भले ही कबीर के विश्लेषण में द्विवेदी जी ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था के समर्थन की बात करते हैं। लेकिन कबीर की सामाजिक स्थिति के संबंध में वे किसी दुविधा में नहीं है। वे लिखते हैं,' कबीर उस समाज में पालित हुए थे जो न हिंदुओं द्वारा समादृत था, न मुसलमानों द्वारा पूर्णरूप से स्वीकृत। वह कुल-परंपरा से ज्ञानार्जन के आयोग्य समझा जाता था। बाहर के प्रलोभन से हो या भीतर के आघात से, वह मुसलमानी राजत्वकाल में मुसलमान धर्म ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त कर सका था, पर न तो राज-धर्म के ग्रहण कर लेने के कारण उसमें राजकीय गरिमा का संचार ही हुआ था और न प्राचीन हीनता से उद्धार ही। नाममात्र की मुसलमान इस जुलाहा जाति के रक्त में प्राचीन योग मार्गीय विश्वास पूरी मात्रा में वर्तमान था, पर शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने का दरवाजा उसके लिए रूद्ध हो गया था, ये गरीबी में जनमते थे, गरीबी में ही पलते थे और उसी में ही मर जाया करते थे। ऐसे कुल में पैदा व्यक्ति के लिए कल्पित ऊँच-नीच भावना और जाति-व्यवस्था का फौलादी ढाँचा तर्क और बहस की वस्तु नहीं होती, जीवन-मरण का प्रश्न होता है। कबीर दास इसी समाज के रत्न थे।' (कबीर, संस्करण' 71, पृष्ठ. 173) इन परिस्थितियों के कारण ही कबीर उन शास्त्रीय विचारों से मुक्त थे जो समाज की स्थिति शीलता में ही समाज का कल्याण समझते और सुरक्षा देखते हैं। शास्त्र विचार की अनभिज्ञता के कारण बाह्यचारों के प्रति एक निर्भीक आक्रामकता उस आत्मविश्वास का हिस्सा था जो अपनी निर्दोषिता और पवित्रता से पैदा होती है। इसीलिए वे सीधी बात को भी ललकारने की भाषा में बोलते दिखाई देते हैं। कबीर और उनके पूर्ववर्ती सहजयानी बौद्ध और योगियों में एक विशेष अंतर था। पोथियों की निंदा वे भी करते थे लेकिन फिर भी पोथियाँ उनकी पढ़ी होती थीं और भीतर-ही भीतर वे पोथियों की महिमा से अभिभूत भी होते थे। कबीर सिर्फ पोथियों की निंदा ही नहीं करते थे, सचमुच वे उनकी उपेक्षा करते थे। उसकी क्षति-पूर्ति अपने दुर्दम्य आत्मविश्वास से ही की जा सकती थी। यह आत्मविश्वास कबीर में था। इसी आत्मविश्वास के कारण, भक्ति के अतिरेक में अपने आम समकालीन भक्त कवियों की तरह उन्होंने कभी अपने को पतित नहीं समझा क्योंकि इस दैन्य-प्रदर्शन से उनका आत्मविश्वास क्षीण होता। उनका मन जिस प्रेम-मदिरा से मतवाला बना हुआ था। वह ज्ञान

नोट

के गुण से तैयार की गई थी। इसीलिए उसमें अंधश्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद के लिए कोई जगह नहीं थी। उनके आत्मविश्वास से ही युगावतारी शक्ति और युग प्रवर्तन की दृढ़ता उन्हें मिली थी।

मध्य-युग के भक्त कवियों की तरह कबीर भी मानते थे कि 'प्रेम ही परम पुरुषार्थ है'–प्रेमा: पुमर्थो महान-जैसा कि तत्कालीन वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कहा था। लेकिन इन भक्तकवियों से कबीर में एक भिन्नता भी थी और उस भिन्नता में ही वस्तुत: उनका वैशिष्ट्य निहित है। उनके समकालीन कवि जब स्मृति और पुराण-ग्रंथों को ही सब कुछ मानकर प्राचीन भारतीय परंपरा को शिरोधार्य कर रहे थे कबीर ने एक उल्टा रास्ता पकड़ा। इन संस्कारों को अर्जित करने के प्राय: सारे रास्ते उन के लिए बंद थे। अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा उनकी स्थिति विचित्र थी। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे, हिंदू होकर भी हिंदू नहीं थे। इसी तरह वे साधु, वैष्णव और योगी होकर भी ये सब नहीं थे। वे वस्तुत: नृसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाँति वे नाना असंभव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन बिंदु पर खड़े दिखाई देते हैं। इसी कारण वे दोनों ओर देख पाने की सुविधाजनक स्थिति में भी थे और इस स्थिति का भरपूर लाभ भी उन्होंने उठाया।

वेद, शास्त्र, कुरान, जप-माला, मंदिर-मस्जिद, नवी-अवतार, पीर-पैगंबर-इन सब बाह्याचारों के ऊपर कबीर प्रेम की महत्ता स्थापित और प्रतिपादित करते हैं। अपने आत्माराम को ही संगी बनाकर वे अपनी राह पकड़ते हैं। इन सब को अस्वीकार करने का अपूर्व साहस ही भक्तिकाल के सारे कवियों से कबीर को अलग करता है। यह केवल अस्वीकार के लिए अस्वीकार से अधिक कुछ था क्योंकि यह एक बड़े लक्ष्य के निमित्त रास्ते में आने वाली बाधाओं का अस्वीकार है। द्विवेदी जी की टिप्पणी है, 'बिना उद्देश्य का विरोध विनाशक है, पर साधु उद्देश्य से प्रणोदित विद्रोह शूर का धर्म है। उन्होंने अटल विश्वास के साथ अपने प्रेम-मार्ग का प्रतिपादन किया।' (वही, पृष्ट.191) प्रलोभन और आघात, सहज मानवीय दुर्बलताओं, रूढ़ियों और कुसंस्कारों से उनका अनवरत संघर्ष सरल नहीं था, लेकिन सच्चे शूर की भाँति कबीर उनसे जूझते रहे।

कबीर को प्राय: ही समाज सुधारक, युग-प्रवर्तक, सर्व-धर्म समन्वयकारी एक विशेष संप्रदाय के प्रतिष्ठाता आदि रूपों में से किसी एक का श्रेय दिया जाता रहा है। द्विवेदी जी मानते हैं कि कबीर मुख्यत: एक धर्म गुरू थे। इसलिए उनकी वाणियों में आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए। लेकिन अपनी भाषा और फक्कड़पन के कारण उनमें काव्यानंद का आस्वाद तलाशने वालों का भी दोष नहीं है। पूरे हजारों वर्षों के इतिहास में उनके व्यक्तित्व की महिमा और प्रतिद्वंद्विता के संदर्भ में वे एक बार फिर तुलसीदास का ही नाम लेते हैं। लेकिन दोनों के भक्त होने पर भी उनके स्वभाव, संस्कार और, दृष्टिकोण एकदम भिन्न थे। कबीर की मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाले तेज ने उन्हें हिंदी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में जीवन का स्पर्श और रस है लेकिन वे कबीर की निजता से इतनी सराबोर हैं कि उनका अनुकरण किया जाना असंभव है।

> *टास्क* आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक योगदान की चर्चा कीजिए।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीरदास का भक्तरूप ही उनका वास्तविक रूप है। उनके अन्य उल्लिखित रूप इस केंद्र के इर्द-गिर्द स्वयमेव प्रकाशित होते हैं। इस भक्ति या भगवान के प्रति अहेतुक अनुराग की बात कहते हुए उन्हें ऐसी बात-सी बातें कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं है पर भक्ति के अनुभव में सहायक हैं। यह मूल वस्तु भक्ति-चूँकि वाणी के अगोचर है इसलिए प्राय: ही कबीर को समझने में दिक्कत भी होती है। वाणी द्वारा अपने निगूढ़ अनुभव को वे जितना व्यक्त करते हैं, उतना ही 'छवनित' करते हैं। इस प्रसंग में द्विवेदी जी लिखते हैं, 'काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिए अकथ्य

का ध्वनन् काव्यशक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु की प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है–बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने आप बन गया है।' (वही, पृष्ठ. 225)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जब 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखा, हिंदी साहित्य के आरंभिक काल के संबंध में बहुत थोड़ी सी ही सामग्री उपलब्ध थी। उस उपलब्ध सामग्री के ही आधार पर उन्होंने, वीरगाथात्मक काव्यों की प्रमुखता के कारण, उस काल का नामकरण 'वीरगाथा काल' किया और उसके अतिरिक्त जो छिटपुट अन्य रचनाएँ उन्हें मिलीं उन्हें उन्होंने 'स्फुट' के अंतर्गत परिगणित किया। मुख्य धारा के बाहर की सामग्री के समावेश के लिए उन्होंने इस पद्धति का उपयोग ही प्राय: सर्वत्र किया। बाद में जैसे-जैसे आरंभिक काल के संबंध में और बहुत-सी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाश में आती गई, शुक्ल जी के कार्य की सीमाएँ भी स्पष्ट होती गईं। शुक्ल जी की सीमाएँ एक ओर यदि सामग्री की अनुपलब्धता के कारण उस काल के विवेचन में निहित अपूर्णता से संबंधित हैं वही उनकी दृष्टि से भी संबंधित हैं। अपनी पुस्तक 'नाथ-संप्रदाय' के दूसरे संस्करण की संक्षिप्त भूमिका में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'जैसे-जैसे नाथ-संप्रदाय के विस्तार और प्रभाव की जानकारी प्राप्त होती जा रही है। वैसे-वैसे इसका असाधारण महत्त्व भी स्पष्ट होता जा रहा है। भक्ति आंदोलन के पूर्व यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक आंदोलन रहा है। और बाद में भी पर्याप्त शक्तिशाली रहा हैं।' (नाथ संप्रदाय, द्वितीय संस्करण 66, 'निवेदन' पृष्ठ.7)

हजारी प्रसाद द्विवेदी पहली बार बहुत प्रामाणिक और व्यवस्थित ढंग से नाथ और सिद्ध साहित्य के विवेचन में प्रवृत्त होते हैं। वे विस्तार से नाथ संप्रदाय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और साधना पद्धतियों का विश्लेषण करते हैं। इसके निर्माण में अनेक बौद्ध शक्तिादि मतों की भूमिका, कापालिक और नाथमत के संबंध, नाथ योगियों की वेश-भूषा और सामाजिक प्रभाव आदि पर कदाचित् पहली बार इतनी सामग्री प्रकाश में आई है। इसी क्रम में वे मत्स्येद्र नाथ और गोरखनाथ साहित्य अनेक योगियों के जीवन और कार्यों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। मत्स्येंद्र नाथ के प्रसंग में वे कौल साधना के विकास और लक्ष्य की विस्तृत चर्चा करते हैं। गोरखनाथ के प्रसंग में वे इस बात पर क्षोभ प्रकट करते हैं कि शंकराचार्य के बाद उनकी तरह प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष देश में दूसरा न होने पर भी उनका जीवन किंवदंतियों के रूप में ही बचा रह गया है और उनका अधिकतर साहित्य भी शंका और संदेह के घेरे में है। उनसे पूर्व जिन लोगों ने इन क्षेत्रों में अत्यंत परिश्रम और निष्ठापूर्वक कार्य किया है–डा. प्रबोध चंद्र बागची, डॉ. मोहन सिंह, डा. पीतांबर दत्त बड़थ्वाल आदि-उनका कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख करते हुए वे इस कार्य को आगे बढ़ाते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी स्वीकार करते हैं कि संस्कृत में योगियों के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं वे साधारण तौर पर साधना मार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रंथ हैं। उनमें योगियों के दार्शनिक और नैतिक पक्षों पर अधिक सामग्री नहीं है। हिंदी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित हैं उनमें साधना मार्ग की व्याख्या तो है ही, योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक आग्रह आदि का परिचय भी स्पष्ट रूप में उपलब्ध है। इसी दृष्टि से इस सामग्री का विशेष महत्त्व भी है। जिस ज्ञान का उपदेश इस साहित्य में दिया गया है उसमें गुरु का विशेष महत्त्व है। इस मार्ग में निगुरे की कोई गति नहीं है। योगी के लिए मन की शुद्धता और दृढ़ता आवश्यक है। इसके बाद उसे रात दिन चलते रहने और तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं रहती। इस पंथ में हँसना खेलना कोई निषिद्ध कार्य नहीं है, मूल बात है चित्त की दृढ़ता। चित्त को पूरी तरह से साध लेने के बाद हँसने-खेलने में कोई बुराई नहीं है। काव्य और क्रोध से मन मुक्त हो, चित्त की शिथिलता उसे बहकने न दे तो हँसने-बोलने और गाने-बजाने वाले आदमी से नाथ जी प्रसन्न ही होते हैं। योगी को विवाद से बचना चाहिए और धैर्य उसका कवच है। वही उसकी साधना है। विकारों के भीतर से निर्विकार की प्राप्ति सचमुच एक निकट साधना है। लेकिन योगी का वास्तविक लक्ष्य वही है। एक पद में शिष्य गुरु से पूछता है कि उसका आचरण कैसा हो। वह यदि वन में जाता है तो उसे भूख सताती है, नगर में जाता है तो माया व्यापती है, भरपेट खाता है तो मन में विकार उत्पन्न होता है। उसकी समस्या यह है कि जल बिंदु से निर्मित उसकी काया कैसे सिद्ध हो? इस पर गुरु मध्य मार्ग का उपदेश देता

नोट

है। खाने पर टूट न पड़े, बिन खाए भी न रहे, दिन-रात अंतर की बुद्धि-अग्नि का रहस्य-चिंतन करना, किसी बात पर आग्रह न रखना, एकदम निकम्मा भी न हो जाना-ऐसा ही गोरखनाथ कह गए हैं।

योगी की दृष्टि में गृही सबसे दयनीय जीव है। वही काम-क्रोध का दास होता है। एक बार गृहस्थाश्रम के बंधन में बंध जाने के बाद वह ज्ञान का अधिकारी नहीं रह जाता है। गृहस्थ का ज्ञान, नशेड़ी का ध्यान, बूचे का कान, वेश्या का मान और वैरागी का माया-मोह इनके मत में एक-सा निरर्थक है। योगी का आदर्श पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन है। बिंदु के संयमन से ही बड़ी सिद्धि मिलती है। लेकिन बिंदु से निर्मित होने के कारण यह शरीर भी अशुद्ध है। माता-पिता द्वारा प्राप्त इस धातुमय शरीर को मिटा देने से ही नाथ-पद तक पहुँचना संभव है। मन को गुरुमुख करने से और काया को अग्निमुख करने से ही शरीर की अपवित्रता मिटाकर नाथ-पद तक पहुँचा जा सकता है। मध्यकालीन संतों को नाथ संप्रदाय से यह बनी-बनाई आचरण संहिता और साधना-भूमि उपलब्ध थी। इसके ऋणात्मक पक्ष पर टिप्पणी करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं, 'इस मार्ग की सबसे बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है, इस कमजोरी ने इस मार्ग को नीरस लोक-विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था।' इसके बाद अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं, 'फिर भी इसका दृढ़ कंठस्वर उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। इस दृढ़ कंठस्वर ने यहाँ की धार्मिक साधनों में कभी भी गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलपन नहीं आने दिया उत्स भारत के साहित्य में भी इनके कारण दृढ़ता और आचरण शुद्धि भुलाई नहीं जा सकती है।' (वही, पृष्ठ. 227)

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में काल-निर्धारण करते हुए हिंदी साहित्य के आरंभिक काल का नामकरण 'वीरगाथा काल' करते हुए इसका काल संवत् 1050 से 1375 तक माना था। वीरगाथा-काल के अंतर्गत उन्होंने खुम्मान रासो, बीसलदेव रासो, चंदबरदाई, जगनिक आदि कवियों की चर्चा की थी। बाद मे इस काल में संबंधित अन्य सामग्री प्रकाश में आने पर एक ऐसे नाम की खोज की गई जो उस सारी सामग्री का समावेश करते हुए पूर्णता का बोध दे सके। ऐसे अनेक प्रयासों में दो विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

क्या आप जानते हैं राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध और नाथों के तब उपलब्ध हो चुके साहित्य और वीरगाथा काव्य की केंद्रीय प्रवृत्ति को मिलाकर इसके लिए 'सिद्ध-सामंत काल' नाम प्रस्तावित किया जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका नामकरण' आदिकाल' किया।

इस समूचे काल खंड की रचना-प्रवृत्तियों के किसी उल्लेख के बिना भी, अपनी सर्वसमावेशिता के कारण यह नाम अधिक सार्थक और स्वीकार्य समझा गया और हिंदी साहित्य के परवर्ती इतिहास लेखन में प्राय: इसे ही स्वीकार करके चला गया है।

सन् 1952 में बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, घटना के तत्वावधान में द्विवेदी जी द्वारा दिए गए पाँच व्याख्यान 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' नाम से उसी वर्ष पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। परिषद् के मंत्री के रूप में आचार्य शिवपूजन सहाय ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा, 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल' अब तक प्राय: अंधकार के आवरण से ढका सा रहा है। इस आवरण को हटाकर अंधकार में प्रकाश फैलाने का प्रथम प्रयत्न संभवत: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने ही किया है।' (हिंदी-साहित्य का आदि काल, संस्करण 1961 में प्रथम संस्करण का वक्तव्य) पुस्तक के दूसरे संस्करण, सन्-1956 में प्रकाशित-की अपनी भूमिका में द्विवेदी जी ने स्वीकार किया कि हिंदी के आरंभिक साहित्य के संबंध में जो उलझनें उनके मन में थीं और उनका जो समाधान उन्हें ठीक लगता था उसे ही उन्होंने यथासंभव स्पष्ट भाषा में अपने इन व्याख्यानों में प्रस्तुत किया था।

अपने पहले व्याख्यान में द्विवेदी जी कृतज्ञता पूर्वक इस क्षेत्र शोध करने वाले अनेक देशी-विदेशी कार्य का उल्लेख

नोट

करते हैं–पिशेल, हीरालाल जैन, राहुल सांकृत्यायन, मुनि जिनविजय, कस्तुर चंद कासलीवाल आदि, जिनके प्रयासों के फलस्वरूप अब अपभ्रंश के महत्त्वपूर्ण साहित्य के एकदम लुप्त होने की बात नहीं कही जा सकती। इस सामग्री का वे सुविस्तृत ब्यौरा देते हैं और इस बात से वो अपने मतभेद प्रकट करते हैं कि उन्हें केवल सूखा धर्मोपदेश–मात्र मानकर उनके साहित्यिक महत्त्व को पूरी तरह नकार दिया जाना चाहिए। इस प्रवृत्ति के समर्थन में कुछ लोग शुक्ल जी का नाम भी लेते थे। इस सामग्री पर टिप्पणी करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं, 'परंतु जिस सामग्री की चर्चा की गई है, उनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं, जो धार्मिक तो हैं किंतु उनमें साहित्यिक सरसता बनाए रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है, जिसमें धर्म–भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आंदोलित, मथित और प्रवाहित कर रही हो'...(वही पृष्ठ. 11) इस धर्म को मानवीय संवेदना के आधार पर वे इन जैन रचनाओं के साथ बौद्ध सिद्धों की रचनाओं को भी 'विजयपाल रासो' और 'हम्मीर रासो' की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य माने जाने पर बल देते हैं। जैन–अपभ्रंश चरित काव्यों की जो विपुल सामग्री प्रकाश में आई है वह धार्मिक और सांप्रदायिक कहकर नकार दिए जाने के योग्य नहीं है। स्वयंभू, चतमुर्ख, पुष्पदंत और धनपाल जैसे कवियों को वे इसी श्रेणी में रखते हैं। अपभ्रंश का यह साहित्य आदिकालीन हिंदी–साहित्य के काव्य–रूपों के अनुमान में अत्यंत उपयोगी और मूल्यवान है।

शुक्ल जी ने इस काल की जो सीमा मानी थी—संवत् 1050 से 1375 तक–द्विवेदी जी भी उसे लगभग स्वीकार करते हैं। वे भी इस साधारणत: दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच रचे गए साहित्य के रूप में अपनी सहमति जताते हैं। लेकिन वे इस विपुल साहित्य को सामने रखकर काव्य की सम्यक्परीक्षा के बाद ही, उसके मर्म की पहचान पर बल देते हैं। वे स्पष्ट लिखते हैं, 'केवल संयोगवश इधर–उधर से उपलब्ध प्रमाणों के बल पर किसी बात को अमुक का प्रभाव और किसी को अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रिया कहकर व्याख्या कर देना ना तो बहुत उचित है और न बहुत हितकर।' (वही, पृष्ठ. 26)

अपभ्रंश में उपलब्ध चरितकाव्य, जो अधिकांश जैन–परंपरा से प्राप्त हुए हैं, हिंदी–भाषी क्षेत्र से बाहर रचित है। उनसे ही यह भी सूचना मिलती है कि जैनेतर–परंपरा में भी प्रचुर काव्य–साहित्य की रचना हुई जो नाना ऐतिहासिक कारणों से सुरक्षित नहीं रह सका। डॉ. बूलर को 'पृथ्वीराज–विजय' की मिली खंडित प्रति इसका उदाहरण मात्र है। हजारी प्रसाद द्विवेदी रासो को प्रक्षिप्त और विकृत हुई रचना मानने पर भी उसके मूल रूप को साहित्य और भाषा की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना होने की संभावना मानते हैं। वे रासों के विभिन्न उपलब्ध रूपों की चर्चा करते हैं और रासो की प्रमाणिकता का संघान करते हैं। इसी प्रसंग में वे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की भारतीय परंपरा का उल्लेख विस्तारपूर्वक करते हुए संस्कृत और प्रकृत में लिखित ऐसे काव्यों से अनेक उदाहरण जुटाते हैं। वाणभट्ट के 'हर्षचरित' से लेकर विद्यापति के 'कीर्तिलता' तक ऐसे व्यक्ति–केंद्रित काव्यों की एक विशिष्ट परंपरा रही है। द्विवेदी जी इस ओर भी संकेत करते हैं कि इस देश में इतिहास को वस्तुत: आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति शुरू से रही है। इसी कारण ऐतिहासिक व्यक्तियों पर केंद्रित काव्य को भी इतिहास के रूप में कभी नहीं लिया गया। विद्यापति का 'कीर्तिलता' अपने आश्रयदाता राजा की कीर्ति–गायन के उद्देश्य से लिखा जाने पर भी अपनी प्रकृत में एक विशिष्ट रचना है। इसके महत्त्व पर द्विवेदी जी की टिप्पणी है, 'कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामंजस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाती है; बल्कि उस शिल्पी की टाँकी के समान है जो मूर्तियाँ के भित्तिगात्र में उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति के ऊँचाई–निचाई का पूरा–पूरा अनुभव करते हैं। उस काल के मुसलमानों का, हिंदुओं का, शहरों का, लड़ाइयों का, सेना के सिपाहियों का इतना जीवंत और यथार्थ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। कवि ने जो भी सामने आ गया उसका ब्यौरेवार वर्णन करके चित्र को यथार्थ बनाने का प्रयत्न नहीं किया है; बल्कि आवश्यकतानुसार निर्वाचन, चयन और समंजस योजना के द्वारा चित्र को पूर्ण और सजीव बनाने का प्रयत्न किया है।' (वही, पृष्ठ. 79)

नोट

इन काव्यों में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियों पर भी द्विवेदी जी विस्तारपूर्वक और सोदाहरण विचार करते हैं। इन कथानक रूढ़ियों को आधार बनाकर मूल काव्य में प्रक्षेपण की संभावनाओं की ओर भी वे संकेत करते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में ऐसे प्रक्षिप्त अंशों के बाहुल्य पर चुटकी लेते हुए वे लिखते हैं, 'यह प्रसिद्ध है कि चंद के पुत्र ने इस ग्रंथ को पूरा किया था। पता नहीं, इस 'पुत्र' ने कितना विस्तार किया है। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इन 'पुत्रों' की संख्या बहुत अधिक रही है और दो-तीन शताब्दियों तक उनका प्रभुत्व रहा है।' (वही, 96)

द्विवेदी जी आदिकाल में प्रचलित और प्रयुक्त काव्य रूपों पर विचार करते हुए परवर्ती कवियों द्वारा उनके ग्रहण करने और छोड़ देने की संभावनाओं पर भी विचार करते हैं। तुलसीदास ने 'साखी' के अतिरिक्त धर्म-निरूपण के जिस एक और साधन का उल्लेख किया है वह 'दोहरा' ही वस्तुतः दोहा है। लेकिन ये 'दोहे' भी साखी से भिन्न नहीं थे। नाथपंथियों और कबीर पंथियों के दोहे ही 'साखी' कहे जाते हैं। द्विवेदी जी इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि तुलसीदास ने जहाँ लोक प्रचलित और जनप्रिय काव्य रूपों का भरपूर उपयोग किया वहीं उन्होंने 'आल्हा' को क्यों छोड़ दिया जबकि यह राम के चरित गायन में बहुत उपयोगी हो सकता था। द्विवेदी जी बहुत विश्वासपूर्वक कुछ भी न कह सकने की बात कहते हुए भी-अनुमान लगाते हैं कि 'आल्हा' तब तक शायद अस्तित्व में न आया हो और अपने वर्तमान रूप में वह तुलसीदास के बाद ही संगृहीत हुआ हो। इस बात का संकेत शुरू में ही किया गया है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक और कल संबंधी संस्कारों के निर्माण में शांतिनिकेतन की एक विशिष्ट भूमिका थी। यही उन्होंने वह सौंदर्य-बोध भी प्राप्त किया जो निषेध, वर्जनाओं और कुंठाओं से मुक्त जीवन के स्वीकार पर पला-पुसा था। उसमें सौंदर्य के प्रति निषेध की वह आर्य समाजी प्रवृत्ति नहीं थी जो हिंदी में अपने नैतिक आग्रहों को कुछ अधिक ही महत्त्व देती दिखाई देती है। स्त्री के प्रति सहज, उदार और अकुंठित दृष्टि उन्हें शरतचंद्र और रवींद्रनाथ से ही मिली थी जिसके भरपूर संकेत 'बाणभट्ट' की आत्मकथा' में आसानी से देखे जा सकते हैं। अपनी उत्सवधर्मी परंपरा के उत्खनन की प्रेरणा उन्हें शांति निकेतन से ही मिली थी- उत्सव, पर्व, कलाओं और देश सांस्कृतिक विरासत के उन्मुक्त स्वीकार के रूप में। उनका सौंदर्य-बोध जीवन की संपूर्णता के प्रति आग्रहशील है जो साधुओं-वैरागियों के निवृत्त मार्ग से तो मुक्त है लेकिन जिसमें संयम और आत्मानुशासन का अभाव नहीं है। 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' और 'कालिदास की लालित्य-योजना' जैसी उनकी रचनाएँ उसका उल्लेखनीय उदाहरण हैं। प्राचीन भारत में कला-विनोद के संबंध में वे लिखते हैं, 'हमारे पास जो पुराना साहित्य उपलब्ध है उसका महत्त्वपूर्ण अंश वैरागी साधुओं द्वारा वैरागी साधुओं के लिए ही लिखा गया है। नाच-गान का स्थान उसमें है ही नहीं, फिर भी वह लोक विच्छिन्न नहीं है, इसलिए किसी न किसी बहाने उसमें लोक प्रचलित कलात्मक विनोदों की बात आ ही जाती है। बौद्धों और जैनों के विशाली साहित्य में ऐसे उल्लेख नितांत कम नहीं हैं।' (प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, संस्करण 63 पृष्ठ.1) कला और उससे संबंधित विनोदों को वे लोकरुचि, लोकजीवन और लोक संस्कारों से जोड़ कर देखते हैं। यही कारण है कि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में वर्णित और निर्दिष्ट कलाएँ भी उनके विचार क्षेत्र से बाहर नहीं है। यह ठीक है कि इन कलाओं और उनमें उल्लिखित जीवन पद्धति संपन्न और समृद्ध नागरिक-समाज भी अछूता नहीं था। प्राचीन साहित्य में अंतः पुर का जीवन, वृक्षवाटिका, पक्षी, उद्यान, नृत्य और संगीत, उत्सव और प्रेक्षागृह आदि की चर्चा द्विवेदी जी विस्तार से करते हैं। मदनोत्सव और वसंत का यहाँ विशेष महत्त्व है।

द्विवेदी जी इस ओर भी संकेत करते हैं कि इस प्राचीन भारतीय साहित्य के विदेशी पठकों को इस बात से आश्चर्य होता है कि इस साहित्य में असंतोष और विद्रोह का कोई भाव है ही नहीं। इसके कारण का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं, 'पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धांतों को स्वीकार कर लेने के कारण पुराना भारतीय इस जगत को एक उचित और सामंजस्यपूर्ण विधान ही मानता आया है। यदि दुःख है तो इसमें असंतुष्ट होने का कोई हेतु नहीं क्योंकि मनुष्य इस जगत में अपने किए का फल भोगने ही आया है। इस असंतोष के अभाव ने सामाजिक वातावरण को आनंद उल्लास और उत्सव के अनुकूल बना दिया है। यही कारण है कि भारतीय चित्त इन उत्सवों को केवल थके हुए दिमाग का विश्राम नहीं समझकर, वह इसे मांगल्य मानता है। नाच, गान, नाटक केवल मनोविनोद नहीं है, परम

मांगल्य के जनक हैं, इनको विधिपूर्वक करने से गृहस्थ अनेक पुराकृत कर्म से उत्पन्न विघन्न नष्ट होते हैं, पापक्षय होता और सुललित फलों वाला कल्याण होता है।' (वहीं, पृष्ठ. 179)

इन कला विनोदों को प्रश्रय और संरक्षण देने वाली सामाजिक संरचना के संदर्भ में द्विवेदी जी इन प्रवृत्ति का उल्लेख भी करते हैं कि जिस समाज में उन्हें इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता था उसमें भारतीय गृहस्थ यह नहीं चाहता था कि उसके घर की बहू-बेटी इन गोष्ठी-विहारों और उत्सवों में भाग ले। कामशास्त्र के आचार्य भी गृहस्थों को यही सलाह देते हैं कि इन हुजूमों से अपनी स्त्रियों को अलग रखें। पदम् श्री नामक एक बौद्ध कामशास्त्री के ऐसे निषेध का वे स्पष्ट उल्लेख करते हुए निष्कर्ष निकालते हैं, 'परंतु ये निषेध ही इस बात के सबूत हैं कि स्त्रियाँ इन उत्सवों में जाती जरूर थीं।' (वही, पृष्ठ.180) लेकिन नाच-गाने को पेशे के रूप में स्वीकार करने वाली जातियों को समाज में ऊँची निगाह से नहीं देखा जाता था। इसके साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं, 'इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि अंत:पुर की बधुएँ नाटकों का अभिनय करती थीं। यहाँ नाट्य और नाट्य के प्रयोक्ता दोनों ही पवित्र और मोहनीय होते थे। यहीं वस्तुत: भारतीय कला अपने पवित्रतम रूप में पालित होती थी। गृहस्थ का मर्मस्थान उसका अंत:पुर है और वह अंत: पुर जिन दिनों स्वस्थ था उन दिनों वहाँ सुकुमार कला की स्रोतस्विनी बहती रहती थी। अंत:पुर की देवियों का उच्छृंखल उत्सवों और यात्राओं में जाना निश्चय ही अच्छा नहीं समझा जाता था। परंतु इसका मतलब यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि स्त्रियाँ हर प्रकार के नाट्य रंग से दूर रखी जाती थीं।' (वही, पृष्ठ. 180)

कालिदास के संदर्भ में वे 'कृति' और 'तत्वान्वेषी' के बीच अंतर करते हुए कालिदास को पहली कोटि में रखते हैं। इस प्रसंग में वे स्वयं कालिदास से ही शकुंतला को देखकर दुष्यंत की ऊहापोह और भौंरे के सौंदर्यपान का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसे वे तत्वान्वेषण की विडंबना भी मानते हैं। सौंदर्य बोध की अपेक्षा, कालिदास के लिए वे 'लालित्य' शब्द अधिक सार्थक और व्यंजक मानते हैं। कालिदास इस विश्व व्यवस्था के मूल में एक व्यापक छंद की बात स्वीकार करते हैं। यह छंद सर्जनेच्छा या सिसृक्षा का ही एक रूप है। इसे स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं, 'जहाँ कहीं आकर्षण है, उल्लास है, वहीं सृष्टि की इस मूल छंदोधारा के अनुकूल जाने की प्रवृत्ति है। जहाँ नहीं है वहाँ इस मूल छंदोधारा का प्रतिकूल्य है। वहीं वस्तु असुंदर और भद्दी है।' (कालिदास की लालित्य योजना, संस्करण' 1970, पृष्ठ. 65) कालिदास ने प्रकृति की रमणीयता के अनेक मोहक चित्र दिए हैं परंतु उनका मन विशेष रूप से मानव-सौंदर्य के अंकन में ही रमता है। विधाता की कल्पना एक कलाकार के रूप में करके कालिदास वस्तुत: मानव-कलाकार की रचना-प्रक्रिया की ओर इंगित करते हैं। 'मेघदूत' में यक्ष द्वारा बनाए गए अपनी प्रिया के चित्र का उसी के आँसुओं से घुल जाने के प्रसंग में वे सौंदर्य में सात्विकता पर विशेष बल देते हैं। राजस्व भाव का शिकार होने पर उसके नेत्रों से वहीं अश्रुधारा उस चित्र को धो देती है और चित्र में भी उसका मिलन हो नहीं पाता है। उदेक कला में बाधक होता है। उसके कारण ही कलाकार 'शिथिल समाधि' की अवस्था में आ जाता है और सौंदर्य विकृत एवं अपूर्ण रह जाता है। द्विवेदी जी की टिप्पणी है, 'कलाकार के रूप में यक्ष सस्वस्थ रहता है। दृष्टा के रूप में राजस भाव में। अस्तु! रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत चित्त से प्राणवंत सुकुमार सौंदर्य नहीं निकल सकता। यह कालिदास का निश्चित मन है—'न प्रभात रलं ज्योतिरूदेति वसुधातलात्'—धरती से प्रभा-चंचल ज्योति का उदय नहीं हो सकता।' (वही, पृष्ठ. 72) कालिदास सहज-अनायास-को ही सौंदर्य का मूल कारक स्वीकार करते हैं। स्त्री और पुरुष के सहज गुणों को ही वे विशेष मान देते हैं। इन गुणों के होने पर बाहरी आवरण की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती है। यही कारण है कि शकुंतला वल्कल-वेष्टिता होकर और भी मनोज्ञा बन गई है। इसी प्रकार दिलीप राज चिह्न छोड़ देने पर भी अपने तेजो विशेष की दीप्ति से पहचान लिए जाते हैं। शोभा और सौंदर्य के वर्णन में कालिदास नवयौवन को विशेष महत्त्व देते हैं।

कालिदास ने 'कुमारसंभव' में त्याग और भोग के सामंजस्य पर विशेष बल दिया है। प्रवृत्ति के प्रबल हो जाने से ही त्याग और भोग का संतुलन टूटता है। 'कुमारसंभव' में कालिदास वसंत प्रकृति की सर्वव्यापी यौवन-लीला के बीच हर-पार्वती के मिलन-चांचल्य को विन्यस्त करके उन की मर्यादा सुरक्षित रखते हैं। यहाँ त्याग के साथ ऐश्वर्य,

नोट

तपस्या के साथ प्रेम का मिलन होने पर ही उस शौर्य का जन्म होता है जिसके द्वारा मनुष्य का सर्वप्रकार की पराजय से उद्धार संभव है। कालिदास की अधिकांश नायिकाएँ–पार्वती, सुदक्षिणा, सीता, शकुंतला आदि–तपोवनों में पली, शील और संयम में रसी-बसी हैं। उनके काव्य में विलासवती सुंदरियों का अभाव नहीं है—लेकिन उर्वशी, मालविका, यक्ष, रति, इंदुमती आदि भी विलास में नहीं कष्ट में ही निखरी और संपूर्ण हुई हैं। विवाह के मांगल्य आभूषणों से वधू को सजाना कालिदास को विशेष प्रिय है। नारी के सौंदर्य-चित्रण में विशेष रुचि होने पर भी कालीदास प्रेम की पूर्णता वात्सल्य में ही देखते हैं। प्रेम उनके यहाँ लक्ष्यहीन विलास मात्र नहीं है। वह वात्सल्य से शुरू होकर वात्सल्य में ही पर्यवसित होता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य को निरंतर और निर्बाध प्रवाहित सांस्कृतिक परंपराओं के एक अंग के रूप में देखते हैं। इस सांस्कृतिक प्रवाह में एक ओर यदि जीवन के सकारात्मक पक्षों की विशिष्ट भूमिका है वहीं वह संस्कृति मानवीय विकार की जययात्रा का भी एक सुनिश्चित प्रमाण है। वे संस्कृति को एक सामाजिक परिघटना के रूप में देखते हैं जिसमें पता नहीं कितने काल से कितने सांस्कृतिक प्रभावों का योगदान रहा है। जिसे आर्य या हिंदू संस्कृति कहा जाता है, उसके विकास और वर्तमान रूप में भी पता नहीं कितने आर्येतर संस्कृतियों का प्रभाव सहज ही लक्षित किया जा सकता है। संस्कृति कोई स्थिर और अपरिवर्तनीय तत्त्व नहीं है। सामाजिक विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया में उसका बदलना भी अनिवार्य है।

नोट्स संस्कृति और मानवीय विकास की द्विवेदी जी की अवधारणा मार्क्सवादी चिंतकों–राहुल सांकृत्यायन और भगवत शरण उपाध्याय आदि–की अवधारणा से आश्चर्यजनक रूप से मेल खाती है।

यही कारण कि सांस्कृतिक परंपराओं के अनुशीलन के संदर्भ में वे जन-चेतना और लोक जीवन को विशेष महत्त्व देते हैं। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वे जैन और सिद्ध साहित्य की उदार धार्मिक और मानवीय प्रकृति को तो रेखांकित करते ही हैं नाथ-साहित्य को समाज-विरोधी समझने वाली दृष्टि का भी प्रत्याख्यान करते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए मैनेजर पांडेय ने लिखा है, 'किसी समाज या जाति की चिंतनधारा की समग्रता और जीवंतता का बोध केवल शिष्ट साहित्य के इतिहास से ही नहीं हो सकता क्योंकि समाज या जाति की चिंतनधारा की समग्रता विभिन्न सांस्कृतिक रूपों में होती है। इसीलिए चिंतनधारा की समग्रता के बोध के लिए साहित्य के इतिहास को संस्कृति के इतिहास के अंग के रूप में विकसित करना जरूरी है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि किसी समाज या जाति की चिंतनधारा की समग्रता और जीवंतता अभिजात संस्कृति और अभिजात साहित्य में ही प्रकट नहीं होती, उसकी सच्ची अभिव्यक्ति जन संस्कृति और जन साहित्य में होती है। इसलिए साहित्य के इतिहास को सांस्कृतिक इतिहास के अंग के रूप में विकसित करने के लिए उसमें जन संस्कृति और जन साहित्य का समावेश करना भी जरूरी है। द्विवेदी जी बार-बार हिंदी साहित्य को लोकभाषा में हिंदी भाषी जनता की चिंतनधारा, अनुभूति और संवेदनशीलता की अभिव्यक्ति कहते हैं और हिंदी साहित्य के इतिहास को अधिकाधिक पूर्ण बनाने के लिए लोक गीतों, लोक कथाओं और लोक प्रचलित काव्यरूपों के अध्ययन पर जोर देते हैं।' (साहित्य और इतिहास-दृष्टि, संस्करण 81, पृष्ठ. 163) द्विवेदी जी हिंदी में एकमात्र ऐसे आलोचक हैं जो अपने समकालीन साहित्य में किसी गंभीर हस्तक्षेप के बिना भी अपने समय के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं। उनकी इस शक्ति के पीछे एक ओर यदि उत्पीड़ित वर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति रही है वहीं मनुष्य की जययात्रा में उनका अखंड विश्वास भी रहा है। वे प्रगतिवादी आंदोलन के विरोध से अपनी यात्रा शुरू ने करके उससे सक्रिय सहयोग और समर्थन से शुरू करते हैं। वे अपने समय की रचनाशीलता में अधिक हस्तक्षेप भले ही न करते हों, उसकी चिंतनधारा और विचार सरणियों में हस्तक्षेप अवश्य करते हैं। उनके हस्तक्षेप की यह दृष्टि सांस्कृतिक परंपराओं और साहित्य के उनके अनुशीलन में स्पष्ट देखी जा सकती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. वीरगाथा काल में निम्नलिखित में से किसकी चर्चा नहीं की गई है–
   (अ) चंदबरदाई (ब) वीसलदेव रासो
   (स) खुम्मान रासो (द) तुलसीदास।
5. 'कुमारसंभव' किसकी रचना है?
   (अ) तुलसीदास (ब) कालिदास
   (स) सूरदास (द) इनमें से कोई नहीं।
6. 'कामसूत्र' किसकी रचना है?
   (अ) कालिदास (ब) वात्स्यायन
   (स) सूरदास (द) इनमें से कोई नहीं।

22.3 सारांश (Summary)

- 'सूर साहित्य' में द्विवेदी जी सूरदास को 'भारतीय साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रत्नों में है'–की प्रतिज्ञा के साथ स्थापित करते हैं।
- हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृत, बौद्ध और जैन साहित्य पर भी हिंदी साहित्य की 'भूमिका' के रूप में विचार करते हैं।
- कबीर हजारी प्रसाद द्विवेदी को इसलिए विशेष रूप से प्रिय है क्योंकि वे 'बहुत कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे।'
- हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीरदास का भक्तरूप ही उनका वास्तविक रूप है। उनके अन्य उल्लिखित रूप इस केंद्र के इर्द-गिर्द स्वयमेव प्रकाशित होते हैं।
- हजारी प्रसाद द्विवेदी स्वीकार करते हैं कि संस्कृत में योगियों के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं वे साधारण तौर पर साधना मार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रंथ हैं। उनमें योगियों के दार्शनिक और नैतिक पक्षों पर अधिक सामग्री नहीं है।
- हजारी प्रसाद द्विवेदी रासो को प्रक्षिप्त और विकृत हुई रचना मानने पर भी उसके मूल रूप को साहित्य और भाषा की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना होने की संभावना मानते हैं।
- द्विवेदी जी आदिकाल में प्रचलित और प्रयुक्त काव्य रूपों पर विचार करते हुए परवर्ती कवियों द्वारा उनके ग्रहण करने और छोड़ देने की संभावनाओं पर भी विचार करते हैं।
- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य को निरंतर और निर्बाध प्रवाहित सांस्कृतिक परंपराओं के एक अंग के रूप में देखते हैं। इस सांस्कृतिक प्रवाह में एक ओर यदि जीवन के सकारात्मक पक्षों की विशिष्ट भूमिका है वहीं वह संस्कृति मानवीय विकार की जययात्रा का भी एक सुनिश्चित प्रमाण है।

22.4 शब्दकोश (Keywords)

- अभिभूत : पराजित किया हुआ, पीड़ित, चकित
- तत्वान्वेषी : तत्त्व की खोज करने वाला

नोट

22.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की लेखन कुशलता पर एक नोट लिखिए।
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक योगदान की विवेचना कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. रवीन्द्रनाथ 2. कबीर 3. 1050 से 1375 ई० 4. (द)

5. (ब) 6. (ब)।

22.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. आलोचना एवं आलोचक – *डॉ. बच्चन सिंह।*

Reeta Singh, Lovely Professional University

इकाई–23 : महादेवी वर्मा एवं डॉ. नगेन्द्र की लेखन कुशलता एवं उनका साहित्यिक योगदान

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

23.1 महादेवी वर्मा की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान

23.2 डॉ. नगेन्द्र की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान

23.3 सारांश (Summary)

23.4 शब्दकोश (Keywords)

23.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

23.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- महादेवी वर्मा की लेखन कुशलता जानने हेतु।
- महादेवी वर्मा के साहित्यिक योगदान को समझने हेतु।
- डॉ. नगेन्द्र के साहित्यिक योगदान को जानने हेतु।
- डॉ. नगेन्द्र की लेखन कुशलता को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

महादेवी वर्मा छायावाद युग की महान कवयित्री हैं। साथ ही उन्होंने गद्य लेखन की विविध विधाओं में उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय देकर इन विधाओं को समृद्ध किया है। उनके द्वारा रचित 'शृंखला की कड़ियाँ', 'साहित्यकार की आस्था' तथा अन्य निबंध, 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएं', 'पथ के साथी' आदि गद्य-कृतियां चिरस्मरणीय गद्य ग्रंथ हैं।

दूसरी ओर, डॉ. नगेन्द्र ने अपना साहित्यिक जीवन, छायावाद की छाया में एक कवि के रूप में शुरू किया था। उनकी 'वन बाला' और 'छंदमयी' में एक रोमानी कवि देखा जा सकता है।

23.1 महादेवी वर्मा की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान

महादेवी वर्मा कवि-कर्म को एक साहित्यिक और सांस्कृतिक कर्म के रूप में देखती और परिभाषित करती हैं। काव्य-रचना में वे 'सत्य' और 'सौंदर्य' के समन्वय पर बल देती हैं। इनमें सत्य काव्य का साध्य है, सौंदर्य उसका

नोट

साधन। इसी तरह सत्य के अन्वेषण में वे बुद्धि और रागतत्व के समन्वय पर जोर देती हैं। कला में बुद्धि और ज्ञान पर वे अनुभूति को वरीयता देती हैं।

नोट्स आत्यांतिकता की अपेक्षा महादेवी सब कहीं समन्वय की विराट चेष्टा को ही जीवन में और उसी तरह काव्य में भी आवश्यक मानती हैं।

यथार्थ और आदर्श, व्यष्टि और समाज, लौकिक और अलौकिक सब कहीं वे इस समन्वय की खोज करती हैं। वैसे तो संपूर्ण छायावादी काव्य ही अपनी प्रकृति में आत्मवादी–सब्जेक्टिव–है, लेकिन महादेवी के प्रसंग में यह कुछ ज्यादा ही सच है। उनकी दृष्टि में कवि की अनुभूति, उसका हृदय, पारस–मणि की तरह है जो अपने स्पर्श से हर छुई जाने वाली वस्तु को सोना कर देती है। उनके काव्य पर भले ही बौद्धदर्शन का गहरा प्रभाव हो लेकिन बड़े से बड़े दार्शनिक सत्यों की अपेक्षा वे वेदना की अनुभूति को ही कवि–कर्म का मूलाधार मानती हैं।

समय–समय पर लिखे गए महादेवी के निबंधों का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण चयन गंगाप्रसाद पांडेय के संपादन में 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' नाम से प्रकाशित हुआ। अपने इन निबंधों में महादेवी काव्यकला, आदर्श और यथार्थ, रहस्यवाद, छायावाद आदि विषयों पर गंभीरता से विचार करती हैं। इसके साथ ही अपने समकालीन अन्य छायावादी कवियों की तरह उनकी काव्य–कृतियाँ–'यामा', 'दीपशिखा' और 'आधुनिक कवि' की भूमिकाएँ भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण सूत्रों की ओर संकेत करती हैं। छायावाद को वे 'करुणा की छाया में सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद' के रूप में परिभाषित करती हैं। इस सर्ववाद की मुख्य भावभूमि प्रकृति है। करुणा इसी सर्ववाद की सृष्टि है।

अपनी 'दीपशिखा' की भूमिका में वे अपने कवि–कर्म के संदर्भ में काव्य से संबंधित अनेक सवालों पर गंभीरता से विचार करती हैं। काव्य को वे उपयोगी और ललित कला के वर्गीकरण जैसे खानों में बाँटकर देखे जाने का विरोध करती हैं। तात्विक दृष्टि से वे उपयोगिता और लालित्य में कोई मौलिक भेद नहीं देखतीं। उनके अनुसार उपयोगिता को स्थूल दृष्टि से परिभाषित करने के कारण ही ऐसे किसी वर्गीकरण पर बल दिया जाता है। सौंदर्य और कवि–कर्म की उपयोगिता वे जीवन को भावात्मक दृष्टि से समृद्ध बनाकर मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के विस्तार में देखती हैं। जीवन और काव्य में वे उपयोगिता का निषेध न करके, अनेक सूक्ष्म स्तरों पर उसे व्याख्यायित करने का आग्रह करती हैं। इस आधार पर वे कवि–कर्म के नैतिक आधार की खोज में प्रवृत्त होती हैं। इन नैतिक मूल्यों को वे जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक मानती हैं क्योंकि इसके अभाव में जीवन का सामंजस्यपूर्ण विकास असंभव है।

टास्क महादेवी वर्मा की लेखन कुशलता पर टिप्पणी लिखिए।

महादेवी छायावाद पर लगाए गए अनेक आरोपों का निराकरण करती हैं। उनके तर्क पूरी तरह से स्वीकार्य भले ही न हों, लेकिन छायावाद संबंधी विवेचन में उनसे एक व्यापक आधार अवश्य उपलब्ध होता है। उनकी आलोचना अपनी प्रकृति में सांस्कृतिक और सौष्ठववादी है जो सामयिक प्रश्नों की अपेक्षा शाश्वत काव्य–मूल्यों की खोज और निर्माण पर अधिक बल देती हैं। उनकी शैली आलंकारिक और चित्रात्मक है जिसमें वे बड़े निरुद्वेग और शांतभाव से अपने तर्क प्रस्तुत करती हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. 'अतीत के चलचित्र' निबंध .... द्वारा लिखा गया है।
2. महादेवी वर्मा अपनी .... की भूमिका में अपने कवि-कर्म के संदर्भ में काव्य से संबंधित अनेक सवालों पर गंभीरता से विचार करती हैं।
3. महादेवी .... पर लगाए गए अनेक आरोपों का निराकरण करती हैं।

> *क्या आप जानते हैं* एक काव्यांदोलन के रूप में छायावाद और उस काव्यधारा की उपलब्धियों एवं विशिष्टताओं के रेखांकन में जिन अन्य आलोचकों ने उल्लेखनीय कार्य किया उनमें शांतिप्रिय द्विवेदी और गंगाप्रसाद पांडेय मुख्य हैं।

इन्हीं के साथ, भले ही छायावाद उनकी वैसी प्रतिश्रुति में न आता हो, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का आलोचना-कर्म भी विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। शुक्लोत्तर आलोचना जिन नई दिशाओं की ओर अग्रसर हुई उनका संकेत भी इन आलोचकों से मिल जाता है।

23.2 डॉ. नगेन्द्र की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान

नगेंद्र ने अपना साहित्यिक जीवन, छायावाद की छाया में, एक कवि के रूप में शुरू किया। उनकी 'वनबाला' और 'छंदमयी' में एक रोमानी सुसिद्ध कवि को आज भी देखा जा सकता है। आलोचना के क्षेत्र में उनकी पहली पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' सन् 1938 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक पर 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में शुक्ल जी की संक्षिप्त टिप्पणी ने नगेंद्र के जीवन का रास्ता ही जैसे बदल दिया। नगेंद्र को विधिवत कवि से आलोचक बना देने वाली इस घटना का उनके जीवन में तो महत्त्वपूर्ण स्थान रहा ही, वह इस बात का भी प्रमाण है कि गंभीरता और ईमानदारी से कही गई किसी आलोचक की बात कैसा निर्णायक और दूरगामी प्रभाव रखती है। स्वयं नगेंद्र ने इस घटना का उल्लेख करते हुए स्वीकार किया है कि किसी से यह सुनकर कि उनकी पुस्तक का उल्लेख शुक्ल जी ने अपने इतिहास में किया है, उसे देखे बिना वे शांति से सो नहीं सके और उसे देख लेने के बाद वे वह नहीं रहे, जो थे।

अपने आलोचना-कर्म की शुरुआत नगेंद्र वैसे विस्फोटक ढंग से नहीं की जैसे नंददुलारे वाजपेयी और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने की थी। जब वे छायावाद के समर्थन में आगे आए तब तक छायावाद को पर्याप्त स्वीकृति मिल चुकी थी। एक आलोचक के रूप में उनका मुख्य कार्य अतियों से भरसक बचते हुए संतुलन और समन्वय की खोज ही अधिक है। उनकी आलोचना की प्रकृति बहुत विस्फोटक होने और तत्काल नजर में न चढ़ने का एक कारण यह भी था कि कैसे ही विरोध या प्रतिवाद से अधिक अपना कार्य सहमति और स्वीकृति से शुरू किया। 'सुमित्रानंदन पंत' के पहले संस्करण में पंत जी का इस आशय का एक वक्तव्य भी छपा था जो कई परवर्ती संस्करणों में भी छपता रहा था, कि पुस्तक के अनेक अंशों को उन्होंने स्वयं नगेंद्र से सुना है और उनके प्रामाणिक और विश्वसनीय भाष्य के लिए उनके मन में नगेंद्र के प्रति कहीं कृतज्ञता का भाव भी है। वैसे भी प्रसाद और निराला की अपेक्षा पंत जी छायावाद में शुरू से ही अधिक स्वीकार्य रहे और नगेंद्र के समक्ष वैसी कोई रचनात्मक चुनौती नहीं थी जैसी प्रसाद और निराला के संदर्भ में नंददुलारे वाजपेयी के लिए थी। शुक्ल जी द्वारा इस पुस्तक पर की गई संक्षिप्त टिप्पणी में भी इस तथ्य की उपेक्षा करना गलत होगा कि वह सुमित्रानंदन पंत पर लिखी गई थी अन्य छायावादी कवियों में जिन्हें स्वयं शुक्ल जी ने पर्याप्त स्वीकृति और सहमति प्रदान की थी।

नोट

नोट्स एक कवि के रूप में पंत जी का कहीं और कभी कोई वैसा उत्कट विरोध नहीं हुआ जैसा प्रसाद और उससे भी अधिक निराला का हुआ था।

स्वीकृति और सहमति में वह ताप नहीं होता जो तत्काल लोगों का ध्यान आकृष्ट करे। ऐसी आलोचना बस ठीक-ठिकाने की वैसी ही आलोचना हो सकती है। जो किसी विस्फोटक सहमति और मतभेद के लिए आमंत्रित नहीं करती। अपनी प्रकृति में वह विश्वसनीयता तो होती है लेकिन जो स्वयं न बड़े सवाल उठाती है और न ही पहले उठाए गए सवालों से टकराती है।

नगेंद्र की आरंभिक कृतियों को आधार बनाकर सन् 1938 से 1940 के बीच लिखित' सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत : एक अध्ययन' और 'आधुनिक हिंदी नाटक'–उनके आलोचनात्मक विकास के सूत्रों और सरोकारों की पड़ताल की जा सकती है। नगेंद्र 'छायावाद' को अपनी पर्याप्त चर्चित व्याख्या के अनुसार 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहकर परिभाषित करते हैं। इस 'विद्रोह' को भी वे बहुत व्यापक परिधि में आकर देखते हैं। इसे वे उपयोगिता के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह, काव्य के बंधनों के विरुद्ध स्वच्छंद कल्पना का विद्रोह और अभिजात्य काव्य परंपरा के विरुद्ध रोमानी काव्य संवेदना के विद्रोह के रूप में विश्लेषित करते हैं। इसे वे अंग्रेजी कविता में रोमांटिक आंदोलन से प्रभावित बताते हैं और उसकी संवेदना में 'सौंदर्य' और 'अद्‌भुत' की उपस्थिति पर विशेष बल देते हैं।

'साकेत: एक अध्ययन' की भूमिका, 'सृजन-प्रेरणा' में नगेंद्र मैथिलीशरण गुप्त और उनके 'साकेत' के प्रति अपने आकर्षित होने के कारणों का उल्लेख भी करते हैं। 'साकेत' जो सोलह वर्षों की लंबी अवधि में लिखा गया, वस्तुत: गुप्त जी के कवि-जीवन की भी कहानी है और उसके प्रति उनके ममत्व को वे उचित समझते हैं। वे पंत जी जैसे कला-मर्मज्ञों से अपनी विनम्र असहमति का उल्लेख भी करते हैं। जो 'यशोधरा' को 'साकेत' से अधिक महत्त्व देते हैं। नगेंद्र का स्पष्ट मनाना है, 'मैथिलीशरण व्यक्ति और कवि की जीवन-व्यापी तपस्या का फल अखंड रूप से 'साकेत' में ही मिलता है।' और फिर इस तपस्या की प्रकृति का खुलासा करते हुए वे आगे लिखते हैं, 'इस कवि ने अपने जीवन-भर भारतीय (हिंदू) जीवन को देखने और समझने का प्रयत्न किया है–और भारतीय जीवन का इतना भव्यचित्र आधुनिक अन्य किसी काव्य में नहीं मिल सकता।' (साकेत: एक अध्ययन' 1970, पृ०2) साकेत के अपने विवेचन में वे पूरी शास्त्रीय तैयारी के साथ प्रवृत्त होते हैं। यहाँ नया कहने को भले ही कुछ विशेष न हो लेकिन उसके विश्लेषण की प्रक्रिया में उन सूत्रों को विकसित होते अवश्य देखा जा सकता है जिनसे एक आलोचक के रूप में नगेंद्र की पहचान बनती है।

'साकेत' की कथावस्तु के विश्लेषण के संदर्भ में रामकथा के प्रचलित और पूर्व स्वीकृत प्रसंगों से आगे जाकर वे गुप्त जी की नवीन उद्‌भावनाओं की चर्चा करते हैं। हनुमान से लक्ष्मण शक्ति की बात सुनकर साकेतवासियों की रण सज्जा के प्रसंग को वे कवि की राष्ट्रीय चेतना के रूप में देखते हैं। प्रबंध काव्य में मार्मिक स्थलों की पहचान के रूप में वे शुक्ल जी की स्थापना को ही विस्तार देते हैं। 'साकेत' के प्रधान रस के रूप में वे श्रृंगार को स्वीकृति देते हैं। और उर्मिला की विरह-वेदना को 'साकेत' की उल्लेखनीय उपलब्धि के रूप में रेखांकित करते हैं। अपनी विरह-वेदना की विश्वप्रेम के रूप में अभिव्यक्ति उर्मिला के चरित्र का सर्वाधिक आकर्षण पक्ष है–'उर्मिला के विरह में मानवता की पुकार है–यह अधिक स्वाभाविक है। साथ ही गरिमा की न्यूनता नहीं है, वह विश्वव्यापी है।' (वही, पृ० 53)

नगेंद्र 'साकेत' के सांस्कृतिक आधार के रूप में आर्य धर्म और आर्य सभ्यता की विजय स्वीकार करते हैं। राम की विजय वस्तुत: इन भारतीय आदर्शों की विजय है–इसे इसी रूप में लेकर कवि की तरह संभवत: उनका हृदय भी विजय-गर्व से नाच उठता है। 'साकेत' के प्रमुख स्त्री-पात्रों–उर्मिला, माण्डवी, सुमित्रा आदि के चरित्रों की भारतीय

आदर्शों को फलीभूत देखकर वे आह्लादित होते हैं–'वे गृहलक्ष्मी हैं–वहाँ उनका साम्राज्य है। इससे बाहर, क्षमता होने पर भी भारतीय ललना प्राय: नहीं जाती।' (वही, पृ० 75) गार्हस्थ्य और पारिवारिक आदर्शों की स्थापना को 'साकेत' की सबसे बड़ी उपलब्धि मानकर प्रस्तुत किया गया है।

नगेंद्र की इन उल्लिखित पुस्तकों के क्रम में ही 'आधुनिक हिंदी नाटक' भी छात्रोपयोगी पुस्तक है। नगेंद्र न कभी रंग-आंदोलन से जुड़े हैं और न कभी नाट्य प्रस्तुतियों का कोई अनुभव उन्हें था। नाटक तब पूरी तरह पढ़ने की चीज़ माना जाता था और प्रसाद जी द्वारा उठाया गया यह विवाद अभी भी पूरी तरह शांत नहीं हुआ था कि मंच नाटक के लिए होता है या नाटक मंच के लिए। यह वह समय था जब स्वयं जयशंकर प्रसाद के नाटकों की मंचीय संभावनाओं को भी गंभीरता से खोजे जाने का कोई प्रयास नहीं हुआ था। उनके नाटकों का महत्त्व शास्त्रीय विवेचन तक ही सीमित था। नाटक चूँकि पाठ्यक्रम में पढ़ाए जाते थे और भारतेंदु से प्रसाद तक उनका अपना एक इतिहास भी था संभवत: इसीलिए नगेंद्र ने 'आधुनिक हिंदी नाटक' लिखी। इसमें न तो उपलब्ध नाट्य परंपरा पर किसी नई दृष्टि से विचार किया गया है और न ही नाटक को रंग आंदोलन से जोड़कर देखने का कोई प्रयास किया गया है।

टास्क डॉ. नगेन्द्र की लेखन कुशलता पर एक टिप्पणी लिखिए।

एक आलोचक के रूप में, परवर्ती आलोचनात्मक विकास के संदर्भ में, नगेंद्र के कार्य की तीन मुख्य दिशाएँ सहज ही रेखांकित की जा सकती हैं। एक ओर उन्होंने हिंदी-साहित्य की प्रवृत्तियों, सिद्धांतों, वादों, कृतिकारों और महत्त्वपूर्ण कृतियों पर निबंध लिखे जो उनके अनेक संकलनों में संकलित हैं। और बाद में सन् '69 में उन सबका एक वृहद् संस्करण 'आस्था के चरण' नाम से प्रकाशित हुआ। नगेंद्र के आलोचना-कर्म की दूसरी दिशा रीतिकाव्य के पुनर्मूल्यांकन से संबंधित है। इसमें उनकी 'रीति काव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह भी उल्लेखनीय है कि जैसे उनकी प्रकाशित पुस्तकों के आधार पर उन्हें पी-एच.डी. की उपाधि दी गई थी, वैसे ही रीतिकाव्य पर उनके इस कार्य को आधार बनाकर ही उन्हें डी.लिट्. की उपाधि दी गई। नगेंद्र के आलोचना-कर्म की तीसरी दिशा 'रस-सिद्धांत' की है। जिसमें वे रस की स्थिति के संदर्भ में जहाँ रससिद्धांत की प्रासंगिकता पर विचार करते हैं वहीं संपूर्ण आधुनिक काव्य के मूल्यांकन में रस-सिद्धांत को आधार बनाकर अनेक नए विवादों को जन्म देते हैं। इससे आधुनिक काव्य के मूल्यांकन में अपने लिए वे अनेक बाधाएँ भी खड़ी कर लेते हैं।

अपनी साहित्यिक मान्यताओं के संबंध में नगेंद्र ने लिखा है, 'काव्य के तीन सर्वमान्य तत्त्वों-भाव, कल्पना और बुद्धि-में, मैं भाव को आधार मानता हूँ। शेष दो उसके सहायक हैं। अत: काव्य का आस्वाद मूलत: भाव का ही आस्वाद है–इंद्रियगम्य प्रकृत भाव का नहीं, वरन कल्पनागम्य शुद्ध अथवा निर्वैयक्तिक भाव का। आस्वाद के इसी रूप को शास्त्र में रस कहा गया है। इस प्रकार काव्य के संदर्भ में आनंद का विशिष्ट अर्थ है रस और यही काव्य का प्रयोजन है।' (आस्था के चरण, संस्करण' 80 पृ. 91)।

नोट्स नगेंद्र कविता को शब्दार्थ के माध्यम से भाव की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति मानते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण के सिद्धांत को वे मानव मूल्यों की स्वीकृति का सिद्धांत ही मानते हैं जो अपनी सार्वभौमिकता और सर्वकालिकता सिद्ध कर चुका है।

इसकी व्यापकता की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं 'अतएव मेरा विनमृ मत है–साहित्य का चरम मान रस ही है जिसकी अखंडता में व्यष्टि और समष्टि, सौंदर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अंतर मिट जाता है,

नोट

अन्य कथित माना या तो रस के एकांगी व्याख्यान हैं या फिर असाहित्यिक मान हैं, जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है।' (वही, पृ० 110)

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में जब नगेंद्र ने अपनी आलोचना-यात्रा शुरू की छायावाद का उग्र और उत्कट विरोध बहुत कुछ थम चुका था। भारत में प्रगतिवादी लेखक संघ की स्थापना हो चुकी थी और अप्रैल' 36 में आयोजित उसके प्रथम सम्मेलन में प्रेमचंद अपना ऐतिहासिक अध्यक्षीय भाषण दे चुके थे। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वह मार्क्सवाद और फ्रॉयडवाद के तेजी से बढ़ते हुए प्रभाव का दौर था और राष्ट्रीय सीमाओं में गाँधी और नेहरू के। काव्य में छायावाद और मैथिलीशरण गुप्त के हिंदू आदर्शों की व्याख्या और समर्थन से उनकी यह यात्रा शुरू हुई थी। भले ही पंत अस्थायी रूप से मार्क्सवाद के प्रभाव-क्षेत्र में रहे हों लेकिन जल्दी ही उन्हें लगने लगा कि यह उनका प्रकृत क्षेत्र नहीं है। वैचारिक दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त और पंत का समर्थन शायद प्रसाद और निराला की अपेक्षा जोखिमहीन था। यह अकारण नहीं है कि नगेंद्र प्रगतिवाद के अंतर्गत लिखे गए प्रेमंचद सहित अधिकांश साहित्य को उसके मतवादी आग्रह के कारण खारिज कर देते हैं। मार्क्स की अपेक्षा फ्रॉयड को वे फिर भी दूर तक समर्थन देते हैं। यद्यपि वे इलाचंद्र जोशी और अज्ञेय के साथ अपने को मनोविश्लेषणवादी आलोचकों की सूची में शामिल किए जाने का स्पष्ट विरोध भी करते हैं। विश्व साहित्य पर फ्रॉयड के गहरे प्रभाव का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं, 'उसकी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि अचेतन का अन्वेषण कर उसने मानव-विश्लेषण के लिए अपार क्षेत्र का उद्‌घाटन कर दिया है। व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याएँ, जिन पर रहस्य का घना आवरण पड़ा हुआ था, बुद्धि और विवेक के प्रकाश में आईं और जीवन के पुनर्मूल्यन के नवीन साधन उपलब्ध हुए। व्यक्ति और समाज के अनेक जीर्ण रोगों का उपचार भी इसके द्वारा संभव हुआ और अंतर्मनोविज्ञान का आरंभ हुआ। अध्यात्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य और कला के मौलिक रहस्यों के उद्‌घाटन में फ्रॉयड के सिद्धांतों और उनकी पद्धति ने अभूतपूर्व योग दिया। (वही, पृ० 351) काव्यशिल्प पर भी उनके सिद्धांतों का गहरा प्रभाव पड़ा। उनके 'मुक्त-संबंध' शैली को तो कथाकारों की भी व्यापक स्वीकृति मिली। उनके स्वप्न-चित्रों के सृजन और उद्‌घाटन का भी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। लेकिन नगेंद्र यह भी स्वीकार करते हैं कि नादान उत्साहियों द्वारा फ्रॉयड की छीछालेदर भी कम नहीं हुई। हिंदी में उन्हें पढ़ा और समझा उतना नहीं गया जितना उनका विरोध और समर्थन किया गया।'

इसी फ्रेमवर्क में नगेंद्र हिंदी साहित्य के प्रमुख कृतिकारों, कृतियों और आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते हैं। कवियों में वे तुलसीदास, केशवदास, बिहारी, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सियाराम शरण गुप्त, पंत, बच्चन, दिनकर, गिरिजा कुमार माथुर आदि पर विचार करते हैं। गद्यकारों में प्रेमचंद, गुलेरी के अतिरिक्त वे श्यामसुंदर दास की आलोचना पद्धति पर भी अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। कालजयी कृतियों पर लिखते हुए वे 'रामचरितमानस' से शुरू करके 'दीपशिखा', 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी', 'त्यागपत्र', 'सुखदा', 'शेखर : एक जीवनी' के साथ ही राहुल के ऐतिहासिक उपन्यासों और 'वोल्गा से गंगा' तक आते हैं। छायावादी कवियों में पंत की प्रमुख भूमिकाओं और महादेवी के आलोचनात्मक ग्रंथ को आधार बनाकर छायावादी आलोचना-दृष्टि पर भी टिप्पणी करते हैं। इसी क्रम में 'आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' में वे छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि पर भी विचार करते हैं।

तुलसीदास के संदर्भ में उनके नारी पात्रों पर विचार करते हुए वे अनेक प्रसंगों में उनका बचाव करते दिखाई देते हैं। उनका कहना है कि तुलसी का काव्य व्यक्तिपरक न होकर वस्तुपरक है। इसीलिए अनेक प्रसंगों में स्त्री के संबंध में व्यक्त किए गए उनके विचार वस्तुत: उनके न माने जाकर उन पात्रों के माने जाने चाहिए जो उन्हें व्यक्त करते हैं। लेकिन फिर स्वयं उन्हें ही कवि के अवैयक्तिक रूप का तर्क अपूर्ण और असंगत लगता है। फिर अनेक ऐसी उक्तियाँ भी हैं जिनमें पात्र कहीं बीच में आते ही नहीं। ऐसी एक उक्ति के उदाहरण के तौर पर वे 'जिमि स्वतंत्र होई बिगरह नारी' को प्रस्तुत करते हैं।

क्या आप जानते हैं तुलसी के नारी पात्रों की व्याख्या के क्रम में नगेंद्र उसके मनोवैज्ञानिक आधार तक जाते जिसमें कहा गया है कि वे नारी को कभी क्षमा नहीं कर सके जिसके कारण उन्हें भयानक संताप झेलना पड़ा था।

यहाँ नारी एक सामाजिक इकाई न होकर तुलसी के अधीर मन का प्रतीक ही अधिक है। लेकिन इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति के स्वरूप से भी वे इसे जोड़कर देखते हैं। वे लिखते हैं, 'तुलसी की भक्ति पुरुष-भाव से पुरुष की अर्थात् पुरुष रूप भगवान की उपासना है। दास्य-भाव भी पुरुष-भाव ही है। मध्य-युग में उपासना के तीन मार्ग में नारी-भाव से पुरुष भगवान की उपासना, पुरुष भाव से नारी अर्थात् शक्तिरूप भगवान की उपास्य और पुरुष-भाव से पुरुष रूप भगवान की उपासना, जिसके अंतर्गत सख्य और दास दोनों भाव आ रहे जाते हैं। पहली दो पद्धतियों में तो नारी-भाव की अनिवार्यता ही है, इस तीसरी उपासना पद्धति में नारी नहीं आती और आती है तो बाधा-रूप में आती है या अवचेतन में अनावश्यक प्रतिद्वंद्व की भावना उत्पन्न करती है।' (वही, पृ० 391) लेकिन अपनी इस व्याख्या को भी वे तुलसी के बचाव में एक तर्क के रूप में ही देखते हैं और आज की नारी अर्थात् पचास के दशक की नारी के क्षोभ को न्याय संगत ठहराते हुए उसकी अधिक न्याय की माँग को गलत नहीं समझते।

नगेंद्र इस स्थिति पर क्षोभ व्यक्त करते हैं कि भारतीय इतिहास में 'रीतिकाल' की भाँति हिंदी-साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यंत अभिशप्त काव्य माना गया है। आलोचकों की इस पर वक्र दृष्टि के विरोध में वे मुखर प्रतिवाद करते हैं। वे इसमें आलोचकों के पूर्वाग्रह की विशेष भूमिका मानने के साथ ही काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धांत का निषेध भी देखते हैं जिसके अनुसार आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। नगेंद्र कला की दृष्टि से रीतिकाव्य का महत्त्व असंदिग्ध मानते हैं। रीति कवियों ने ही हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर, अपने विवेचन और प्रयोग द्वारा इस धारा के कवियों ने रसवाद की प्रतिष्ठा के साथ ही मुक्तक काव्य परंपरा का भी अभूतपूर्व विकास किया। इस दृष्टि से ही वे रीतिकाव्य के पुनर्मूल्यांकन का आग्रह करते हैं और इस दिशा में बहुत कुछ स्वयं करते भी हैं जिसकी चर्चा रीतिकाव्य के उनके विवेचन के प्रसंग में आगे की जाएगी।

प्रेमचंद के जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व वे मानववाद मानते हैं और उनकी व्यापक सहानुभूति की प्रशंसा करते हैं। लेकिन उनकी यह सहानुभूति अपनी प्रकृति में वर्ग निरपेक्ष है, 'प्रगतिवादियों ने अपने मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्गचेतना का आरोप कर दिया है।' (वही, पृ० 511) लेखक की वर्ग-चेतना नगेंद्र की दृष्टि में एक दोष है जिससे प्रेमचंद पूरी तरह से मुक्त थे। नगेंद्र रचनात्मक प्रतिभा के अनेक अंग गिनाते हैं–तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता और व्यापकता आदि। उनके अनुसार प्रेमचंद के पास इनमें से सिर्फ व्यापकता थी–शेष गुण अपर्याप्त मात्रा में थे। उनके विचार से प्रेमचंद मनुष्य के अंतर्जगत की उपेक्षा करते हैं। उनकी दृष्टि बाह्य समस्याओं तक ही सीमित थी। अपने युग की आध्यात्मिक क्लांति का कोई सजीव चित्र वे नहीं दे पाए। उनमें गहन दार्शनिक विवेचन का भी अभाव है जिसके बिना कोई महान लेखक नहीं हो सकता। उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है। प्रेमचंद के उल्लिखित अभाव, नगेंद्र के अनुसार वस्तुत: साधारण व्यक्तित्व के सहज अभाव है, 'साधारण व्यक्तित्व कुल मिलाकर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है।' (वही, पृ० 519) महान् होने के लिए जिस असाधारण और लोकोत्तर शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका प्रेमचंद में घोर अभाव था।

प्रेमचंद परवर्ती लेखकों में वे जैनेंद्र और अज्ञेय की चर्चा खासतौर से करते हैं। जैनेंद्र में कहानी केवल निमित्र मात्र होती है। उनके उपन्यासों की घटनाएँ बाहर से अधिक व्यक्ति के अंदर घटित होती हैं। कला उनके लिए एक विशिष्ट प्रेष्य अर्थ का माध्यम है। यह प्रेष्य अर्थ है अहं का उत्सर्ग। जैनेंद्र के यहाँ जीवन की सबसे बड़ी समस्या है अहं और सबसे सफल समाधान है उनका उत्सर्ग। यह आत्मपीड़न द्वारा ही संभव है। शास्त्र के प्रति जैनेंद्र की उदासीनता के कारण उनकी भाषा अनेकश: अशुद्ध, संस्कार भ्रष्ट और कहीं-कहीं ग्राम्य भी हो गई है।

नोट

जैनेंद्र के उपन्यासों की अपेक्षा अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी' को नगेंद्र हिंदी के गौरव-ग्रंथों में शुमार करते हैं। वह अपने सहारे प्रत्येक जागरूक आलोचक की शक्ति-परीक्षा का आह्वान करता है। 'शेखर: एक जीवनी' की समृद्ध भाषा अपनी प्रौढ़ और सौंदर्य अद्वितीय है। उत्पादन के महत्त्व पर नगेंद्र की टिप्पणी है, 'वह मनोगुंफों की उलझनों को इतनी स्वच्छता से चित्रित करता है और मन और मस्तिष्क की तरल सूक्ष्मताओं को इतनी बारीकी से शब्दबद्ध करता है कि पाठक को चकित रह जाना पड़ता है। उसमें तीखी वीथियों से खेलने वाली सूक्ष्मता है, आवेश को भर लेने वाली उष्णता है और उदात्त क्षणों में विराट् अनुभूति तक उठने की महान् शक्ति है।' (वही, पृ० 649) लेकिन उसकी अभूतपूर्व भाषिक उपलब्धि के बावजूद नगेंद्र उसमें रस की क्षीर्णता से असंतुष्ट भी हैं जिसके कारण साधारण पाठकों से वह कहीं अधिक मानसिक शिक्षण और संतुलन की अपेक्षा करता है।

प्रगतिवादी लेखकों में नगेंद्र राहुल सांकृत्यायन को अपेक्षाकृत उदारता से स्वीकारते हैं। उनके पुरातात्विक ज्ञान और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के व्यावहारिक दर्शन के योग से बने उनके ऐतिहासिक उपन्यासों—'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय'—तथा 'वोल्गा से गंगा' की कहानियों की वे इसलिए प्रशंसा करते हैं, उनके सारे कलात्मक दोषों के बावजूद कि इनके द्वारा राहुल ने विकीर्ण सामग्री को एकत्रित कर उस विलुप्त प्राय इतिहास को फिर से जीवित करने का प्रयास किया है। नगेंद्र की टिप्पणी हैं, 'इस महान् अनुष्ठान में उनका पुरातत्व ज्ञान तो सहायक हुआ ही है परंतु साथ ही बौद्ध संघ और सोवियत विधान का क्रियात्मक ज्ञान भी कम उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ है।' (वही, पृ० 651) इन उपन्यासों का कथा-शिल्प भले ही उतना पुष्ट न हो लेकिन हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यास के विकास में उनकी एक सुनिश्चित भूमिका अवश्य है।

रीतिकाव्य को नगेंद्र 'निश्छल आत्माभिव्यक्ति' का काव्य मानकर रीतिकाल के पुनर्मूल्यांकन का प्रस्ताव करते हैं। सन् 1949 में प्रकाशित 'रीतिकाव्य की भूमिका' और 'देव और उनकी कविता' वस्तुत: उनकी एक ही पुस्तक के दो खंड हैं—परस्पर संबंध और अंतर्गुंफित। वे उन आलोचकों से अपनी असहमति व्यक्त करते हैं जो रीतिकाल को प्रतिक्रियावादी कहकर इनकी एकांगी आलोचना करते रहे हैं। यह ठीक है कि रीतिकाव्य सामाजिक चेतना की दृष्टि से कमजोर है, उसकी काव्यवस्तु भी एक सीमित क्षेत्र से बाहर व्यापक संसार में किसी रुचि का प्रमाण नहीं देती लेकिन कवियों की निश्छल आत्माभिव्यक्ति द्वारा जिस परिष्कृत आनंद की सृष्टि यह काव्य करता है। उसकी उपेक्षा करना गलत है। नैतिक और सामाजिक मूल्य से अलग इस आनंद का भी अपना एक मूल्य है। नगेंद्र नैतिक आग्रहों को आधार बनाकर रीतिकाव्य के मूल्यांकन की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। रीतिकाव्य के अपने उत्साहपूर्ण समर्थन में वे तर्क को 'नैतिक' और 'साहित्यिक' हो अलग वर्गों में बांट देते हैं और साहित्यिक तर्क के आधार पर रीतिकाव्य के मूल्यांकन पर बल देते हैं। जिस आधार पर वे प्रगतिवाद का विरोध करते हैं, उसी तर्क से वे रीतिकाल का समर्थन करते हैं। रीजनीति को वे भेदनीति का पर्याय बताकर प्रस्तुत करते हैं। वह समाज में वर्ग-भेद पैदा करती है। वे साहित्य को राजनीति से दूषित नहीं होने देना चाहते। अपने युगीन संदर्भों से अप्रभावित रहकर वे साहित्य की शाश्वत और सार्वभौम प्रकृति पर बल देते हैं। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि अपने सरोकारों की दृष्टि से रीतिकाव्य उदात्त की रचना नहीं करता लेकिन अपने पुत्र की आत्मघाती निराशा के बीच आनंद और सौंदर्य की जो सृष्टि करता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन कवियों को शास्त्र-ज्ञान और लोकानुभव दोनों खूब समृद्ध थे। नगेंद्र द्विवेदी युगीन विवाद-देव बड़े कि बिहारी में अपने को नहीं उलझाते। वे समूचे रीतिकाव्य की कलावादी दृष्टि से व्याख्या करते हैं, शृंगार की रस दशाओं और नायिका भेद की सूक्ष्मताओं के प्रति उसकी असाधारण सजगता का अनुसंधान करते हैं, और काव्यानंद एवं ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय उसे देते हैं। साहित्य में भी श्रेणी निर्धारण नगेंद्र को प्रिय हैं। हिंदी कवियों में वे देव को प्रथम श्रेणी के कवियों—तुलसीदास, सूरदास और जयशंकर प्रसाद आदि-में स्थान नहीं देते हैं क्योंकि देव ने इन कवियों की भाँति जीवन को उसकी संपूर्णता में ग्रहण नहीं किया है। लेकिन द्वितीय श्रेणी के महत्त्वपूर्ण कवियों—केशव, बिहारी, मतिराम, घनानंद आदि में देव अन्यतम हैं।

नगेंद्र रसवादी आलोचक हैं। साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत अपने ग्रंथ 'रससिद्धांत' (1964) को अपनी साहित्य-साधना की परिणति' के रूप में स्वीकृति देते हैं। वे मानते हैं कि पिछले तीस वर्षों में काव्य के मनन-चिंतन से उनके मन में जो अंत: संस्कार बनते रहे हैं उनकी संहति रस-सिद्धांत में ही हो सकती है। इस प्रक्रिया में, एक आलोचक के

रूप में कहीं उन्हें ऐसा भी लगा कि अब शास्त्र-चर्चा छोड़कर आधुनिक काव्य के अध्ययन-मूल्यांकन की उसी भूमि पर उतर आना चाहिए जहाँ से उन्होंने कभी आलोचना-यात्रा शुरू की थी। ऐसे किसी कार्यक्रम की रूपरेखा बनाते हुए ही यह तथ्य भी उनके सामने प्रकट हुआ कि वर्तमान काव्य-सर्जना के आधार-तत्त्वों बिंब प्रतीक, प्रभाव-छवि आदि-की सम्यक व्याख्या के लिए भारतीय अलंकार सिद्धांत की अनुस्थापना कदाचित् उपयोगी हो सकती है।

नगेंद्र 'रस-सिद्धांत' में विस्तारपूर्वक 'रस' शब्द के अर्थ-विकास के साथ रस संप्रदाय का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हैं। रस की परिभाषा और स्वरूप निर्धारण के बाद वे करुण रस के आस्वाद रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण आदि पर विचार करते हैं। इस प्रक्रिया में वे स्थायी और संचारी भावों के मनोवैज्ञानिक आधार की खोज में भी प्रवृत्त होते हैं। रस-सिद्धांत की शक्ति और सीमा पर विचार करते हुए वे आधुनिक साहित्यिक वादों, विकार सरणियों, काव्य आंदोलनों एवं प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में उसकी प्रासंगिकता पर भी विचार करते हैं। इस प्रक्रिया में नई कविता के कतिपय सिद्धांतकारों-अज्ञेय और जगदीश गुप्त आदि-के विचारों को भी वे अपनी बहस के केंद्र में रखते हैं। कुल मिलाकर वे एक अत्यंत सरलीकृत निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, 'उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नयी कविता को नयी सिद्ध करने के लिए तर्कों का जाल बिछाया गया है और जाने-अनजाने रस-सिद्धांत के विषय में मिथ्या कल्पनाएँ की गई हैं।' (रस सिद्धांत संस्करण' 1974, पृ० 344) नगेंद्र अपने व्यापक अर्थ में रस को मानसिक अनुभूति ही मानते हैं। यह अनुभूति सुख और दुख दोनों से संबंध हो सकती है। वे मानते हैं कि आनंद की वर्जना नई कविता में भी नहीं है, कुछ अतिवादी लेखकों को छोड़कर अधिकांश आनंदतत्व को स्वीकार करते हैं। नई कविता के लक्ष्मीकांत वर्मा जैसे शास्त्रकार रस के आधार पर नई कविता का मूल्यांकन भले ही यूरोप के नक्शे पर बनारस ढूँढ़ना जैसा हास्यवाद माने लेकिन नगेंद्र मानते हैं कि 'नयी कविता यदि अनुभूति को आधार मानकर चलती है तो रस से उसकी मुक्ति नहीं है।' (वही) 'रस-सिद्धांत' के प्रसंग में इलाहाबाद की संस्था 'विवेचना' में जगदीश गुप्त के आलेख को लेकर जो विवाद हुआ, आज वह भले ही इतिहास की चीज हो, लेकिन आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन में उसकी सीमाओं का स्पष्ट संकेत तो उससे मिलता ही है। नगेंद्र आधुनिक काव्य के मूल्यांकन की अपनी सारी सदिच्छा के बावजूद उस ओर प्रवृत्त नहीं हो सकते। नई कविता में गिरिजा कुमार माथुर ही उन्हें सर्वाधिक स्वीकार्य कवि लगते हैं और उसके आगे वे नहीं बढ़ पाते। अपनी तीव्र और घोषित असहमतियों के बावजूद इस काव्य-प्रवृत्ति के प्रति इससे अधिक उदारता एवं स्वीकार्यता तो नंददुलारे वाजपेयी दिखाते हैं।

आधुनिक काव्य के मूल्यांकन को अपने प्रकृत क्षेत्र की ओर लौटने की सारी सदिच्छा के बावजूद नगेंद्र कभी लौट नहीं सके। उनका लिखना भले ही बंद न हुआ हो लेकिन उसे न तो आधुनिक साहित्य में उनके किसी सार्थक और प्रभावी हस्तक्षेप के रूप में लिया जा सकता है और न ही मध्यकालीन साहित्य के मूल्यांकन में वे किसी वैसी तेजस्वी और ऊर्जस्वित दृष्टि का प्रमाण देते हैं, जिसकी उपस्थिति हजारी प्रसाद द्विवेदी को अन्त तक एक प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण आलोचक बनाए रही। इसे एक रचनात्मक विडंबना ही माना जाना चाहिए कि आलोचना कर्म के अपने प्रौढ़ परिपक्व काल में वे लौट फिर कर फिर वहीं आ जाते हैं जहाँ से उन्होंने 'साकेत: एक अध्ययन' और 'आधुनिक हिंदी नाटक' जैसी पुस्तकों से शुरुआत की थी। चाहे 'हिंदी ध्वन्यालोक' और 'हिंदी काव्यालंकार-सूत्र वृत्ति' की उनकी लिखी भूमिकाएँ हों, जो बाद में 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' के रूप में अलग से स्वतंत्र रूप में भी प्रकाशित हुईं, या फिर 'अरस्तु का काव्य शास्त्र' और लोंगिनुस के 'पेरिइप्सुस'-'काव्य में उदात्त तत्त्व'-की भूमिकाएँ हों अपनी प्रकृति में यह पूरी तरह से अकादमिक कार्य है जिसकी उपयोगिता छात्रों को काव्यशास्त्र के मौलिक आधार स्रोतों तक ले जाना था। इसी तरह 'काव्य बिंब' में वे यूरोप में काव्य के क्षेत्र में बिंबवाद के नाम से चले आंदोलन के अंतर्गत काव्य में बिंब के महत्त्व और उसके विभिन्न रूपों की चर्चा करते हैं। मिथ, मैटाफर और एलिगिरी आदि को बिंब की ही निकटवर्ती धारणाओं के रूप में स्वीकृति देकर वे इनकी व्याख्या करते हैं। बिंब को वे काव्य का अत्यंत प्रभावी माध्यम मानने पर भी उसे काव्य या सहकारी तत्त्व ही मानते हैं। उसे वे काव्य-मूल्य के रूप में स्वीकृति नहीं देते।

दिल्ली विश्वविद्यालय में एक सजग और क्रियाशील अध्यक्ष के नाते उन्हें अनेक नए पाठ्यक्रम चलाने होते थे और

नोट

यूरोप की अधुनातन साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिचय भी वे छात्रों को देना चाहते थे। हिंदी के शोध और अनुसंधान के स्तर को बनाए रखना भी उनकी मुख्य चिंता थी।' भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका' (1974)' मिथक और साहित्य' (1979) और 'साहित्य का समाज शास्त्र' (1982) आदि उनकी इसी चिंता का परिणाम हैं। यह कार्य कभी तो उन्होंने इसलिए किया कि उस क्षेत्र में एक ही जगह कोई संपूर्ण और सर्वसमावेशी पुस्तक नहीं थी, जैसा कि वे 'भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका' के संदर्भ में कहते हैं और कभी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग या किसी और संस्था की पहल पर ये कार्य करते हैं।

बाबू श्यामसुंदर दास पर लिखते हुए नगेंद्र ने मौलिकता की तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं। पहली कोटि में वे आलोचक आते हैं जो नवीन सिद्धातों की उद्‌भावना करते हुए मौलिक सामग्री मौलिक रीति से प्रस्तुत करते हैं। दूसरी कोटि उन आलोचकों की है जो किन्हीं नवीन सिद्धांतों की उद्‌भावना न करने पर भी सामग्री का विवेचन अपने ढंग से करते हैं। तीसरे प्रकार के आलोचक वे होते हैं जो सिद्धांत और सामग्री दूसरों से ग्रहण करते हैं परंतु उस सबको अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं। श्यामसुंदर दास को वे आलोचकों की इसी तीसरी कोटि में रखते हैं। वे सूक्ष्म-जटिलताओं को चीरते हुए अपने निरूपण को अंतिम स्तर तक पहुँचाने में समर्थ नहीं होते। नगेंद्र की टिप्पणी है, 'मूलतः शिक्षक और व्याख्याता होते हुए भी वे चिंतन की गहराइयों में बढ़ते हुए स्रष्टा के धरातल को भी अनेक बार छू लेते थे-परंतु श्यामसुंदर दास जी अध्यापक के धरातल से ऊपर नीचे कभी नहीं गए। वे एकरस साहित्य के शिक्षक और व्याख्याते ही रहे; और शिक्षक तथा व्याख्याता के तीन प्रमुख गुण उनमें वर्तमान थे: ग्रहण में विवेक, व्याख्या में हठधर्मी का अभाव और अभिव्यक्ति में स्वच्छता। यही उनका अपना विशिष्ट धरातल था—और इस पर उनकी सफलता एवं महत्ता असंदिग्ध है।' (आस्था के कारण, पृ० 534, 535) थोड़े हेर-फेर के साथ यही टिप्पणी स्वयं नगेंद्र पर भी लागू की जा सकती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और मैथिलीशरण गुप्त के शताब्दी वर्षों में प्रकाशित उनकी पुस्तकें भी किसी मौलिक और सार्थक हस्तक्षेप का प्रभाव नहीं छोड़तीं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. आलोचना के क्षेत्र में डॉ. नगेन्द्र की पहली पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' कब प्रकाशित हुई थी?

   (अ) 1935 (ब) 1938

   (स) 1939 (द) इनमें से कोई नहीं

5. 'साकेत' किसकी रचना है?

   (अ) मैथिलीशरण गुप्त (ब) दुष्यंत कुमार

   (स) हरिवंशराय बच्चन (द) इनमें से कोई नहीं

6. 'शेखर : एक जीवनी' किसकी रचना है?

   (अ) अज्ञेय (ब) हरिवंशराय बच्चन

   (स) मैथिलीशरण गुप्त (द) इनमें से कोई नहीं

23.3 सारांश (Summary)

- महादेवी वर्मा कवि-कर्म को एक साहित्यिक और सांस्कृतिक कर्म के रूप में देखती और परिभाषित करती हैं। उनकी दृष्टि में कवि की अनुभूति, उसका हृदय, पारस-मणि की तरह है जो अपने स्पर्श से हर छुई जाने वाली वस्तु को सोना कर देती है।

नोट

- छायावाद को वे 'करुणा की छाया में सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद' के रूप में परिभाषित करती हैं। इस सर्ववाद की मुख्य भावभूमि प्रकृति है। उनके अनुसार उपयोगिता को स्थूल दृष्टि से परिभाषित करने के कारण ही ऐसे किसी वर्गीकरण पर बल दिया जाता है।
- महादेवी छायावाद पर लगाए गए अनेक आरोपों का निराकरण करती हैं। उनके तर्क पूरी तरह से स्वीकार्य भले ही न हों, लेकिन छायावाद संबंधी विवेचन में उनसे एक व्यापक आधार अवश्य उपलब्ध होता है।
- एक काव्यांदोलन के रूप में छायावाद और उस काव्यधारा की उपलब्धियों एवं विशिष्टताओं के रेखांकन में जिन अन्य आलोचकों ने उल्लेखनीय कार्य किया उनमें शांतिप्रिय द्विवेदी और गंगाप्रसाद पांडेय मुख्य हैं।
- नगेंद्र ने अपना साहित्यिक जीवन, छायावाद की छाया में, एक कवि के रूप में शुरू किया।
- नगेंद्र की आरंभिक कृतियों को आधार बनाकर सन् '38 से '40 के बीच लिखित' सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत : एक अध्ययन' और 'आधुनिक हिंदी नाटक'–उनके आलोचनात्मक विकास के सूत्रों और सरोकारों की पड़ताल की जा सकती है।
- नगेंद्र का स्पष्ट मनाना है, 'मैथिलीशरण गुप्त और कवि की जीवन-व्यापी तपस्या का फल अखंड रूप से 'साकेत' में ही मिलता है।'
- नगेंद्र 'साकेत' के सांस्कृतिक आधार के रूप में आर्य धर्म और आर्य सभ्यता की विजय स्वीकार करते हैं।
- बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में जब नगेंद्र ने अपनी आलोचना-यात्रा शुरू की छायावाद का उग्र और उत्कट विरोध बहुत कुछ थम चुका था।
- नगेंद्र इस स्थिति पर क्षोभ व्यक्त करते हैं कि भारतीय इतिहास में 'रीतिकाल' की भाँति हिंदी-साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यंत अभिशप्त काव्य माना गया है।
- नगेंद्र रचनात्मक प्रतिभा के अनेक अंग गिनाते हैं–तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता और व्यापकता आदि।
- प्रगतिवादी लेखकों में नगेंद्र राहुल सांकृत्यायन को अपेक्षाकृत उदारता से स्वीकारते हैं। उनके पुरातात्विक ज्ञान और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के व्यावहारिक दर्शन के योग से बने उनके ऐतिहासिक उपन्यासों–'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय'–तथा 'वोल्गा से गंगा' की कहानियों की वे इसलिए प्रशंसा करते हैं, उनके सारे कलात्मक दोषों के बावजूद कि इनके द्वारा राहुल ने विकीर्ण सामग्री को एकत्रित कर उस विलुप्त प्राय इतिहास को फिर से जीवित करने का प्रयास किया है।
- नगेंद्र रसवादी आलोचक हैं। साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत अपने ग्रंथ 'रससिद्धांत' (1964) को 'अपनी साहित्य-साधना की परिणति' के रूप में स्वीकृति देते हैं।
- नई कविता के लक्ष्मीकांत वर्मा जैसे शास्त्रकार रस के आधार पर नई कविता का मूल्यांकन भले ही यूरोप के नक्शे पर बनारस ढूँढ़ना जैसा हास्यवाद माने लेकिन नगेंद्र मानते हैं कि, 'नयी कविता यदि अनुभूति को आधार मानकर चलती है तो रस से उसकी मुक्ति नहीं है।'

23.4 शब्दकोश (Keywords)

- सार्वभौमिक : संपूर्ण पृथ्वी पर फैला हुआ
- शाश्वत : सदा रहने वाला, निरंतरता
- कदाचित् : कभी, शायद अगर

नोट

23.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. महादेवी वर्मा की लेखन कुशलता पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. महादेवी वर्मा के साहित्यिक योगदान पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।
3. डा. नगेन्द्र की लेखन कुशलता पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
4. नगेन्द्र के साहित्यिक योगदान पर एक आलोचनात्मक निबंध लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. महादेवी वर्मा 2. दीपशिखा 3. छायावाद 4. (ब)
5. (अ) 6. (अ)।

23.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. आलोचना और आलोचक – *डॉ. बच्चन सिंह।*

इकाई–24 : डॉ. रामविलास शर्मा, अज्ञेय एवं जयशंकर प्रसाद की लेखन कुशलता एवं उनका साहित्यिक योगदान

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
24.1 रामविलास शर्मा की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान
24.2 सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान
24.3 जयशंकर प्रसाद की लेखन कुशलता एवं उनका साहित्यिक योगदान
24.4 सारांश (Summary)
24.5 शब्दकोश (Keywords)
24.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
24.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- रामविलास शर्मा की लेखन कुशलता को जानने हेतु।
- रामविलास शर्मा के साहित्यिक योगदान को समझने हेतु।
- 'अज्ञेय' के साहित्यिक योगदान एवं लेखन कुशलता को जानने हेतु।
- जयशंकर प्रसाद के साहित्यिक योगदान को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

रामविलास शर्मा का साहित्य में उल्लेखनीय योगदान है। वह एक कुशल लेखक एवं आलोचक रहे हैं। उन्होंने अपनी लेखनी से एक विशेष प्रकार के साहित्य का विरोध करके राष्ट्रीय, जनवादी और प्रगतिशील साहित्य की प्रतिष्ठा का प्रयास किया। उनकी वर्ष 1941 में पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'प्रेमचंद' प्रकाशित हुई थी। दूसरी ओर, 'अज्ञेय' आधुनिक कवियों को संगठित करने और आधुनिक भाव-बोध को विस्तार देने में अग्रणी रहे हैं। उन्होंने रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और अर्जित कुमार जैसे कवियों की रचनाओं के प्रतिनिधि चयन की भूमिकाएँ लिखीं। वहीं जयशंकर प्रसाद के काव्य संस्कार मूलतः द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक और नैतिक मूल्य-दृष्टि से निर्मित थे। वे रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृति देते हैं।

24.1 रामविलास शर्मा की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान

रामविलास शर्मा की आलोचना विचारधारात्मक संघर्ष के बीच विकसित होने के कारण अपनी प्रकृति में खासी

विवादास्पद रही है। वे इन विवादों से ही सर्जनात्मक ऊर्जा प्राप्त करने वाले आलोचक हैं। उनकी आलोचना का यह स्वभाव सन् 1934 में निराला पर प्रकाशित उनके पहले निबंध और सन् 41 में प्रकाशित 'प्रेमचंद' नामक पहली आलोचनात्मक पुस्तक से लेकर जीवनपर्यन्त बना रहा है। अपने दुर्धर्ष विचारधारात्मक संघर्ष के द्वारा उन्होंने एक विशेष प्रकार के साहित्य का विरोध करके राष्ट्रीय, जनवादी और प्रगतिशील साहित्य की प्रतिष्ठा का जो प्रयास किया है वह, एक आलोचक के रूप में, उनकी कीर्ति को दीर्घकाल तक जीवित रख पाने में समर्थ हैं। वे गंभीर तैयारी के साथ आलोचना-कर्म में प्रवृत्त होने वाले आलोचक हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके सहयोगी रचनाकारों के बारे में एक आम धारणा यह थी कि वे लोग राजभक्ति से बँधे लेखक थे जो मुस्लिम शासकों की लंबी गुलामी से मुक्ति के परिणामस्वरूप मुसलमानों के प्रति विद्वेष और गहरी घृणा मन में संजोए, ब्रिटिश राज द्वारा प्राप्त सुविधाओं, सुरक्षा और कथित विकास के कारण उसकी कृपा के प्रति कृतज्ञता अनुभव करने वाले लेखक थे जिनके साहित्य की केंद्रीय विषय-वस्तु भगवत् और राजभक्ति थी तथा अपने समय की वर्तमान स्थिति से उनका कुछ विशेष लेना-देना नहीं था। 'भारतेन्दु-युग' (1943) और 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र' (1953) नामक अपनी पुस्तकों में उन्होंने इस प्रचलित धारणा का खण्डन किया। उनकी मूल स्थापना थी कि राजभक्ति का स्वर इस युग के साहित्यकारों में जब-तब भले ही सुनाई पड़ता हो, मुसलमानों के प्रति भी अनेक आपत्तिजनक वक्तव्य उनके यहाँ मिलते हैं लेकिन फिर भी यदि उनके साहित्य का गंभीर अनुशीलन किया जाए तो उनका राष्ट्रीय और लोकवादी रूप स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इस राष्ट्रीय और लोकवादी दृष्टि से ही वे भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके सहयोगी लेखकों के मूल्यांकन में प्रवृत्त होते हैं।

राष्ट्रीय जनवादी चेतना के विकास, स्वदेशी के जन्मदाता और आधुनिक हिंदी भाषा एवं साहित्य की स्थापना तथा विकास की दृष्टि से भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों से संबंधित रामविलास शर्मा का वैचारिक संघर्ष अपनी प्रकृति में क्रांतिकारी तो है ही, अपने महत्त्व के कारण वह हिंदी आलोचना में एक नई दिशा के प्रवर्तन का सूचक भी है। इसी तरह 'प्रेमचंद' (1941) और 'प्रेमचंद और उनका युग' (1952) लिखकर, अनेक अर्थहीन, अतिरंजित और एकांगी स्थापनाओं के बावजूद, वे प्रेमचंद के अवमूल्यन के अनेक सुविचारित और योजनाबद्ध प्रयासों को निरस्त करते हैं। प्रेमचंद-संबंधी उनकी इस आलोचना का महत्त्व इसी से प्रमाणित होता है कि प्रेमचंद-संबंधी परवर्ती आलोचना में उसकी अनुगूँज लंबे समय तक छाई रही। कलावादी आलोचकों द्वारा प्रेमचंद को द्वितीय श्रेणी का लेखक माने जाने और एक सुधारवादी-आदर्शवादी लेखक के रूप में उनकी स्वीकृति का रामविलास शर्मा गंभीर और दुर्धर्ष विरोध करते हैं। वे प्रेमचंद को व्यापक युगीन संदर्भों में उनकी प्रतिरोधी भूमिका और जन-जागरण अभियान की दृष्टि से उनका मूल्यांकन करते हैं। रामविलास शर्मा इस बात पर बल देते हैं कि अनेक राष्ट्रीय नेताओं की अपेक्षा प्रेमचंद की राजनीतिक सूझबूझ कहीं अधिक परिपक्व और विकसित थी और उसके सर्जनात्मक उपयोग का गहरा विवेक उनके पास था। 'रंगभूमि' पर थैकरे 'वैनिटी फेयर' के अनुकरण का आरोप लगाने वालों का उनका स्पष्ट और दो टूक उत्तर था, 'रंगभूमि' सन् 1920 और 1930 के आंदोलनों के बीच हिंद-प्रदेश की रंगभूमि है...' (प्रेमचंद और उनका युग, संस्करण 1967, पृष्ठ. 84) 'रंगभूमि' का संबंध ठेठ हिंदुस्तानी जनता से है। इसी प्रसंग में वे आगे लिखते हैं, 'प्रेमचंद की पैनी निगाह देख रही थी कि हिंदुस्तानी की जनता लड़ रही है—बिना किसी पार्टी की मदद के बिना किसी राजनीतिक नेता की सलाह का फायदा उठाए। यह 1920 और 1930 के बीच का उपन्यास है जब हिंदुस्तान में बड़े नेताओं की तरफ से आंदोलन का संचालन नहीं हो रहा था, जब अंग्रेज कहते थे कि देश में शांति है। तब भी सूरदास लड़ रहा था और मृत्यु-शय्या से पुकारकर कह रहा था—'फिर खेलेंगे जरा दम लेने दो।' यह भारत की अजेय जनता का स्वर था'.... (वही, पृ. 84)

रामविलास शर्मा संभवत: पहले आलोचक हैं जिन्होंने प्रेमचंद्र को व्यापक राष्ट्रीय संदर्भों से जोड़कर देखा और उनके साहित्य की साम्राज्य विरोधी भूमिका स्पष्ट की। 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' का तो घोषित उद्देश्य अपेक्षाकृत मंद पड़ गए विचारधारात्मक संघर्ष को तेज करना है। यह पुस्तक छठे दशक में शुक्ल जी के उस व्यापक अवमूल्यन के विरोध का परिणाम है जिसमें अनेक कारणों से कुछ प्रगतिवादी आलोचक भी शामिल थे। शुक्ल जी की आलोचना की मूल प्रकृति को उद्घाटित करते हुए रामविलास शर्मा उसके सामंतवाद विरोधी, राष्ट्रीय एवं लोकवादी स्वरूप पर बल देते हैं जिसकी सहायता से उन्हें हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना के संवर्धन और विकास

की संभावनाएँ दिखाई देती हैं। निराला पर भी रामविलास शर्मा ने उनके व्यापक विरोध की प्रतिक्रिया में ही लिखा। निराला के जीवन और कवि-कर्म को लेकर अनेक अतिरंजित और भ्रामक बातें प्रचारित की जा रही थीं और उनके साहित्य में अध्यात्म, वेदान्त, रहस्यवाद के साथ दुरूहता का आरोप भी लोग लगा रहे थे। उल्लेख किया जा चुका है कि डॉ. शर्मा ने सन् 1934 में निराला के संबंध में ऐसे ही आक्षेपों के उत्तर में लिखे गए अपने निबंध से आलोचना-कर्म की शुरुआत की। फिर सन् 1946 में उनकी 'निराला' आई और उसके बाद तीन खण्डों में 'निराला की साहित्य-साधना' जिसमें निराला के जीवन, व्यक्तित्व और कला पर विस्तारपूर्वक लिखते हुए उन्होंने उनके साहित्य की यथार्थवादी प्रगतिशील भूमिका उद्घाटित की। निराला ने अंग्रेजी राज, जमींदारी प्रथा, किसान आंदोलन, वर्णाश्रम धर्म और नारी की पराधीनता आदि पर जो कुछ लिखा है उससे उनके साहित्य का राष्ट्रीय प्रगतिशील स्वरूप स्पष्ट होता है।

इसी क्रम में 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' (1977) लिखकर उन्होंने इस धारणा को ध्वस्त किया कि द्विवेदी जी सहज नीतिवादी कठोर संपादक और भाषा-संशोधक मात्र थे। द्विवेदी जी के व्यापक महत्त्व की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा, 'द्विवेदी जी की युगांतरकारी भूमिका यह है कि उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से अनेक समस्याओं का विवेचन गहराई से किया...' (महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, संस्करण 77 भूमिका, पृ. 18) इस 'युगांतरकारी भूमिका' के उद्घाटन-क्रम में, अपने स्वभाव के अनुरूप, वे अनेक एकांगी और विवादास्पद स्थापनाएँ भी करते हैं। राष्ट्रीय नवजागरण के बरक्स 'हिंदी नवजागरण' की उनकी स्थापना इसका एक उदाहरण है जो गुजरात, महराष्ट्र और बंगाल के राष्ट्रीय नवजागरण से अलग करके संकीर्ण क्षेत्रीय दृष्टि से समस्या को देखने का ही परिणाम अधिक है। 'हिंदी नवजागरण' संबंधी अपनी इस थीसिस को वे 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र' के नए संशोधित संस्करण 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण' में फिर दोहराते हैं और अपने विरोधियों को अपने ढंग से उत्तर भी देते हैं।

रामविलास शर्मा के इस विचारधारात्मक संघर्ष में विवाद और मतभेद के अनेक मुद्दे हैं। एक ओर वे रीतिवाद के समर्थकों से टकराते हैं तो दूसरी ओर उन लोगों का भी विरोध करते हैं जो छायावाद को राष्ट्रीय संदर्भों से काटकर अन्य अनेक कारणों से उसका समर्थन करते हैं। मार्क्सवादी आलोचकों से भी अनेक मुद्दों पर उनका भीषण टकराव होता है। जिनमें परंपरा के मूल्यांकन का सवाल सबसे महत्त्वपूर्ण है। पाँचवें और छठे दशकों में परंपरा के मूल्यांकन का सवाल हिंदी की प्रगतिवादी आलोचना का सबसे जटिल सवाल था। इस मुद्दे पर आलोचकों की दृष्टि बहुत साफ न होने से हिंदी की प्रगतिवादी आलोचना की प्रकृति शुरू से कुछ अधिक ही पोलेमिकल बनती गई। तुलसीदास और आचार्य शुक्ल विशेष रूप से इस लंबी धारावाहिक बहस के केंद्र में दिखाई देते हैं। चूँकि 'कबीर' और हिंदी साहित्य की भूमिका में हजारी प्रसाद द्विवेदी शुक्ल जी की सामान्य पद्धति और अनेक निष्कर्षों से अपनी असहमति प्रकट कर चुके थे, रामविलास शर्मा शुक्ल जी के समर्थन में द्विवेदी जी की अनेक स्थापनाओं का भी उग्र विरोध करते हैं। आगे चलकर नामवर सिंह द्विवेदी जी के अनेक शिष्यों-समर्थकों द्वारा उनके समर्थक के कारण जैसे आचार्य शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी दो परस्पर विरोधी शिविरों में बंट जाते हैं। यह विवाद नामवर सिंह की 'दूसरी परंपरा की खोज' (1982) और रामविलास शर्मा की 'लोक जागरण और हिंदी साहित्य' (1984) और 'हिंदी जाति का साहित्य' (1986) से होता हुआ अब रामविलास शर्मा की पहली बरसी पर प्रकाशित 'आलोचना' के रामविलास शर्मा पर केंद्रित अंक में अपने मुखरतम रूप में प्रकट हुआ है। इसमें नामवर सिंह के संपादकीय 'इतिहास की शवसाधना' का व्यापक विरोध 'वसुधा' और 'कल के लिए' के रामविलास शर्मा पर ही केंद्रित अंकों के अतिरिक्त भी और बहुत से निबंधों तथा टिप्पणियों में देखा जा सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि रामविलास शर्मा ने परंपरा के मूल्यांकन का सवाल गंभीर रूप से उठाया और इस दिशा में सारे मार्क्सवादी आलोचकों ने मिलकर भी इतना काम नहीं किया जितना उन्होंने अकेले ही किया है। उन्होंने भवभूति, कालिदास और तुलसीदास सहित आधुनिक काल के भी अनेक लेखकों का स्वतंत्र मूल्यांकन करके परंपरा के प्रति मार्क्सवादी आलोचना का रवैया स्पष्ट किया। वस्तुत: यही उनकी आलोचना का विचारधारात्मक संघर्ष है। उनके निबंधों का संकलन 'परंपरा का मूल्यांकन', इस दृष्टि से, मार्क्सवादी हिंदी-आलोचना का संदर्भ कोष भी कहा

नोट

जा सकता है। अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के प्रति एक मार्क्सवादी आलोचक की चिंता यहाँ बहुत स्पष्ट है। लेकिन यहाँ विवेचन की जो पद्धति रामविलास शर्मा अपनाते हैं, जो उनकी आलोचना की प्रतिनिधि पद्धति थी है, उसमें वे उसकी विश्वसनीयता की अधिक चिंता नहीं करते। वे कदाचित् इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि बड़े-से-बड़े लेखक के भी अपने अंतर्विरोध होते हैं और उनके बीच और बावजूद वह बड़ा और युगांतरकारी लेखक हो सकता है। रामविलास शर्मा के विवेचन की पद्धति प्राय: ही यांत्रिक और एकांगी हो जाती है क्योंकि विरोधी पक्ष को या तो वे अपने हित में अनदेखा करते हैं या फिर उसके तर्कों और आशयों को वे प्राय: ही तोड़-मोड़ और विकृत करके प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए लेखकों के समर्थन और विरोध में वे दोहरे मानदंडों का इस्तेमाल भी करते हैं। जिस तर्क से वे अपने विरोधी को ध्वस्त करते हैं उसी तर्क से वे अपने समर्थक लेखक की पीठ थपथपाते हैं। विरोधी को ध्वस्त करने के लिए वे प्राय: ही व्यंग्य और वक्रता से काम लेते हैं जिससे तथ्यों के प्रति वे गंभीर और विश्वसनीय नहीं रह जाते। प्राय: ही वे अपने प्रिय लेखकों को प्रतिमान की तरह इस्तेमाल करते हैं। तुलसी के सामंत विरोधी मूल्यों और भक्ति काव्य में उनकी चर्चा के प्रसंग में तुलसी के विरोध में जाने वाले तथ्यों के प्रति या तो वे उदासीन बने रहते हैं या फिर उन पर लीपा-पोती की कोशिश करते हैं। वर्णाश्रम के समर्थन और नारी की सामाजिक स्थिति के संबंध में तुलसीदास के अनेक वक्तव्यों को प्रक्षिप्त मानकर वे हवा में उड़ा देते हैं। डॉ. शर्मा के मरणोपरांत प्रकाशित 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' (2001) की भूमिका में डॉ. रणजीत साहा ने उन प्रस्तावित अध्यायों की सूची प्रस्तुत की है जिन्हें रामविलास शर्मा इस पुस्तक के लिए लिखना चाहते थे।

नोट्स भारतीय सौंदर्यबोध के संदर्भ में तुलसीदास को वे तानसेन और ताजमहल के साथ रखकर क्रमश: साहित्य, संगीत और स्थापत्य के उत्कृष्ट प्रतीक और युगांतरकारी प्रतिमान के रूप में उनकी व्याख्या करना चाहते थे।

रामविलास शर्मा की इस महत्त्वाकांक्षी योजना पर टिप्पणी करते हुए डॉ. रणजीत साहा लिखते हैं, 'इस प्रतिमानत्रयी को वे भारतीय मध्यकाल के उत्कर्ष के रूप में रेखांकित करते हुए सारे विश्व के समक्ष भारतीय-सौंदर्यबोध की श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते थे...' (भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास, पृ. 12) अपने वर्तमान अपूर्ण रूप में वह अपने स्थापत्य की भव्यता का बोध तो कराती है, लेकिन तुलसीदास पर रामविलास शर्मा के पूर्वलिखित निबंधों के रूप में उसकी सीमा भी बहुत स्पष्ट है। उससे बस यही पता चलता है कि तुलसीदास और निराला ये दो ऐसे कवि हैं जो रामविलास शर्मा के आलोचना-कर्म के दो छोर बनाते हैं। इसी से शुरू करके इन्हीं पर उनके आलोचना-कर्म का अंत होता है।

रामविलास शर्मा की आलोचना-पद्धति सामान्यत: अपने अनुकूल तथ्यों को जुटाने और जो वे सिद्ध करना चाहते हैं उसमें तथ्यों एव साक्ष्यों की संपूर्ण उपेक्षा या फिर उन्हें विकृत करके प्रस्तुत करने वाली पद्धति है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के संदर्भ में रूस की सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था और लेनिन के संबंध में उनके विरोधी और कटाक्षपूर्ण वक्तव्यों की पूरी तरह उपेक्षा करके वे उन्हें क्षणिक आवेश का परिणाम मानकर आगे बढ़ जाते हैं और एक भिन्न प्रसंग में, यशपाल को उनसे मार्क्सवाद पढ़ने की सलाह तक देते देखे जा सकते हैं। ऐसे प्रसंगों में रामविलास शर्मा 'व्यक्ति' को विचारधारा से बड़ा मानकर चलते हैं। जिस लेखक की वे प्रशंसा करते हैं उसकी क्रांतिकारी और युगांतरकारी भूमिका रेखांकित करने के उत्साह में उसके अंतर्विरोधों की ओर तो पूरी तरह आँख मींच लेते हैं। अपनी आलोचना में वे उस द्वन्द्वात्मक पद्धति का उपयोग नहीं के बराबर करते हैं जिससे लेखक की सीमाओं का निर्देश करते हुए भी उसका महत्त्व रेखांकित किया जा सकता है। विवेचन की इस पद्धति के कारण ही उन्हें अतिरंजनाओं का सहारा लेना पड़ता है जिससे आलोचना की विश्वसनीयता का क्षरण होता है। इस पद्धति से यशपाल को शुक्ल जी और अमृतलाल नागर से मार्क्सवाद पढ़वाया जा सकता है, महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'संपत्ति शास्त्र' के मूल स्रोतों की ओर पूरी तरह चुप्पी साधकर उसे भिड़ाकर रजनी पामदत्त सहित अनेक मार्क्सवादी चिंतकों को खारिज किया जा सकता है। इस पद्धति से राहुल और रांगेय राघव को बहुत आसानी से नस्लवादी साबित किया जा सकता है और

यही वे करते हैं। निराला के प्रसंग में, उनका महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए पंत के संदर्भ में अशोभन और कुरुचिपूर्ण बातों के उल्लेख में भी उन्हें कोई परेशानी नहीं होती। श्रीमती शांति जोशी ने, 'निराला की साहित्य-साधना' के उत्तर में लिखित 'सुमित्रानंदन पंत की साहित्य साधना' में विस्तारपूर्वक तथ्यों के विकृतीकरण के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। आलोचना में विश्वसनीयता का अपना तर्क होता है। पक्षधरता के उत्साह में यदि आलोचना की यह विश्वनीयता क्षतिग्रस्त होती है तो उसमें निकाले गए निष्कर्ष आलोचक का ही मुँह चिढ़ाने लगते हैं। रामविलास शर्मा की आलोचना में विश्वसनीयता का यह क्षरण उसकी उपस्थिति और हस्तक्षेप को ही संदिग्ध बना देता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. 'प्रेमचंद' नामक आलोचनात्मक पुस्तक .... द्वारा लिखी गई है।
2. रामविलास शर्मा द्वारा लिखी 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' नामक पुस्तक .... में प्रकाशित हुई थी।
3. कुछ प्रसंगों में रामविलास शर्मा .... को विचारधारा से बड़ा मानकर चलते हैं।

टास्क एक आलोचक के रूप में रामविलास शर्मा की व्याख्या कीजिए।

हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में रामविलास शर्मा अत्यंत महत्त्वपूर्ण ही नहीं, बहुत कुछ उसके पर्याय जैसे हैं। उसकी प्रतिष्ठा, विकास और संवर्द्धन में उनकी ऐतिहासिक भूमिका रही है। उन्हें आधार बनाकर हिंदी में मार्क्सवादी आलोचना की उपलब्धियों और सीमाओं को आसानी से समझा जा सकता है। लेकिन रामविलास शर्मा की आलोचना का सर्वाधिक विडंबनापूर्ण पक्ष यह है कि जहाँ वे परंपरा के समुचित मूल्यांकन की पहल करके वर्ग विभाजित समाज में कला, कलारूपों एवं कलाकारों की प्रगतिशील भूमिका रेखांकित करते हैं वहीं अपने समय के प्राय: समूचे प्रगतिवादी लेखन के प्रति उनकी दृष्टि आत्यन्तिक रूप से निषेधवादी, ध्वंसात्मक और उपेक्षापूर्ण बनी रही है। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल और रांगेय राघव सहित सारे प्रगतिवादी लेखकों से, विचारधारात्मक संघर्ष के नाम पर किसी न किसी मुद्दे पर उनका जो मतभेद शुरू होता है अपनी अंतिम परिणति में वह संपूर्ण निषेध और उच्छेदवाद का एक विडंबनापूर्ण साक्ष्य बन जाता है। उनकी इस प्रवृत्ति का और भी दुखद उदाहरण 'हिंदी जाति का इतिहास' में हजारी प्रसाद द्विवेदी के उच्छेद की उनकी कोशिश में देखा जा सकता है। प्राय: पूरे प्रगतिवादी कथा-साहित्य के प्रति उनका रवैया आत्यन्तिक रूप से एकांगी, दुराग्रहपूर्ण और निषेधवादी साबित हुआ है। संगठन और आंदोलन के प्रति अतिरेकी और शुद्धतावादी आग्रहों के कारण वे साहित्य, संस्कृति और भाषा के सवालों पर बहुत अतिवादी दृष्टि अपनाते देखे जा सकते हैं। स्तालिन कालीन सोवियत साहित्य में जो भूमिका कभी जदानोव की थी रामविलास शर्मा की भूमिका की इस प्रसंग में उससे बहुत भिन्न नहीं रही है।

क्या आप जानते हैं लेखक से मतभेद की स्थिति में उसकी कोई अच्छाई वे प्राय: नहीं देखते। ऐसे प्रसंगों में उनके मूल्यांकन की पद्धति अनिवार्य रूप से विघटनकारी और ध्वंसात्मक होती है। ध्वंस के उत्साह में वे शुत्र और मित्र की पहचान भूल जाते हैं। ऐसी स्थिति में राहुल और यशपाल की साहित्यिक समस्याओं एवं रचनात्मक सरोकारों को वे जैनेन्द्र और अज्ञेय से जोड़कर देखते हैं और इन लेखकों की वास्तविक 'युगांतरकारी भूमिका के प्रति पूरी तरह से निषेधवादी दृष्टि अपनाते हैं।

नोट

अपने शुद्धतावादी आर्य समाजी उत्साह में वे सेक्स नैतिकता का सवाल उठाकर इन्हें पूरी तरह खारिज कर देते हैं। रांगेय राघव को तो वे नस्लवादी तक सिद्ध कर देते हैं। इस मूल्यांकन को सबसे विडंबनापूर्ण पक्ष यह है कि जब भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल में वे प्रगतिशील तत्त्वों की छानबीन कर रहे होते हैं उसी समय वे प्रगतिवादी लेखकों में छायावादी संस्कार सूँघते और ढूँढ़ते हैं। अपने समय की सर्वाधिक संभावनाशील रचनात्मक ऊर्जा के प्रति यह निषेधवादी दृष्टिकोण ही मार्क्सवादी आलोचना की सबसे बड़ी सीमा बना रहा। अपने समय की रचनात्मक सक्रियता के प्रति उदासीन और विरोधी रवैया अपनाकर आलोचना भी कुंठित होने से बच नहीं सकती। इस विडंबनापूर्ण साक्ष्य के लिए रामविलास शर्मा बहुत अच्छे उदाहरण के रूप में हमारे सामने हैं।

अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में रामविलास शर्मा व्यक्ति और समाज के अंत:संबंधों की गंभीर थाह लेने वाले आलोचक हैं। एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक और राष्ट्रीय फलक पर लेखक के व्यक्तित्व और निजी संघर्ष के साक्ष्य पर उसके साहित्य का मूल्यांकन और निष्कर्षों की दिशा में तेजस्वी तर्कपद्धति का निर्माण उनकी आलोचना को जीवंत और पठनीय बनाता है। उनके विरोधी भी यह स्वीकार करते हैं कि रामविलास शर्मा पर अनेक आरोप लगाए जा सकते हैं लेकिन वैचारिक घालमेल का दोषी उन्हें नहीं ठहराया जा सकता। शायद इसीलिए वे हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में अवसरवादी तत्त्वों की छानबीन पर विशेष जोर देते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्पष्ट, दो टूक और मितव्ययी गद्य-शैली का विकास उनमें सहज ही देखा जा सकता है। अपने विवेचन में विरोधी पक्ष के मूल वैचारिक स्रोतों की गंभीर पड़ताल के बाद उसकी जड़ों में मट्ठा डालने वाली पद्धति उनकी आलोचनात्मक रणनीति का खास हिस्सा है। हिंदी कथा-साहित्य में प्रेमचंद की परंपरा के अवरोध पर क्षुब्ध होकर, उसमें मध्यवर्गीय वस्तु तत्त्व की बढ़ती हुई दिलचस्पी के लिए वे सीधे शरच्चंद्र पर हमला करते हैं—अपनी प्रिय ध्वंसात्मक और उच्छेदकारी शैली में-उनके महत्त्व को पूरी तरह से नकारते हुए। नयी कविता में जीवन के निषेध, मृत्युबोध, अमूर्तन और व्यक्तिवादी रुझान के लिए एजरा पाउंड और टी.एस. इलियट पर ही नहीं रुक जाते। वे पतनशील फ्रेंच प्रतीकवादियों-जूल्स लफार्ग और ट्रिस्टम कार्वेयर-तक जाकर इन प्रवृत्तियों के मूल स्रोत तक पहुँचते हैं। रेणु की 'परती:परिकथा' में प्रतीकों के प्रति उनके रुझान को भी वे पास्तरनाक और इलियट के प्रतीक विधान से जोड़कर देखते हैं। शेष कमी वे उन्हें शरच्चंद्र के खाते में डालकर पूरी कर लेते हैं। मुक्तिबोध के पुनर्मूल्यांकन के प्रसंग में वे न सिर्फ उन पर अपने अस्तित्ववादी दर्शन साहित्य के प्रभाव वाले स्टैंड पर अडिग रहते हैं, भारत में वे उन परिस्थितियों को भी विस्तारपूर्वक छानबीन करते हैं जो इन रुझानों को प्रोत्साहित कर रही थीं।

रामविलास शर्मा जैसे आलोचक की उपस्थिति में उस विधा में काम करके किसी को भी गर्व हो सकता है। उनकी असाधारण रूप से ऊर्जावान सक्रियता यदि बहुतों को अभिभूत करती है तो ऐसे लोग भी हैं जिन्हें वह हताश और कुंठित करती है। जितने व्यापक और परस्पर विरोधी समझे जाने वाले जिन अनेक क्षेत्रों में उन्होंने कार्य किया है, किसी एक व्यक्ति द्वारा उस सबका मूल्यांकन भी संभव नहीं है। यह उनके महत्त्व पर एक काफी कुछ प्रचलित और तथ्य परक टिप्पणी तो है ही, उस समूचे आलोचनात्मक परिदृश्य पर भी उतनी ही अर्थपूर्ण टिप्पणी है जिसमें वे प्राय: साठ वर्षों तक निरंतर सक्रिय रहे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. 'इंडियन लिटरेचर सिंस इंडिपेंडेंस' (1957) किस अकादमी द्वारा प्रकाशित पुस्तक है?

   (अ) पंजाबी अकादमी (ब) उर्दू अकादमी

   (स) साहित्य अकादमी (द) हिन्दी अकादमी

5. 'सूरज का सातवां घोड़ा' नामक पुस्तक किसके द्वारा लिखी गई है?

   (अ) जयशंकर प्रसाद (ब) अज्ञेय

   (स) सुमित्रानंदन पंत (द) धर्मवीर भारती

6. 'देशद्रोही' निम्न में से किसके द्वारा लिखा गया उपन्यास है?

(अ) प्रेमचंद (ब) यशपाल

(स) इलाचंद्र जोशी (द) इनमें से कोई नहीं

24.2 सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान

कवियों द्वारा लिखित आलोचना के संबंध में पूर्वाग्रह कुछ भी पाले जा सकते हैं लेकिन सच्चाई यही है कि हिंदी में निराला और मुक्तिबोध ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने आलोचना में भी व्यापक हस्तक्षेप किया है और उनके इस हस्तक्षेप को एक आलोचक की वस्तुपरकता और गंभीरता के साथ लिया जा सकता है। अपने सुदीर्घ जीवन-काल में अज्ञेय ने आलोचना भी लिखी लेकिन अपनी प्रकृति में कुल मिलाकर वह वर्कशॉप क्रिटिसिज्म का ही उदाहरण है—जैसा कि अपने शोध-प्रबंध 'आधुनिक हिंदी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव' में डॉ. रामचंद्र प्रसाद ने उन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है। वे उसे पॉल वैलरी और टी.एस. इलियट की समीक्षात्मक रचनाओं की तरह मुख्यत: साहित्यकार की निर्माणशाला में प्रसूत आलोचना का उदाहरण मानते हैं। आलोचना के क्षेत्र में उनका हस्तक्षेप किसी व्यवस्थित और वस्तुपरक आलोचना का उदाहरण न होकर साहित्य, कला और काव्य संबंधी उनके अपने विचारों की ही व्याख्या है। आंदोलन और संगठन की उनमें विशेष क्षमता थी।

'अज्ञेय' की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान : आधुनिक कवियों को संगठित करने और आधुनिक भाव-बोध को विस्तार देने में 'अज्ञेय' की विशिष्ट भूमिका रही है। चार सप्तकों के अट्ठाइस कवियों के अतिरिक्त उन्होंने रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और अजित कुमार जैसे कवियों की रचनाओं के प्रतिनिधि चयन की भूमिकाएँ लिखीं। अपने निबंधों के आरंभिक संग्रह 'त्रिशंकु' (1945) में उन्होंने विस्तार से काव्य और कला संबंधी अपने विचारों को प्रस्तुत किया। 'आत्मनेपद' (1960), जैसा कि उसके शीर्षक से ही स्पष्ट है मुख्यत: अपने साहित्य संबंधी उनके वक्तव्यों का संकलन है। किसी हद तक व्यवस्थित और वस्तुपरक आलोचना के रूप में उनकी 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (1976) का ही उल्लेख किया जा सकता है जिसमें उन्होंने अनेक साहित्य-विधाओं की प्रगति और वर्तमान स्थिति पर टिप्पणियाँ की हैं। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'इंडियन लिटरेचर सिंस इंडिपेंडेंस' (1957) में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन के नाम से स्वयं ही 'अज्ञेय' पर उन्होंने जैसी अतिरेकी और प्रशंसापूर्ण टिप्पणियाँ की थीं, उससे खासा विवाद भी पैदा हुआ। सुमित्रानंदन पंत की षष्टपूर्ति के अवसर पर प्रकृति-काव्य का एक मनोहारी चयन उन्होंने 'रूपंबरा' (1960), शीर्षक से, अपनी लंबी भूमिका के साथ प्रस्तुत किया।

> *नोट्स* अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में रामविलास शर्मा व्यक्ति और समाज के अंत:संबंधों की गंभीर थाह लेने वाले आलोचक हैं।

इस सबके आधार पर आलोचक से अधिक वे एक संगठनकर्ता की भूमिका में ही अधिक सामने आते हैं। लेकिन फिर भी जो कुछ उन्होंने लिखा है उससे साहित्य और कला संबंधी उनके विचारों के साथ आधुनिक साहित्य पर उनकी प्रतिक्रियाओं को समझा जा सकता है। उनके अपने साहित्य का समझने के सूत्र तो यहाँ हैं ही।

'इंडियन लिटरेचर सिंस इंडिपेंडेंस' में अज्ञेय इलाचंद्र जोशी के मनोविश्लेषणवाद से अपने को जोड़े जाने का विरोध करते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि 'शेखर: एक जीवनी' और अनेक कहानियों में नि:संदेह उन्होंने इस पद्धति का उपयोग किया है लेकिन उनकी आशावादी दृष्टि एक ऐसा विभाजक-सूत्र है जो उन्हें जोशी से अलग करती है। अपने संदर्भ में, प्रभाव के रूप में, बाइबिल और ईसाई विचार-दृष्टि के साथ वे रॉबर्ट ब्राउनिंग और डी.एच. लारेंस का उल्लेख खासतौर से करते हैं।

'त्रिशंकु' में संकलित अपने निबंध 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' में वे कला को 'सामाजिक अनुपयोगिता की

नोट

अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने के प्रयत्न' के रूप में परिभाषित करते हैं। वे इसे 'अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह' के रूप में देखते हैं। इस तरह वे एडलर की तरह कला को हीनता की क्षति-पूर्ति के रूप में स्थापित करते हैं। अज्ञेय लेखक से कला के प्रति आत्यन्तिक समर्पण और आत्मदान की अपेक्षा करते हैं।

क्या आप जानते हैं इलाचंद्र जोशी की तरह अज्ञेय साहित्य में 'शाश्वत' की वकालत नहीं करते, यद्यपि उसके महत्त्व से वे भी इंकार नहीं करते।

भारतीय संस्कृति की 'शुद्धता' की दुहाई देने वालों के विरुद्ध वे लिखते हैं, 'जो लोग भारतीय संस्कृति की दुहाई देते हैं वे प्रायः भूल जाते हैं कि अन्य सभी संस्कृतियों की भांति भारतीय संस्कृति भी एक मिश्र और सामाजिक संस्कृति है–कि संस्कृति मात्र समन्वित होती है क्योंकि एक समन्वित-दृष्टि ही उसकी एकता का आधार होती है'. ... (आधुनिक हिंदी-साहित्य, संस्करण' 76 पृ. 25) अज्ञेय की दृष्टि में 'परंपरा' इतिहास अथवा घटनाक्रम मात्र न होकर घटना-क्रम से प्राप्त जाति-गत अनुभव है उससे भी अधिक एक जीवित स्पंदन, जो जाति को अभिप्रेरित करता है। हिंदी के प्रगतिशील आंदोलन से, और बहुतों की तरह, उनकी भी मुख्य शिकायत यह है कि क्रमशः 'शील' की जगह 'वाद' से ग्रस्त होता गया। यहीं वस्तुतः यह सूत्र भी मिलता है जिसके कारण शिवदानसिंह चौहान ने, साहित्य में संयुक्त मोर्चे के दौर में, 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' में अंतर करते हुए 'प्रगतिशील' को स्वीकृति दी थी जिसके कारण अपने अनेक साथियों का विरोध भी उन्हें सहना पड़ा था।

समकालीन साहित्य पर अज्ञेय की ये टिप्पणियाँ पर्याप्त वस्तुपरकरता से लिखी गई हैं। इस वस्तुपरकता का सिर्फ एक उदाहरण, यशपाल से संबंधित, दिया जा सकता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व प्रमुख उपन्यासों की चर्चा के प्रसंग में, 'प्रेमचंद और परवर्ती उपन्यास' शीर्षक निबंध में, कुछ महत्त्वपूर्ण और प्रमुख उपन्यासों के साथ यशपाल के 'देशद्रोही' के संबंध में उनकी टिप्पणी है, 'रचना की दृष्टि से यशपाल का 'देशद्रोही' इन उपन्यासों में सबसे अच्छा है यद्यपि उसकी कथा भारत से अफगानिस्तान जाती है और फिर लौटती है और विदेश का वर्णन उतना सम्यक् और जीवंत नहीं है जितना कि भारत का है। यशपाल एक प्रौढ़, कुशल और अध्यवसायी शिल्पी है और इसी शिल्प के सहारे उन्होंने एक रोचक और पठनीय उपन्यास प्रस्तुत किया है। शिल्प और तकनीक पर अपने अधिकार को वह अधिकाधिक राजनैतिक अथवा सैद्धांतिक प्रतिपत्तियों में लगा रहे हैं, इस पर कुछ पाठकों को खेद हो सकता है पर अधिसंख्य, पाठक, जो उपन्यास में सबसे पहले एक सुघड़ रोचकता चाहते हैं, वे इस बात को अनदेखी भी कर सकते हैं....' (वही, पृ. 97) इसी तरह रांगेय राघव के 'घरौंदे' के प्रसंग में वे प्रतिभा और उसकी अपरिपक्वता का उल्लेख एक साथ करते हैं। अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में जो टिप्पणियाँ अज्ञेय ने संकलित की हैं उनमें अनेक कारणों से 'शोध और हिंदी शोध' एक रोचक और बेधक टिप्पणी है–हिंदी शोध की प्रकृति का खुलासा करती हुई।

टास्क 'अज्ञेय' के साहित्यिक योगदान पर प्रकाश डालिए।

24.3 जयशंकर प्रसाद की लेखन कुशलता एवं उनका साहित्यिक योगदान

अपने कवि-कर्म की शुरुआत भले ही प्रसाद ने ब्रजभाषा काव्य से की हो लेकिन वे मूलतः छायावादी और रहस्यवादी कवि थे। आचार्य शुक्ल ने छायावाद और प्रसाद को बहुत सीमित समर्थन ही दिया। वे काव्य में रहस्यवाद के प्रबल विरोधी थे और छायावाद की परिवर्तित काव्य संवेदना, विशेष रूप से उसकी मांसल ऐन्द्रियता और सूक्ष्म सौंदर्यबोध वे स्वीकार नहीं कर सके। उनके काव्य संस्कार मूलतः द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक और नैतिक मूल्य-दृष्टि से

निर्मित थे। स्वाभाविक रूप से प्रसाद ने छायावाद और रहस्यवाद के समर्थन में कुछ निबंध लिखे जिनका पुस्तकाकार प्रकाशन प्रसाद जी के निधन के बाद सन् 39 में, नंददुलारे वाजपेयी की लंबी भूमिका के साथ हुआ।

अपने निबंध 'काव्य और कला' में प्रसाद कवि-कर्म को एक आध्यात्मिक कर्म के रूप में व्याख्यायित करते हैं। शुक्ल जी रहस्यवाद को एक विजातीय प्रवृत्ति मानकर उसकी आलोचना करते हैं। इसी के उत्तर में जैसे प्रसाद जी भारतीय वाङ्मय की सुरुचि संबंधी विचित्रताओं में उसके सूत्र ढूँढ़ते हैं। शुक्ल जी का उल्लेख किए बिना जैसे वे उनके आक्षेपों का उत्तर देते हुए लिखते हैं, 'विज्ञ समालोचक भी हिंदी की आलोचना करते-करते 'छायावाद', 'रहस्यवाद' आदि वादों की कल्पना करके उन्हें विजातीय, विदेशी तो प्रमाणित करते ही हैं, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्तमान हिंदी कविता में अचेतनों में, जड़ों में चेतना का आरोप करना हिंदी वालों ने अंग्रेज़ी से लिया है, क्योंकि अधिकतर आलोचकों के गीत का टेक यही रहा है कि हिंदी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब बाह्य वस्तु (Foreign Element) है।' (काव्य और कला तथा निबंध, संस्करण, '69, पृ. 30)

प्रसाद जी रहस्यवाद का विवेचन भारतीय अद्वैतवाद की मानववादी धारा से जोड़कर करते हैं। प्रसाद जी भारतीय काव्य का मूलाधार आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं। पश्चिमी कला के मूल में वे अनुकरण की प्रवृत्ति को मुख्य मानते हैं। इसी आधार पर वे दोनों कला-दृष्टियों के मूल अंतर को स्पष्ट करते हैं। चिंतन और अनुभूति तथा तर्क और संकल्प के बीच वे अनुभूति और संकल्प को काव्य का मूल लक्ष्य घोषित करते हैं।

प्रसाद जी रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृति देते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के अन्य सम्प्रदायों-अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि-को वे 'विवेक' से जोड़ते हैं और रस को 'आनंद' से। यथार्थवाद को वे 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' के रूप में व्याख्यायित करके जैसा कि नन्ददुलारे वाजपेयी संकेत करते हैं, भारतेन्दु-युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों पर भी टिप्पणी कर रहे होते हैं। यह ठीक है कि अनेक विषयों पर प्रसाद जी की ये टिप्पणियाँ बहुत विस्तृत और संपूर्ण नहीं हैं, एक कवि के पूर्वाग्रह भी उनमें देखे जा सकते हैं, लेकिन प्रसाद के इन निबंधों से उनकी सुगम्भीर गंवेषणात्मक प्रवृत्ति और विश्लेषणात्मक क्षमता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। संस्कृति और इतिहास के क्षेत्र में उनकी गंभीर पैठ का प्रमाण उनकी 'चंद्रगुप्त' और 'कामायनी' जैसी कृतियों की लंबी भूमिकाओं से भी मिलता है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. जयशंकर प्रसाद काव्य में रहस्यवाद के प्रबल प्रशंसक थे।
8. जयशंकर प्रसाद अपने निबंध 'काव्य और कला' में कवि-कर्म को एक आध्यात्मिक कर्म के रूप में व्याख्यायित करते हैं।
9. जयशंकर प्रसाद रस को काव्य की आत्मा के रूप स्वीकार करते हैं।

24.4 सारांश (Summary)

- रामविलास शर्मा की आलोचना विचारधारात्मक संघर्ष के बीच विकसित होने के कारण अपनी प्रकृति में खासी विवादास्पद रही है। वे इन विवादों से ही सर्जनात्मक ऊर्जा प्राप्त करने वाले आलोचक हैं।
- इस बात पर बल देते हैं कि अनेक राष्ट्रीय नेताओं की अपेक्षा प्रेमचंद्र की राजनीतिक सूझबूझ कहीं अधिक परिपक्व और विकसित थी और उसके सर्जनात्मक उपयोग का गहरा विवेक उनके पास था।
- रामविलास शर्मा संभवत: पहले आलोचक हैं जिन्होंने प्रेमचंद्र को व्यापक राष्ट्रीय संदर्भों से जोड़कर देखा और उनके साहित्य की साम्राज्य विरोधी भूमिका स्पष्ट की।

नोट

- एक ओर वे रीतिवाद के समर्थकों से टकराते हैं तो दूसरी ओर उन लोगों का भी विरोध करते हैं जो छायावाद को राष्ट्रीय संदर्भों से काटकर अन्य अनेक कारणों से उसका समर्थन करते हैं।
- रामविलास शर्मा के विवेचन की पद्धति प्राय: ही यांत्रिक और एकांगी हो जाती है क्योंकि विरोधी पक्ष को या तो वे अपने हित में अनदेखा करते हैं या फिर उसके तर्कों और आशयों को वे प्राय: ही तोड़-मोड़ और विकृत करके प्रस्तुत करते हैं।
- रामविलास शर्मा की आलोचना-पद्धति सामान्यत: अपने अनुकूल तथ्यों को जुटाने और जो वे सिद्ध करना चाहते हैं उसमें तथ्यों एव साक्ष्यों की संपूर्ण उपेक्षा या फिर उन्हें विकृत करके प्रस्तुत करने वाली पद्धति है।
- हिंदी की मार्क्सवादी आलोचन में रामविलास शर्मा अत्यंत महत्त्वपूर्ण ही नहीं, बहुत कुछ उसके पर्याय जैसे हैं। उसकी प्रतिष्ठा, विकास और संवर्द्धन में उनकी ऐतिहासिक भूमिका रही है।
- अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में रामविलास शर्मा व्यक्ति और समाज के अंत:संबंधों की गंभीर थाह लेने? वाले आलोचक हैं।
- अपने सुदीर्घ जीवनकाल में अज्ञेय ने आलोचना भी लिखी लेकिन अपनी प्रकृति में कुल मिलाकर वह वर्कशाप क्रिटिसिज्म का ही उदाहरण है।
- साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'इंडियन लिटरेचर सिंस इंडिपेंडेंस' (1957) में स. ही. वात्स्यायन के नाम से स्वयं ही 'अज्ञेय' पर उन्होंने जैसी अतिरेकी और प्रशंसापूर्ण टिप्पणियाँ की थीं, उससे खासा विवाद भी पैदा हुआ।
- अज्ञेय की दृष्टि में 'परंपरा' इतिहास अथवा घटनाक्रम मात्र न होकर घटनाक्रम से प्राप्त जातिगत अनुभव है उससे भी अधिक एक जीवित स्पंदन, जो जाति को अभिप्रेरित करता है।
- अपने निबंध 'काव्य और कला' में प्रसाद कवि-कर्म को एक आध्यात्मिक कर्म के रूप में व्याख्यायित करते हैं।

24.5 शब्दकोश (Keywords)

- प्रगतिवाद – सामाजिक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित करने का सिद्धांत
- परिणति – परिणत होने की अवस्था, अंत, समाप्ति

24.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. रामविलास शर्मा की लेखन कुशलता का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
2. 'अज्ञेय' की लेखन कुशलता एवं साहित्यिक योगदान पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।
3. जयशंकर प्रसाद के साहित्यिक योगदान पर एक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self-Assessment)

1. रामविलास शर्मा	2. 1977	3. व्यक्ति	4. (स)
5. (द)	6. (ब)	7. असत्य	8. सत्य
9. सत्य।			

24.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. आलोचक का दायित्व – *रामचन्द्र तिवारी।*
2. आलोचना एवं आलोचक – *डॉ. बच्चन सिंह।*

नोट

इकाई–25 : पाश्चात्य साहित्यशास्त्र–अरस्तु का अनुकरण और विरेचन सिद्धांत

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
25.1 अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत
25.2 अरस्तु का विरेचन सिद्धांत
25.3 सारांश (Summary)
25.4 शब्दकोश (Keywords)
25.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
25.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- अरस्तु के बारे मे जानने हेतु।
- अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत को जानने हेतु।
- अरस्तु के विरेचन सिद्धांत को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

अरस्तु (374 ई०पू०-322 ई०पू) प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो का शिष्य था। पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अरस्तु का महान् योगदान है, वह सिकंदर महान् के गुरु के रूप में विख्यात है। अरस्तु ने विविध विषयों पर लगभग 400 ग्रंथों की रचना की। उनके साहित्य संबंधी विचारों का आधार उनके लिखे दो ग्रथ हैं–Poetics (काव्यशास्त्र) और Rhetoric (भाषा शास्त्र)।

25.1 अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत

अनुकरण शब्द यूनानी भाषा के 'मीमेसिस' (Mimesis) शब्द का हिंदी पर्याय है। वस्तुत: हिंदी में यह शब्द अंग्रेजी भाषा के (Imitation) से रूपान्तरित होकर आया है। अरस्तु से पूर्व प्लेटो ने अनुकरण सिद्धांत का विवेचन किया और यह स्थापित किया कि काव्य व्याज्य है, क्योंकि ईश्वर ही सत्य है इसकी अनुकृति संसार है और संसार की अनुकृति काव्य है। इस प्रकार काव्य अनुकरण का अनुकरण है। दूसरे शब्दों में–अनुकरण सदैव अधूरा होता है अत: संसार अर्द्धसत्य है और काव्य चौथाई सत्य है अर्थात् तीन-चौथाई झूठ है इसलिए व्याज्य है।

वस्तुत: प्लेटो ने अनुकरण का प्रयोग स्थूल अर्थ में किया और इस आधार पर काव्य के तीन भेद किए–

नोट

1. नाट्यात्मक काव्य
2. असत् काव्य, और
3. सत् काव्य।

अरस्तु ने भी अनुकरण के सिद्धांत को इसी रूप में लिया है, किंतु इसने अपनी कल्पना से इसमें नया रंग भर दिया तथा काव्य की महत्ता को पुनर्स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अरस्तु द्वारा अनुकरण शब्द का प्रयोग–अरस्तु ने अनुकरण शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया इसकी व्याख्या उनके टीकाकार अपने-अपने ढ़ंग से करते है।

प्रोफेसर बूचर–के अनुसार–"अरस्तु के द्वारा प्रयुक्त अनुकरण का अर्थ है सादृश्य, विधान के द्वारा मूल वस्तु का पुनराख्यान।''

प्रोफेसर मरे ने बताया है–"अनुकरण अर्थ सर्जना का अभाव नहीं अपितु पुनर्सर्जना है।"

अरस्तु ने काव्य को सौंदर्यवादी दृष्टि से देखा और इसे दार्शनिक, राजनीतिक एवं नीतिशास्त्र के बंधन से मुक्त किया। उनके शब्दों में–"Art is the imitation of Nature" अर्थात् कला प्रकृति की अनुकृति है। प्रकृति से उसका अभिप्राय जगत के बाह्य गोचर रूप के साथ-साथ उसके आंतरिक रूप (काम, क्रोध आदि मनोविकार) आदि से भी है।

अरस्तु ने हूबहू नकल को अनुकरण नहीं माना है। उनके अनुसार–"प्रकृति के अनेक दोष और अभाव भी अनुकृति की प्रक्रिया से कला द्वारा पूरे किए जाते हैं।" उसके शब्दों में–

"Generally Art Partly Completes what nature can not"

अवरक्रामी ने अरस्तु के तर्क को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

"यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती तो वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती थी जो प्रकृति देती है। पर तथ्य यह है कि कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं, क्योंकि वह हमें वह भी प्रदान करती है जो प्रकृति नहीं दे सकती है।"

अत: अनुकरण को मात्र नकल नहीं कहा जा सकता। अनुकरण सिद्धांत से इतिहासकार और कवि का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। इतिहासकार तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है, किंतु कवि उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। इसलिए काव्य के रूप अपेक्षाकृत अधिक भव्य हैं। वस्तुत: कलाजन्य आनंद अनुकृतिजन्य आनंद ही है।

अनुकरण की प्रक्रिया–अरस्तु के अनुसार कवि वस्तुओं को यथास्थित रूप में वर्णित नहीं करता अपितु उनके युक्ति युक्त (तर्कपूर्ण) संभाव्य रूप में वर्णित करता है। इस प्रकार की मानव जीवन के स्थायी तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए वस्तु के सत्य का बलिदान भी कर सकता है और उसमें परिवर्तन भी कर सकता है। काव्य में जिस मानव का चित्रण होता है वह सामान्य से अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी अथवा यथार्थ भी हो सकता है। वस्तुत: कवि सहृदय के आनंद के लिए यह परिवर्तन करता है, क्योंकि ऐसा करने से कवि को आनंद मिलता है।

विवेचन एवं निष्कर्ष–अरस्तु के अनुसार, अनुकरण का विषय जीवन का ब्राह्य पक्ष नहीं है, अपितु इसका प्रभाव क्षेत्र अंतर्जगत तक व्याप्त है। अरस्तु काव्य के लिए 'वस्तु कैसी है' की अपेक्षा 'वस्तु कैसी होनी चाहिए' पर अधिक बल देता है।

नोट्स अनुकरण सिद्धांत का विरोध क्रोचे (Croce) के सहजानुभूति सिद्धांत से भी है, क्योंकि क्रोचे के अनुसार–कला मूल रूप में कलाकार के मन में घटित होती है और वह सहजानुभूति है जबकि अरस्तु के अनुसार वह कल्पनातीत है।

अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत की परिधि बड़ी संकुचित है उसमें कवि की अंतश्चेतना को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना देना चाहिए था।

अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत के महत्त्वपूर्ण बिंदु इस प्रकार हैं:

1. कविता जगत की अनुकृति है तथा अनुकरण मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है।
2. अनुकरण से हमें शिक्षा मिलती है। बालक अपने से बड़ों की क्रियाएँ तथा उसका अनुकरण करके ही सीखता है।
3. अनुकरण की प्रक्रिया आनंददायक है। हम अनुकृत वस्तु में मूल का सादृश्य देखकर आनंद प्राप्त करते हैं।
4. अनुकरण के माध्यम से भयमूलक या त्रासमूलक वस्तु को भी इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे आनंद की प्राप्ति हो।
5. अरस्तु ने काव्य की समीक्षा स्वतंत्र रूप से की है प्लेटो की भाँति दर्शन राजनीति के चश्मे से उसे नहीं देखा।

समग्रत: अरस्तु ने अनुकरण सिद्धांत को प्लेटो की अपेक्षा नवीन अर्थ प्रदान किए। इसमें 'शिवम्' की अपेक्षा 'सुंदरम्' पर बल दिया, उसे दार्शनिकों और नीतियों के चुंगल से पृथक् किया। अरस्तु काव्य को प्रकृति का अनुकरण मानकर चला है। इसीलिए डॉ. नगेन्द्र के अनुसार–"अरस्तु का दृष्टिकोण अभावात्मक रहा है और त्रास और करुणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है।"

अरस्तु ने कवि की निर्माण क्षमता पर तो बल दिया है, पर जीवन के विभिन्न अनुभवों से निर्मित कवि की अंतश्चेतना को महत्त्व प्रदान नहीं किया। उसके सिद्धांत में एक कमी यह भी है कि वह आंतरिक अनुभूतियों के भी अनुकरण की बात करता है। अनुकरण का इतना विस्तार नहीं हो सकता बस यही उसके सिद्धांत की सीमा है।

टास्क अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. अनुकरण शब्द यूनानी भाषा के .... शब्द का हिन्दी पर्याय है।
2. अरस्तु प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक .... का शिष्य है।
3. अरस्तु .... महान् का गुरु था।

25.2 अरस्तु का विरेचन सिद्धांत

अस्स्तु द्वारा प्रतिपादित विरेचन सिद्धांत भी अनुकरण सिद्धांत की भाँति प्लेटो द्वारा काव्य पर किए गए आक्षेप का प्रतिपाद रूप है। प्लेटो ने काव्य कला को आदर्श राज्य के लिए अनुपयोगी बताया। अरस्तु ने प्लेटो के सिद्धांत का निरूपित किया। इस तरह अरस्तु ने विरेचन सिद्धांत के द्वारा काव्य के उद्देश्य एवं प्रभाव की समुचित प्रतिष्ठा करते हुए त्रासदी अर्थात् करुणा भाव की उदबुद्धि के आस्वाद रूप की समीचीन व्याख्या प्रस्तुत की। अरस्तु के अनुसार त्रासदी के मूल-भाव भावों को उद्बुद्ध कर विरेचन पद्धति के द्वारा मानव मन का परिष्कार करते हैं; जैसे–"विरेचन से शरीर शुद्धि होती है।"

विरेचन का अर्थ–यूनान की चिकित्सा पद्धति में विरेचन (Katharsis) की चर्चा आयी है। अरस्तु के द्वारा इसके प्रयोग का कारण यह प्रतीत होता है कि अरस्तु के पिता मेसेडोनिया के राज्य चिकित्सक थे और अरस्तु ने स्वयं भी चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त की थी। भारतीय चिकित्सा पद्धति में भी विरेचन का महत्त्व है जिसका सामान्य अर्थ

नोट

है 'रेचक' द्रव्यों द्वारा शरीर के मल अनावश्यक हानिकारक तत्त्वों और पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना। इस प्रकार 'रेचक' का आशय शारीरिक या उदार विकारों की शुद्धि करना है। अरस्तु ने विरेचन का लाक्षणिक अर्थ लिया है और भावों के द्वारा मनोविकारों की शुद्धि के लिए इसे उपयोगी बताया है। साहित्य पर विरेचन सिद्धांत को लागू करने का श्रेय अरस्तु को ही है।

> *क्या आप जानते हैं* प्लेटो ने काव्य एवं कला पर यह आक्षेप लगाया था कि इससे हमारी दूषित आरोप वासनाएँ और मनोवृत्तियाँ उत्तेजित एंव पुष्ट होती हैं–संभवत: इसी का खंडन करने हेतु अरस्तु ने विरेचन सिद्धांत का प्रतिपादन किया और यह प्रतिपादित किया कि साहित्य हमारी दूषित मनोवृत्तियों का विरेचन कर देता है।

अरस्तु ने विरेचन सिद्धांत के द्वारा दु:खांत नाटकों की मीमांसा की। यूनान में सुखांत नाटकों की अपेक्षा दु:खांत नाटकों की रचना अधिक हुई। दु:खांत नाटकों में गंभीरता एवं उदात्तता अधिक होती है। ऐसा पाश्चात्य समीक्षकों का मत है। (यद्यपि इन नाटकों में करुणा और भय के मनोविकारों का प्रदर्शन किया जाता था, फिर भी दर्शक उन्हें देखना पसंद करते थे। अरस्तु ने अपने काव्य-शास्त्र में इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि लोग दु:खांत नाटक क्यों देखते हैं। उसने दु:खांत नाटकों की मीमांसा करते हुए विरेचन के सिद्धांत की कल्पना की।

अरस्तु का मत है कि यदि करुणा और भय हमारे मन में एकत्र होते हैं तो वे हानिकारक होते हैं। दु:खांत नाटकों में कृत्रिम रूप से हमारी करुणा और भय की भावनाओं को निकास का अवसर मिल जाता है। ट्रेजिडी एक क्रिया है जो हमारे करुणा और भय की भावना जाग्रत करके हमारी भावनाओं को बहार निकालने का मार्ग प्रस्तुत कर देती है।

जर्मन काव्यशास्त्री लेसिंग (18 वीं शताब्दी) ने बाताया है कि सामान्य द्वारा विभिन्न अंतर्वृत्तियों का समन्वय करते हुए मन की शांति और परिष्कृति पर बल दिया गया है।

कलापरक अर्थ–में विरेचन के दो पक्ष हैं अभावात्मक एवं भावात्मक। मनोगों के उत्तेजन के पश्चात् उनके शमन से उत्पन्न मन: शांति उसका अभावात्मक पक्ष है, जबकि इसके उपरांत कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है।

डॉ. नगेंद्र ने केवल अभावात्मक पक्ष को ही स्वीकार किया है। वस्तुत: विरेचन की कलापरक व्याख्या संबंध में विद्वानों में मतभेद है।

निष्कर्ष:–निश्चय ही विरेचन का सिद्धात अरस्तु द्वारा प्रतिपादित एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है जिसने दु:खांत नाटक मीमांसा पर पर्याप्त प्रभाव डाला।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत का विरोध क्रोचे के किस सिद्धांत से है?

   (अ) सहानुभूति (ब) सहजानुभूति

   (स) आशावादी (द) इनमें से कोई नहीं

5. ''अरस्तु का दृष्टिकोण अभावात्मक रहा है और त्रास और करुणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है'' कथन है–

   (अ) डॉ. नगेन्द्र (ब) डा. राजेन्द्र

   (स) हरिशंकर परसाई (द) इनमें से कोई नहीं।

नोट

6. अरस्तु काव्य के लिए 'वस्तु कैसी है' की अपेक्षा 'वस्तु' के किस पर बल देते हैं–

(अ) वस्तु कैसी होगी (ब) वस्तु कैसी होनी चाहिए

(स) वस्तु कैसी थी (द) इनमें से कोई नहीं।

25.3 सारांश (Summary)

- अरस्तु के अनुसार कवि वस्तुओं को यथास्थित रूप में वर्णित नहीं करता अपितु उनके युक्ति युक्त (तर्कपूर्ण) संभाव्य रूप में वर्णित करता है।
- यूनान की चिकित्सा पद्धति में विरेचन (Katharsis) की चर्चा आयी है। अरस्तु के द्वारा इसके प्रयोग का कारण यह प्रतीत होता है कि अरस्तु के पिता मेसेडोनिया के राज्य चिकित्सक थे और अरस्तु ने स्वयं भी चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त की थी।
- अरस्तु का मत है कि यदि करुणा और भय हमारे मन में एकत्र होते हैं तो वे हानिकारक होते हैं। दु:खांत नाटकों में कृत्रिम रूप से हमारी करुणा और भय की भावनाओं को निकास का अवसर मिल जाता है।

25.4 शब्दकोश (Keywords)

- अनुकरण : अनुसरण, नकल
- विरोचन : चमकना, प्रकाश करने वाला

25.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. अरस्तु कौन थे?
2. विरेचन से आप क्या समझते हैं?
3. अरस्तु के विरेचन सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. मीमेसिस 2. प्लेटो 3. सिकन्दर 4. (ब)

5. (अ) 6. (ब)।

25.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धांत – *मैथिली प्रसाद भारद्वाज।*

2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र – *देवेन्द्रनाथ शर्मा।*

नोट

इकाई—26 : लौंजाइनस की उदात्त की अवधारणा

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

26.1 काव्य में उदात्त तत्त्व : स्वरूप विवेचन

26.2 उदात्त के स्रोत

26.3 उदात्त के बाधक तत्त्व

26.4 सारांश (Summary)

26.5 शब्दकोश (Keywords)

26.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

26.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- काव्य में उदात्त तत्त्वों को जानने हेतु।
- उदात्त के बाधक तत्त्वों को जानने हेतु।
- उदात्त के स्रोतों को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

यूनान के साहित्य समीक्षकों में लौंजाइनस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसकी रचना का नाम है **: पेरिइप्सुस।** यह रचना अपनी रचना अवधि से डेढ़ हजार वर्ष बाद सर्वप्रथम सन् 1652 ई० में प्रकाशित हुई। इस निबंध का अंग्रेजी में अनुवाद जॉन हाल ने **ऑफ दि हाइट ऑफ एलक्वेन्स** (of the Hight of Eloquence) के नाम से किया था। अब तक 'पेरिइप्सुस' के अंग्रेजी में कई अनुवाद हो चुके हैं। वे अनुदित नाम हैं **: सब्लाइम, ऑन दि सब्लाइम, ऑन दि आर्ट ऑफ सब्लाइम।** इस ग्रंथ के हिंदी में भी अनुवाद हुए हैं। इन अनुवादों में डॉ० नगेंद्र और डॉ० निर्मला जैन के अनुवाद क्रमशः कावय में उदात्त तत्त्व और 'उदात्त' के विषय में महत्त्वपूर्ण हैं। ये दोनों अनुवाद पेरिइप्सुस के अंग्रेजी अनुवाद 'ऑन दि सब्लाइम' पर आधारित हैं। इस रचना का तक तिहाई अंश खंडित है। इस छोटी रचना में 44 अध्याय हैं। इस रचना का प्रतिपाद्य विषय है **: अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता।** डॉ० नगेंद्र ने 'पेरिइप्सुस' के प्रतिपाद्य विषय के दो भाग किए हैं : **(1) विशेष सिद्धांत-अर्थात् उदात्त शैली का विवेचन; (2) सामान्य सिद्धांत-अर्थात् कला के आधारभूत सिद्धांतों का विवेचन।**

26.1 काव्य में उदात्त तत्त्व : स्वरूप विवेचन

लौंजाइनस अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता को उदात्त मानता है। एक अन्य स्थल पर उसने उदात्त को

ऊर्जित कला भी कहा है। क्योंकि कवि और लेखक अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता के द्वारा ही प्रतिष्ठा और यश को प्राप्त करते हैं। उसका मानना है उदात्त भाषा, श्रोता का भावोद्रक करती है। कविता में औदात्य का समावेश समस्त रचना विधान के द्वारा होता है। वह रचना के निर्माण कौशल, उचित अनुक्रम और वस्तु विन्यास को समस्त रचना विधान मानता है।

नोट्स लौंजाइनस अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता को उदात्त मानता है।

यद्यपि यूनानी काव्य समीक्षा में उदात्त लौंजाइनस से पूर्व ही विवेचित हो चुका था; किंतु तब उसे शिक्षा द्वारा अर्जित न मानकर, उसकी प्रवृत्ति को नैसर्गिक माना जाता था। लौंजाइनस से पूर्व मान्यता थी कि प्रकृति ही ऐसी कला है, जो उसे अपनी परिधि में समेट सकती है। इतना ही नहीं प्रकृति की रचनाएँ कला के नियमों में बांधकर पूर्णत: निम्नतर हो जाती हैं; किंतु लौंजाइनस का मत था। : प्रकृति की कार्यविधि नियमत: आवेग और औदार्य के विषय में उन्मुक्त और स्वतंत्र होते हुए भी मनमानी और पूर्णत: व्यवस्था विहीन नहीं है। वह मानता था कि भले ही प्रकृति सर्वथा मौलिक और प्राणभूत तत्त्व है; फिर भी व्यवस्था द्वारा उसका उपयोग किया जा सकता है।

लौंजाइनस कविता की उदात्त अभिव्यक्ति के लिए ज्ञान के निर्देशों का पालन आवश्यक मानता है क्योंकि उसका मानना है कि ज्ञान के निर्देशों का सम्यक् पालन न करने से कविता में उदात्त अव्यवस्थित रूप से व्यक्त होगा, जिससे निपट वेग और ज्ञानहीन उद्धतता ही व्यक्त होगी। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लौंजाइनस उदात्त को सहज प्रतिभा तो मानता है, किंतु उसे ज्ञान के निर्देशों के द्वारा नियंत्रित भी। उसका मत है कि सौभाग्य और सद्बुद्धि एक दूसरे के पूरक हैं। वह सौभाग्य को प्रकृति और सद्बुद्धि को कला मानता है। अत: जिस प्रकार सद्बुद्धि के अभाव में सौभाग्य नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान के निर्देशों का समुचित पालन न होने पर उदात्त खंडित हो जाता है। वस्तुत: लौंजाइनस ने उदात्त के स्वरूप निर्धारण में परंपरा से हटकर मध्य मार्ग का आश्रय लिया है, जिसके आधार पर उदात्त सहज प्रतिभा के साथ-साथ श्रमसाध्य भी है। लौंजाइनस ने उदात्त के कतिपय बाधक तत्त्वों का निर्देश दिया है। वे बाधक तत्त्व हैं **: शब्दाडंबर (Tumidity), वालिशता (Puerility)** और भावाडंबर (Empty or false passion)। यहाँ पर लौंजाइनस निर्दिष्ट उदात्त के बाधक तत्त्वों का सामान्य परिचय देना समीचीन जान पड़ता है–

(*i*) शब्दाडंबर (Tumidety)–उसका मत था कि यद्यपि शब्दाडंबर से बचना बड़ा कठिन होता है; क्योंकि अपनी रचनाओं में उदात्त की इच्छा रखने वाले लेखक क्षीणता और शुष्कता से बचने के लिए शब्दाडंबर का आश्रय लेते हैं। फलत: कविता में मिथ्या त्रासद व्यक्त होने लगती है और कविता के भावों में मलिनता व्यक्त होने लगती है। चाहे मानवीय कार्य-व्यापारों की अनुकृति हो या साधारण तथ्य वर्णन, वह प्रत्येक परिस्थिति में शब्दाडंबर अहितकर मानता है; क्योंकि उसका मानना है कि शोध (Swelling) चाहे शरीर में हो या भाषा में, वह प्रत्येक दशा में दोष ही माना जाता है।

(*ii*) वालेयता (Puerility)–सामान्यत: वालेयता को वचकानापन भी कहा जाता है। वह वालेयता को उदात्त का निकृष्ट दोष मानता है। उसका मानना है कि तुच्छ पाण्डित्य प्रदर्शन और निष्प्राण वाचालता, वालेयता दोष है। जब रचनाकार, अपनी रचना को असामान्य और कृत्रिमतापूर्ण आकर्षक विस्तार देता है वहाँ वालेयता दोष उत्पन्न हो जाता है।

(*iii*) भावाडंबर (Empty or False passion)–भावांडबर आवेग विषयक दोष है। लौंजाइनस के अनुसार यह वह दोष है, जब रचनाकार आवश्यकता के प्रतिकूल आवेगों का प्रदर्शन करता है।

वस्तुत: लौंजाइनस का मानना है कि रचनाकार की अभिव्यक्ति में नवीनता की खोज और औचित्य का निर्वहन न कर पाने की दशा में उदात्त विषयक, इन दोषों का जन्म होता है।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. पेरिइप्सुस .... की एक रचना का नाम है।
2. लौंजाइनस अभिव्यक्ति की .... और उत्कृष्टता को उदात्त मानता है।
3. सामान्यत: वालेयता को .... भी कहा जाता है।

26.2 उदात्त के स्रोत

वाक् प्रतिभा के आधार पर लौंजाइनस ने पाँच स्रोतों का उल्लेख किया है। वे पाँच स्रोत हैं। **: (1) महान धारणों की क्षमता, (2) उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग, (3) अलंकारों की समुचित योजना, (4) उत्कृष्ट भाषा और (5) गरिमामय और ऊर्जित रचना विधान।** इन पाँचों स्रोतों में से, वह आरंभिक दो स्रोतों को जन्मजात और शेष तीन स्रोतों का कलाजन्य मानता है। वस्तुत: लौंजाइनस निर्दिष्ट इन स्रोतों को मूलत: उदात्त के तत्त्व भी कहा जाता है। डॉ० नगेंद्र ने जन्मजात स्रोतों को उदात्त तत्त्व और कलाजन्य स्रोतों को बहिरंग तत्त्व कहा है। वस्तुत: उदात्त के तत्त्वों का सामान्य परिचय इस प्रकार है–

(1) महान धारणाओं की क्षमता–लौंजाइनस उदात्त के पाँचों तत्त्वों में, इसे प्रथम महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानता है। उसने महान् धारणाओं की क्षमता को मन की ऊर्जा भी कहा है। यद्यपि वह इस तत्त्व को स्वभावजात मानता है, फिर भी उसने उदात्त अभिव्यक्ति के लिए उदात्त विचारों के पोषण की प्रेरणा दी है। क्योंकि उसका मानना है भाव स्वत: शब्दों के अभाव में भी मनुष्य की महानता को व्यक्त करते हैं। लौंजाइनस ने उदात्त को महान आत्मा की प्रतिध्वनि कहा है। यही कारण है कभी-कभी मौन भी महान् और उदात्त होता है। उसने महान् धारणाओं की क्षमता के उद्गम स्रोतों का उल्लेख करते हुए लिखा है : ..... **सच्चे वाग्मी को निश्चय ही क्षुद्र और हीनतर भावों से मुक्त होना चाहिए। क्योंकि यह संभव नहीं कि जीवनभर क्षुद्र उद्देश्यों तथा विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके। महान शब्द उन्हीं के मुख से निकलते हैं, जिनके विचार गंभीर और महान् हों। यही कारण है कि मनस्वियों को भव्य वाणी सहज ही प्राप्त हो जाती है।**

(2) उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग–वह उदात्त का दूसरा तत्त्व मानता है : उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत भावों का चित्रण। यद्यपि उदात्त के इस तत्त्व की लौंजाइनस कृत 'पेरिइप्सुस' निबंध में कहीं पर भी स्पष्ट चर्चा नहीं है; फिर भी इस निबंध में स्फुट रूप से सूत्रबद्ध कथनों के आधार पर, इस तत्त्व की चर्चा चलाई जा सकती है। वस्तुत: आवेग की नाना कोटियाँ हो सकती है, किंतु वह केवल उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत आवेग को उदात्त का उद्गम मानते हैं; क्योंकि आवेग की सभी कोटियाँ उदात्त नहीं हो सकती हैं। उसने प्रेरणा प्रसूत आवेग को स्पष्ट करते हुए लिखा है: सच्चे औदात्त्य से हमारी आत्मा जैसे अपने-आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है। इसीलिए उसका मत है : सच्चे वाग्मी को निश्चय ही क्षुद्र और हीनतर भावों से मुक्त होना चाहिए। यही कारण है कि वह महान कार्य-व्यापारों, संघर्ष से परिपूर्ण और अंत:प्रेरणा के भव्यतम क्षणों में होमर कृत 'इलिअद' को श्रेष्ठ महाकाव्य मानता है।

लौंजाइनस ने आवेग से संबंधित शिल्प औदात्त्य में योग देने वाले चार गुणों का उल्लेख किया है। वे गुण हैं : ***(i)* विषय चयन और संगठन, *(ii)* विस्तारणा, *(iii)* अनुकरण और *(iv)* बिंब।**

उसका मानना है कि आवेग से संबंधित शैली के औदात्त्य में योग देने वाला महत्त्वपूर्ण गुण हैं**: तत्त्वों का व्यवस्थित रीति से चयन और उनकी संगठित कर समग्र रूप देने की क्षमता। उसका मानना है : पहली प्रक्रिया में श्रोता विचारों के निर्वाचन के निर्वाचन के प्रति आकृष्ट होता है और दूसरी में उसके संघटन से।** वह विक्षिप्त आवेग के सहवर्ती प्रभावी भावों के चयन और एक संपूर्ण इकाई में निबंधन के कारण ही **सैफो** की अभिव्यक्ति का प्रशंसक

है। आवेग से संबंधित शैली के औदात्त्य में योग देने वाला दूसरा गुण विस्तारणा है। उसका मानना है कि तथ्यों एवं आवेगों की क्रमबद्ध और आलंकारिक रीति से प्रस्तुति के लिए विस्तारणा का उपयोग किया जाता है। उनका मानना है कि विस्तारणा का उपयोग साधन रूप में ही होना चाहिए। पूर्ववर्ती महाकवियों और लेखकों का अनुकरण और स्पर्धा को भी वह आवेग से संबंधित औदात्त्य की सिद्धि का मार्ग मानते हैं; क्योंकि उसका मानना है **: यह एक ऐसा उद्देश्य है जिनके लिए हमें निरंतर प्रयत्नशील होना चाहिए, क्योंकि बहुत से व्यक्ति दूसरे की आत्मा से इतने प्रभावित हो जाते हैं मानो उन्हें स्वयं प्रेरणा मिली हो।** इस प्रकार स्पष्ट होता है लौंजाइनस उदात्त अभिव्यंजना के लिए महापुरुषों का अनुकरण आवश्यक मानते हैं; क्योंकि उसका मानना है ... महापुरुषों हमारे सामने प्रकट होकर, हमारे उत्साह को प्रज्वलित कर किसी गूढ़ रीति से हमारे मस्तिष्क को औदात्त्य के उन उच्च स्तरों तक ले जाएँगे, जो हमारे भीतर बिंबित हैं। इसके अतिरिक्त लौंजाइनस बिंब को औदात्त्य सिद्धि में सहायक माना है, क्योंकि बिंब आवेगों को गति प्रदान करते हैं।

क्या आप जानते हैं यूनान के साहित्य समीक्षकों में लौंजाइनस का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(3) अलंकारों की समुचित योजना–उदात्त अभिव्यक्ति और उत्कृष्टता के लिए लौंजाइनस ने अलंकार को प्रमुख तत्त्व माना है। उसका मानना है : यदि अलंकारों का उचित रीति से उपयोग किया जाए तो .... उनसे औदात्य की सिद्धि में सहायता मिलती है। उसका मानना है कि अलंकार जहाँ औदात्त्य के उत्कर्ष में सहायक होते हैं; वहीं वे स्वयं भी उससे बल प्राप्त करते हैं। वह उदात्त को साध्य और अलंकार को साधन मानता है। उसका मानना है कि कविता में अलंकार तभी उदात्त के उत्कर्ष में सहायक होते हैं, जब तक उदात्त में अलंकारों की प्रयुक्ति अनुभव न हो। क्योंकि उसका मानना है कि **: एक बार सौंदर्य और औदात्त्य के साथ संबंद्ध हो जाने पर उनका (अलंकारों) कुशल प्रयोग करने वाली कला छिप जाती है और समस्त संभाव्य संदेह से बच जाती है।** इतना ही नहीं लौंजाइनस का मत है कि जिस प्रकार सूर्य के प्रखर आलोक में सभी मंद दीपक बुझ जाते हैं, उसी प्रकार उदात्त के सर्वव्यापी ऐश्वर्य में सिक्त होकर सभी आलंकारिक चमत्कार दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। संभवत: यही कारण रहा होगा कि उन्होंने उन्हीं अलंकारों की चर्चा की है जो उदात्त की अभिव्यक्ति और उत्कृष्टता के उत्कर्षक होते हैं।

(4) उत्कृष्ट भाषा–उत्कृष्ट भाषा भी उदात्त का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। लौंजाइनस किसी भी विवेचन में विचार और पद-विन्यास को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं; क्योंकि उसका मानना है पद-विन्यास और विचार परस्पर आश्रित रहकर ही विकसित होते हैं। जिस प्रकार विचार भाषा के बिना व्यक्त नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार विचारहीन भाषा भी प्रभावहीन हो जाती है। उसका मानना है कि उपयुक्त एवं प्रभावशाली शब्दावली की श्रोता को आश्चर्यजनक रूप से आकर्षित एवं अभिभूत करती है; क्योंकि इस प्रकार की भाषा ही रचना में भव्यता, सौंदर्य; मार्दव, गरिमा, ओज और शक्ति आदि गुणों का समावेश होता है। उसका मत है: **सुंदर शब्द वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।** वह शब्द और वस्तु के पूर्ण सामंजस्य को ही पूर्ण अभिव्यंजना मानते हैं। इसके अतिरिक्त लौंजाइनस ने उदात्त की सिद्धि के लिए तीन से अधिक रूपकों का एक साथ प्रयोग न करने का निर्देश दिया है। इतना ही नहीं उसका मानना है**: रूपकों के प्रयोग का उचित अवसर तब होता है, जब आवेग उन्मद प्रवाह की भांति उमड़ता चला आता है।** क्योंकि उसका मानना है कि आवेग के प्रवाह में श्रोता भी बहने लगता है और उसे प्रयुक्त रूपकों की आलोचना का अवसर नहीं मिल पाता है। लौंजाइनस साधारण वस्तुओं के चित्रण और वर्णन में भी रूपकों को आवश्यक मानता है, क्योंकि वह अलंकारमयी भाषा में स्वाभाविक शक्ति मानता है। इतना अवश्य है कि वह अलंकारों की भांति लाक्षणिक प्रयोगों को एक सीमा तक ही ग्राह्य मानता है, क्योंकि उसका मानना है कि अतिरंजनापूर्ण रूपकों की भरमार से कविता भावावेश की अंध प्रवृत्तियों की शिकार हो सकती है।

नोट

(5) गरिमामय रचना विधान–उदात्त का अंतिम तत्त्व है : गरिमामय रचना विधान। वह किसी निश्चित क्रम से शब्दों की योजना को गरिमामय रचना विधान मानता है। इसके लिए वह सामंजस्य (Hormany) को अनिवार्य मानता है। उसका मानना है **: समंजित शब्द योजना न केवल प्रत्यय और आनंद की ही उद्‌बुद्धि करती है वरन् उदात्त उक्ति और भावावेश का भी अद्‌भुत साधन है।** उसका मानना है, जिस प्रकार बांसुरी की तान और सारंगी (हार्प) का स्वर परस्पर समवाय द्वारा श्रोताओं के ऊपर जादू-सा कर देते हैं; उसी प्रकार भाषा का सामंजस्य मनुष्य दबी श्रवणेंद्रियों सहित, उसकी आत्मा को भी प्रभावित करती है। उसी प्रकार सामंजस्य द्वारा रचना की अभिव्यक्ति में विशिष्टता और उत्कृष्टता का समावेश होता है। फलत: रचना श्रोता को पूर्णत: प्रभावित करने में समर्थ होती है। लौंजाइनस किसी भी उक्ति में अवस्थित औदात्त्य को मानव शरीर की रचना की भांति उसके विभिन्न अंगों के निवेषण में मानता है: पृथकत्व में नहीं। उसी प्रकार औदात्त्य भी गरिमा के तत्त्वों की एकान्वित और सामंजस्य का परिणाम होता है। इसीलिए वह लेखक और कवि में स्वाभाविक औदात्त्य का गुण न होने पर भी सामंजस्य की कला में निपुण होने पर, उसे भी औदात्य संपन्न रचनाकारों के समकक्ष ही मानता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. वाक् प्रतिभा के आधार पर लौंजाइनस ने कितने स्रोतों का उल्लेख किया है?
   (अ) 6 (ब) 7
   (स) 5 (द) 8
5. लौंजाइनस ने किसे महान आत्मा की प्रतिध्वनि कहा है?
   (अ) उदात्त (ब) स्वभाव
   (स) विचार (द) इनमें से कोई नहीं
6. उदात्त का अंतिम तत्व क्या है?
   (अ) गरिमामय रचना विधान (ब) उत्कृष्ट भाषा
   (स) अलंकारों की समुचित योजना (द) महान धारणाओं की क्षमता

26.3 उदात्त के बाधक तत्त्व

लौंजाइनस ने उदात्त के साधक तत्त्वों की तरह कतिपय बाधक तत्त्वों की चर्चा की है। उनके द्वारा निर्दिष्ट उदात्त के तत्त्व हैं :

1. **भाषा का अव्यवस्थित प्रवाह,**
2. **उक्ति की संक्षिप्तता,**
3. **वाग्विस्तार और**
4. **अभिव्यक्ति की क्षुद्रता।**

टास्क काव्य के उदात्त तत्वों के संबंध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

उदात्त के बाधक, इन तत्त्वों का सामान्य परिचय दिया जा रहा हैं–

(1) भाषा का अव्यवस्थित प्रवाह–भाषा के छिन्न-भिन्न और अव्यवस्थित प्रवाह को लौंजाइनस उदात्त के लिए अत्यंत घातक मानता है। वह **लघु-गुरु (।ऽ), गुरु-लघु (ऽ।) क्रम से युक्त द्विमात्रिक पदों तथा दुहरे गुरु-लघु (ऽ।) क्रम में युक्त चतुर्मात्रिक पद रचना में** भाषा का अव्यवस्थित प्रवाह मानता है। उसका मानना है कि इस प्रकार भाषा, अपनी लयात्मकता, कृत्रिमता और अत्यंत सुकुमारता से संगीत के स्तर पर उतर आती है। फलत: जो अपनी चमक की एकरसता से आवेग रहित हो जाती है, जिससे रचना में औदात्य शून्यता परिलक्षित होने लगती है।

(2) उक्ति की संक्षिप्तता–लौंजाइनस उक्ति की संक्षिप्तता को भी औदात्त्य का बाधक तत्त्व मानता है; क्योंकि उसका मानना है कि इससे अर्थ संकुचित होता है और साथ ही उक्ति में विचार बाहुल्य विन्यस्त होने के कारण, उसकी गरिमा नष्ट हो जाती है।

(3) वाग्विस्तार–वह उक्ति की संक्षिप्तता के समान वाग्विस्तार को भी औदात्त्य का बाधक मानता है; क्योंकि उसका मानना है अनावश्यक वाग्विस्तार आडंबर को जन्म देती है।

(4) अभिव्यक्ति की क्षुद्रता–वह अभिव्यक्ति की क्षुद्रता से भी औदात्त्य की क्षति मानता है। सामान्यत: अभिव्यक्ति की क्षुद्रता का आशय है: क्षुद्र शब्दों का प्रयोग। इसीलिए वह अपने समकालीन कवि **हेरोडोटस** का युद्ध वर्णन को उदात्त के अनुरूप नहीं मानता क्योंकि उसमें क्षुद्र शब्दों का प्रयोग हुआ है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. भाषा के छिन्न-भिन्न और अव्यवस्थित प्रवाह को लौंजाइनस उदात्त के लिए अत्यंत घातक मानते हैं।
8. लौंजाइनस उक्ति की संक्षिप्तता को उदात्त का अनिवार्य तत्व मानते हैं।
9. लौंजाइनस अभिव्यक्ति की क्षुद्रता से उदात्त की क्षति मानते हैं।

26.4 सारांश (Summary)

- यूनान के साहित्य समीक्षकों में लौंजाइनस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसकी रचना का नाम है **: पेरिइप्सुस।** यह रचना अपनी रचना अवधि से डेढ़ हजार वर्ष बाद सर्वप्रथम सन् 1652 ई० में प्रकाशित हुई।
- लौंजाइनस अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता को उदात्त मानता है। एक अन्य स्थल पर उसने उदात्त को ऊर्जित कला भी कहा है।
- लौंजाइनस कविता की उदात्त अभिव्यक्ति के लिए ज्ञान के निर्देशों का पालन आवश्यक मानता है क्योंकि उसका मानना है कि ज्ञान के निर्देशों का सम्यक् पालन न करने से कविता में उदात्त अव्यवस्थित रूप से व्यक्त होगा, जिससे निपट वेग और ज्ञानहीन उद्धतता ही व्यक्त होगी। लौंजाइनस ने उदात्त को महान आत्मा की प्रतिध्वनि कहा है। यही कारण है कभी-कभी मौन भी महान् और उदात्त होता है।
- लौंजाइनस ने आवेग से संबंधित शिल्प औदात्त्य में योग देने वाले चार गुणों का उल्लेख किया है। वे गुण हैं: **(*i*) विषय चयन और संगठन, (*ii*) विस्तारणा, (*iii*) अनुकरण और (*iv*) बिंब।**
- उदात्त अभिव्यक्ति और उत्कृष्टता के लिए लौंजाइनस ने अलंकार को प्रमुख तत्त्व माना है। उसका मानना है: यदि अलंकारों का उचित रीति से उपयोग किया जाए तो .... उनसे औदात्त्य की सिद्धि में सहायता मिलती है।

नोट

- लौंजाइनस किसी भी विवेचन में विचार और पद-विन्यास को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं; क्योंकि उसका मानना है कि पद-विन्यास और विचार परस्पर आश्रित रहकर ही विकसित होते हैं।

26.5 शब्दकोश (Keywords)

- प्रसूत : उत्पन्न, प्रसव-काल में होने वाला रोग
- उदात्त : ऊंचा, महान्, उदार, श्रेष्ठ, स्पष्ट

26.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. काव्य में उदात्त तत्त्व की विवेचना कीजिए।
2. उदात्त के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख कीजिए।
3. उदात्त के बाधक तत्वों की विवेचना कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. लौंजाइनस	2. विशिष्टता	3. बचकानापन	4. (स)
5. (अ)	6. (अ)	7. सत्य	8. असत्य
9. सत्य।			

26.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. काव्य में उदात्त तत्त्व – *डॉ. नगेन्द्र।*

2. पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धांत – *मैथिली प्रसाद भारद्वाज।*

Hardeep Kaur, Lovely Professional University

इकाई–27 : आई.ए. रिचर्ड्स का सम्प्रेषण सिद्धांत एवं टी.एस. इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
27.1 रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धांत
27.1.1 संप्रेषण और काव्य-भाषा
27.1.2 संप्रेषण सिद्धांत का महत्त्व
27.2 इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत
27.2.1 निर्वैयक्तिकता सिद्धांत की समीक्षा
27.3 सारांश (Summary)
27.4 शब्दकोश (Keywords)
27.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
27.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- रिचर्ड्स के संप्रेषण ओर काव्य भाषा पर अपने मत प्रस्तुत करने हेतु।
- सम्प्रेषण सिद्धांत को समझने हेतु।
- निर्वैयक्तिकता का अर्थ जानने हेतु।
- निर्वैयक्तिकता सिद्धांत की समीक्षा करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक युग के पाश्चात्य समीक्षकों में आई.ए. रिचर्ड्स (1893-1979 ई०) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म 1893 ई० में इंग्लैण्ड में हुआ। वे अर्थशास्त्र एवं मनोविज्ञान के विद्यार्थी रहे तथा हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे। वहीं से उन्होंने डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने लगभग एक दर्जन ग्रंथ लिखे जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।–*'Principles of Literary Criticism'* अर्थात् साहित्य समीक्षा के सिद्धांत।

बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य समीक्षा को प्रभावित करने वाले विचारकों में टी.एस. इलियट (टॉमस स्टलर्स इलियट) का नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इनका जन्म 26 सितंबर, 1888 को सेंटलुई, मिसौरी (अमरीका) में हुआ। उनकी शिक्षा पेरिस और लंदन में हुई। "सन् 1948 में उन्हें नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ और सन् 1965 में इनका निधन हो गया।"

नोट

इलियट ने संस्कृत और पालि भाषा में व साहित्य का अध्ययन किया। इन्हें विवादास्पद पाश्चात्य समीक्षक भी कहा जाता है, क्योंकि इनके कवि, कविता, साहित्य-समीक्षा आदि से संबंधित मत महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ विवादास्पद भी है।

27.1 रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धांत

रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान का अधार लेकर काव्य संबंधी दो उल्लेखनीय सिद्धांत दिए जिनके नाम हैं:

1. कला का मूल्यवादी सिद्धांत या मूल्य सिद्धांत
2. संप्रेषणीयता का सिद्धांत

संप्रेषणीयता सिद्धांत—रिचर्ड्स का काव्य संबंधी दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत संप्रेषणीयता का सिद्धांत है। प्रेषणीयता को स्पष्ट करते हुए रिचर्ड्स कहता है—"All that occurs is that under certain conditions seperate minds have closely similar experience." अर्थात् प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्राय: एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं।

> *नोट्स* जब किसी वातावरण विशेष से एक व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है तथा दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है कि जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है, तो उसे प्रेषणीयता कहते हैं।

दूसरे शब्दों में, किसी अन्य की अनुभूति को अनुभूति करना ही प्रेषणीयता है।

कवि, कलाकार या सर्जक की अनुभूतियों का भावक द्वारा अनुभव किया जाना ही संप्रेषण है।

प्रेषणीयता के आधारभूत तत्त्वों पर विचार करते हुए रिचर्ड्स ने इसका श्रेय कवि की वर्णन क्षमता और श्रोता या बैठक की ग्रहण शक्ति को दिया है। कला के लिए प्रेषणीयता अत्यावश्यक है, किंतु क्या इसके लिए कलाकर को विशेष प्रयत्न करने चाहिए? यदि कलाकार स्वयं अपनी रचना को प्रेषणीय बनाने के लिए प्रयत्न करने लगेगा, तो संभव है कि उसकी रचना में कृत्रिमता आ जाए। इसलिए रिचर्ड्स यह मानता है कि कला में प्रेषणीयता आवश्यक है, किंतु कलाकार को उसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए। कलाकार जितना सहज स्वाभाविक रूप में अपना कार्य करेगा उसकी अनुभूतियां उतनी ही संप्रेषणीय बनेंगी।

संप्रेषण तभी पूर्णता से होता है, जब विषय रोचक एवं रमणीय होता है। कवि जब तक स्वयं अपनी अनुभूतियों के साथ एक रस नहीं हो जाता, तब तक वे अनुभूतियाँ संप्रेषणीयता का गुण ग्रहण नहीं कर सकतीं। संप्रेषण स्वाभाविक व्यापार है। उसके लिए कलाकार को न तो सजग रहने की आवश्यकता है, न प्रयत्न करने की। संप्रेषण के लिए प्रयत्न करने पर कला मे कृत्रिमता का समावेश हो जाता है। निश्चय ही संप्रेषणीयता के लिए कवि प्रतिभा अज्ञात रूप से स्वत: कार्य करती है, क्योंकि अनुभूतियों का सहज प्रस्तुतीकरण उस प्रभाव दशा का निर्माण कर देता है जो कवि ने अनुभूत की थी। इससे प्रेषणीयता में पूर्णता का विधान होता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. आई. ए. रिचर्ड्स का जन्म .... में हुआ था।
2. संप्रेषण तभी पूर्णता से होता है, जब विषय रोचक एवं .... होता है।
3. संप्रेषण .... व्यापार है।

27.1.1 संप्रेषण और काव्य-भाषा

नोट

क्या आप जानते हैं काव्य में संप्रेषण का प्रमुख माध्यम भाषा है, जिसका प्रयोग अर्थ को सूचित करने के लिए होता है। भाषा में सामान्यतः चार बातें निहित रहती हैं–वाच्यार्थ (Sense), भाव (Feeling), वाणीगत चेष्टा (tone), अभिप्राय (intention)।

भाषा से सामान्यतः उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थ सूचित होते हैं, किंतु विषय एवं परिस्थिति के भेद से इनका अनुपात बदलता रहता है। विज्ञान में वाच्यार्थ का अधिक महत्त्व होगा तो काव्य में 'भाव' को अधिक महत्ता मिलेगी। कविता विचारों की अभिव्यक्ति के लिए नहीं अपितु भावों के प्रभाव के लिए होती है। काव्य में व्यक्त विचार भाव और दृष्टिकोण के निमित्त होते हैं।

अर्थ और भाव के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करते हुए रिचर्ड्स ने उसके तीन रूप स्वीकार किए हैं– 1. जहाँ अर्थ ही भाव का बोधक हो, 2. जहाँ अर्थ भाव की अनुभूति का सूचक हो, 3. जहाँ प्रसंग विशेष के कारण अर्थ विभिन्न भावों का सूचक हो।

काव्यास्वादन की प्रक्रिया द्वारा–काव्य प्रेषण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए रिचर्ड्स ने उसे छह भागों में विभक्त किया गया है:

1. मुद्रित शब्दों का नेत्रों के माध्यम से ग्रहण
2. नेत्रों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं से संबंधित बिम्बों का ग्रहण
3. स्वतंत्र बिम्बों का ग्रहण
4. विभिन्न वस्तुओं का बोध
5. भाषानुभूति
6. दृष्टिकोण से सामंजस्य

सर्वप्रथम काव्य के पठन से अक्षरों, उनकी स्पष्टता, शुद्धता आदि का बोध होता है तत्पश्चात् उन अक्षरों से पाठक के मन में बिंब बनने प्रारंभ होते हैं। रिचर्ड्स ने यह भी बताया है कि किसी कविता को पढ़कर दो पाठकों के मन में एक जैसे ही बिंब उत्पन्न नहीं होंगे। संभव है सभी पाठकों के मन में अलग-अलग बिंब बनें। अतः काव्य में मूर्त विधान का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है। डॉ. रिचर्ड्स के अनुसार मूर्त विधानजन्य अनुभूति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण भाव तत्त्व है जिसके कारण विभिन्न पाठकों के अनुभव में समानता आती है। शब्दों के अर्थबोध एवं बिंब ग्रहण से हमें काव्यार्थ का बोध होता है। इस बोध से भावों एवं भावात्मक दृष्टिकोण की अनुभूति होती है। इसीलिए भावों का कला संबंधी अनुभूति मे सर्वाधिक महत्त्व है। 'दृष्टिकोणों' का प्रयोग यहाँ भावना (Sentiments) के अर्थ में किया गया है जिसे भारतीय रस सिद्धांत में 'स्थायी भाव' कहा गया है। डॉ. गणपति चंद्र गुप्त के अनुसार– **''इमोशन और 'एटीच्यूड' के बीच रिचर्डस ने वही संबंध माना है जो संचारी भाव और स्थायी भाव के मध्य है।''** किंतु रिचर्ड्स एवं भारतीय आचार्यों के विचारों में पर्याप्त मतभेद है। भारतीय आचार्य काव्य का लक्ष्य रस या आनंद की निष्पत्ति मानते हैं, जबकि रिचर्ड्स इसे सर्वथा गौण मानता है। रिचर्ड्स काव्यानुभूति में भावोद्दीप्ति को लक्ष्य मानते हुए भी उसका उद्देश्य हमारे आवेगों को सुव्यवस्थित करना बताते हैं। आनंद को काव्योद्देश्य मानना उन्हें स्वीकार नहीं है।

27.1.2 संप्रेषण सिद्धांत का महत्त्व

1. रिचर्ड्स काव्य का मूल्यांकन रागात्मक आधार पर करते हैं और पाठकों के मन पर पड़े प्रभावों से उसे आंकते हैं।

नोट

2. रस सिद्धांत में स्थायी भाव की सत्ता 'वासना रूप में विद्यमान' भावों के रूप में की गई है, जबकि रिचर्ड्स आदिम आवेगों (Impulses) की सत्ता को स्वीकार करता है।
3. रस सिद्धांत में जहां भिन्न-भिन्न रसों की चर्चा की गई है, वहीं रिचर्ड्स ने विरोधी आवेगों को स्वीकार किया है।
4. रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित साधारणीकरण के समीप है।
5. रिचर्ड्स के काव्य भाषा का जो विवेचन किया है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे यह मानते हैं कि भाषा का प्रयोग भाव की प्रेरणा से होता है।
6. भाषा में लहजा (tone) विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसका आधार संबंध न होकर भाव दशा है। क्रोध की दशा में हमारा 'टोन' जिस प्रकार का होता है वैसा 'प्रेम' की दशा में नहीं होता।
7. रिचर्ड्स ने भाषा के जो तीन भेदभाव, लहजा और अभिप्राय किए हैं, वे वास्तव में अर्थ के तीन भेद न होकर एक-दूसरे के अंग हैं। इनकी तुलना में भारतीय आचार्यों ने शब्द और उसकी शक्तियों के जो भेद अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के रूप में किए वे अधिक तर्कसंगत हैं।
8. रिचर्ड्स ने भारतीय रस सिद्धांत और उससे प्राप्त होने वाले आनंद को उतना महत्त्व नहीं दिया। वह कहता है कि काव्य से प्राप्त होने वाला तात्कालिक आनंद सर्वथा गौण है यह मान्यता उनके प्रेषणीयता सिद्धांत के विपरीत है।
9. रिचर्ड्स की आधारभूत मान्यताएँ तो महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु उनकी व्याख्या अटपटी एवं अपूर्ण है।

कुछ भी हो रिचर्ड्स ने काव्य सिद्धांतों ने अपने युग के समीक्षकों को बहुत अधिक आकर्षित किया है। उन्होंने साहित्य का एक ऐसा मानदण्ड खोजने का प्रयास किया जो भाषा विज्ञान, मनोविज्ञान एवं नीतिशास्त्र के तत्त्वों से समन्वित है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. काव्य में संप्रेषण का प्रमुख माध्यम क्या हैं?
   (अ) भाषा (ब) भाव
   (स) अनुभूति (द) इनमें से कोई नहीं।
5. सर्वप्रथम काव्य के पठन से किसका बोध होता है?
   (अ) भाषा (ब) अक्षर
   (स) शुद्धता (द) इनमें से कोई नहीं।
6. 'रिचर्ड्स ने इमोशन और एटीट्यूड के बीच वही संबंध माना है, जो संचारी भाव और स्थायी भाव के मध्य है'—यह कथन किसका है?
   (अ) डॉ० नगेन्द्र (ब) डॉ० हरिवंशराय बच्चन
   (स) डॉ० गणपति चंद्र (द) इनमें से कोई नहीं।

27.2 इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

टी.एस. इलियट की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना "Tradition and Individual Talent" है। इसमें इलियट ने साहित्य की आधारभूत एवं मौलिक समस्याओं को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। इलियट के समीक्षा संबंधी किए गए हैं; जैसे

(1) द सिक्रेट वर्ल्ड, (2) सलेकटेड ऐसेस, (3) द यूज ऑफ पोयट्री एंड यूज ऑफ क्रिटिसिज्म, (4) पोयट्री एंड ड्रामा, (5) द थिसिस ऑफ पोयट्री। (6) ऑन पोयट्री एंड पोपट इत्यादि।

इलियट के विभिन्न काव्य सिद्धांत–इलियट के विभिन्न काव्य सिद्धांत इस प्रकार है–

निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत–इलियट एजरा पाउंड के विचारों से काफी प्रभावित थे। एजरा पाउंड की मान्यता थी कि कवि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ होता है। कवि से प्रभावित हाकर इलियट अनेकता में एकता बाँधने के लिए परंपरा को आवश्यक मानते थे, जो वैयक्तिकता का विरोधी है। वह साहित्य के जीवन्त विकास के लिए परंपरा का योग स्वीकार करते थे। जिसके कारण साहित्य में आत्मनिष्ठ तत्त्व नियंत्रण हो जाता है और वस्तुनिष्ठ प्रमुख हो जाता है।

इस परंपरा सिद्धांत के द्वारा उन्होंने आत्मनिष्ठ साहित्य के स्थान पर वस्तुनिष्ठ साहित्य को महत्त्व प्रदान किया, कला को निर्वैयक्तिक घोषित किया और कवि को काव्य की स्वतंत्र अवतारणा के लिए माध्यम मात्र स्वीकार किया। उसका कथन है, "कवि व्यक्तिगत की अभिव्यक्ति नहीं करता, वरन वह विशिष्ट माध्यम मात्र है। व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति कला नहीं है, वरन् उनसे पलायन कला है।" उनके प्रारंभिक वक्तव्यों से स्पष्ट है कि कविता उत्पन्न हो जाती है, उत्पन्न की नहीं जाती है।

नोट्स इलियट ने कविता की उत्पत्ति को लेकर बाद में अपने मत में संशोधन करते हुए कहा कि "मैं उस समय अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सका था।"

बाद में निर्वैयक्तिक के संबंध मे निम्न वक्तव्य दिया, "निर्वैयक्तिक के दो रूप होते हैं, एक वह जो कुशल शिल्पी मात्र के लिए प्राकृतिक होती है, दूसरा वह जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध किया जाता है। दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की होती है, जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यमों से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है।"

क्या आप जानते हैं टी. एस. इलियट का जन्म 26 सितंबर, 1888 को सेंटलुई, मिसौरी (अमेरिका) में हुआ था।

उपयुक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भले ही उनके प्रारंभिक मत शब्दावली से लोगों को यह भ्रम हो गया हो कि वह कविता को कुशल-शिल्प-विधान मानते थे, परंतु बाद में चलकर कला की निर्वैयक्तिकता से इलियट का अभिप्राय मात्र कुशल शिल्पी की निर्वैयक्तिकता से नहीं है। अब तो वह कला की निर्वैयक्तिकता को प्रौढ़ कवि निजी अनुभवों की सामान्य अभिव्यक्ति मानता है। यह सिद्धांत भारतीय आचार्यों के साधारणीकरण से काफी मेल रखता है।

टास्क टी. एस. इलियट कौन थे?

निर्वैयक्तिकता का अर्थ–इलियट ने इसका अर्थ कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण बताया है।

निर्वैयक्तिकता का रूप–इलियट ने इसके दो रूप स्वीकार किए हैं–

(1) प्राकृतिक–जो प्रमुख शिल्पी या कलाकार के लिए ही होता है।

नोट

(2) विशिष्ट–जो प्रौढ़ कलाकारों द्वारा उपलब्ध की जाती है।

इलियट कवि एवं कलाकृति दोनों को परस्पर प्रभावित होना स्वीकार करते हैं, "मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्राप्त करता है, किंतु मैं यह भी विश्वास करता हूँ, कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं भी प्रभावित होता है।" अत: यह कहना गलत होगा कि इलियट कविता में कवि के व्यक्तित्व को अस्वीकार करता है। It means वह काव्य में कवि के व्यक्तित्व को भी स्वीकार करता है।

27.2.1 निर्वैयक्तिकता सिद्धांत की समीक्षा

इलियट के इस सिद्धांत पर यह आक्षेप किया गया कि कविता कवि व्यक्तित्व के निरपेक्ष नहीं हो सकती, कवि के अनुभव कविता में व्याप्त होकर साधारणीकृत बन जाते हैं, परंतु इस आक्षेप के प्रसंग में इलियट का यह कथन लिया जा सकता है कि उसका मूल उद्देश्य रोमांटिक काव्य की अतिशय वैयक्तिकता पर प्रश्नचिह्न लगाना था, क्योंकि इलियट वैसे तो कवि या कलाकार के व्यक्तिव का समर्थक था।

कविता के तीन स्वर–इलियट ने 'कविता के तीन स्वर' नामक अपने व्याख्यान में काव्य के तीन स्वर माने हैं–

(1) प्रथम स्वर–जिसमें कवि किसी अन्य से नहीं, अपितु स्वयं से बात करता है। (2) द्वितीय स्वर–जिसमें वह श्रोताओं से बात करता है। (3) तृतीय स्वर, जिसमें कवि स्वयं वक्ता न होकर अपने पात्रों के माध्यम से बोलता है।

इसी प्रकार कविता के विषय में इलियट का कथन है कि वह स्वयं अवतरित हो जाती है, लिखी नहीं जाती। ऐसी दशा में कवि तो केवल माध्यम होता है। दूसरे स्वर में कविता किसी सजग सामाजिक उद्देश्य के लिए लिखी जाती है। तीसरे स्वर के अंतर्गत नाटक आते हैं। वास्तविक रूप में किसी भी कविता में केवल एक स्वर मिलना कठिन है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. 'Tradition and Individual Talent' टी. एस. इलियट की प्रसिद्ध रचना है।
8. इलियट ने 'कविता के तीन स्वर' नामक अपने व्याख्यान में काव्य के चार स्वर माने हैं।
9. इलियट एजरा पाउंड के विचारों से प्रभावित नहीं थे।

27.3 सारांश (Summary)

- कवि से प्रभावित हाकर इलियट अनेकता में एकता बाँधने के लिए परंपरा को आवश्यक मानते थे, जो वैयक्तिकता का विरोधी है।
- इलियट ने कविता की उत्पत्ति को लेकर बाद में अपने मत में संशोधन करते हुए कहा कि, "मैं उस समय अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सका था।"
- इलियट कवि एवं कलाकृति दोनों को परस्पर प्रभावित होना स्वीकार करते हैं, "मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्राप्त करता है, किंतु मैं यह भी विश्वास करता हूँ, कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं भी प्रभावित होता है।"

27.4 शब्दकोश (Keywords)

- विधान : निर्माण, रचना, प्रणाली
- अवतारण : उतरना, नीचे लाना

नोट

- प्रेषणीय : यह गुण कि कोई कृति पाठक तक पहुंचती है

27.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. संप्रेषण से आप क्या समझते हैं?
2. रिचर्ड्स के संप्रेषणीयता सिद्धांत को समझाइए।
3. टी. एस. इलियट कौन थे?
4. इलियट के निर्वैयक्तिकता सिद्धांत की समीक्षा कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. इंग्लैण्ड	2. रमणीय	3. स्वाभाविक	4. (अ)
5. (ब)	6. (स)	7. सत्य	8. असत्य
9. असत्य।			

27.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र – *देवेन्द्रनाथ शर्मा।*
2. पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धांत – *मैथिली प्रसाद भारद्वाज।*

नोट

इकाई–28 : प्रमुख आधुनिक साहित्यवाद–स्वच्छंदतावाद, मार्क्सवाद

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

28.1 स्वच्छन्दतावाद

28.2 मार्क्सवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि

28.3 सारांश (Summary)

28.4 शब्दकोश (Keywords)

28.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

28.6 संदर्भ-पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- स्वच्छंदता का अर्थ समझने हेतु।
- स्वच्छंदता की सामान्य विशेषताएँ जानने हेतु।
- मार्क्सवाद का अर्थ जानने हेतु।
- मार्क्सवाद की विचारधारा जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

स्वच्छन्दतावाद को अंग्रेजी में **'रोमांटिसिज्म'** कहा जाता है। इसका जन्मदाता **'रूसो'** माना जाता है। फ्रांस की राज्य क्रांति (1789) से उत्पन्न विचारों ने 'स्वच्छन्दतावाद' की पृष्ठभूमि तैयार की थी। नव्यशास्त्रवादियों ने ग्रीक साहित्य को अपना आदर्श मानकर काव्य को शास्त्रीय नियमों में जकड़ दिया था, जिससे साहित्य की आत्मा उपेक्षित-सी हो गई थी। इसी के विरोध में **स्वच्छन्दतावाद का जन्म 18वीं शती के अंतिम दशक एवं 19वीं शती के प्रारंभ** में हुआ।

28.1 स्वच्छन्दतावाद

दूसरी ओर, हिन्दी की प्रगतिवादी कविता मार्क्सवाद से प्रभावित है। मार्क्स के अनुसार, भौतिक विकास को परिचालित करने वाली प्रवृत्ति का नाम द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद है। स्वच्छन्दतावादी साहित्यकारों ने नियमबद्धता, परंपरानुसारिता एवं आडम्बरप्रियता का डटकर विरोध किया और साहित्य को नियमों एवं आदर्शों की सीमा से बाहर निकालकर आंतरिक प्रेरणा से उन्मुक्त धरातल पर स्थित किया।

साहित्यिक रूप में **'रोमांटिसिज्म'** का सर्वप्रथम प्रयोग फ्राँस में हुआ तथा इसका अर्थ ग्रहण किया गया **'काव्य की**

नोट

मुक्त एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति प्रणाली'। साहित्य में 'रोमांटिसिज्म' समर्थक कवियों ने प्रकृति को प्रमुखता दी और व्यक्ति की महत्ता बढ़ गई। स्वच्छन्दतावादी कवि व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से काव्य को देखता है तथा उसमें कल्पना की प्रमुखता होती है। स्वच्छन्दतावाद की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार है–

1. **विद्रोह की प्रवृत्ति**–यह प्रवृत्ति विषय, भाषा और शैली सभी क्षेत्रों में है।
2. **कृत्रिमता से मुक्ति**–कविता को आडम्बर एवं कृत्रिमता से मुक्ति दिलाई।
3. **कल्पना की प्रधानता**–स्वच्छन्दतावादी कवि कल्पना के मनोरम ऐन्द्रिय जगत में विचरण करता है और वह काल्पनिक सौंदर्य का उपासक बन जाता है।
4. **जगत से पलायन**–स्वच्छन्दतावाद का कवि संसार की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर स्वप्नलोक में विचरण करता है।
5. **अद्‌भुत के प्रति मोह**–इस प्रवृत्ति ने रहस्यवाद को जन्म दिया है।
6. **वैयक्तिकता की भावना**–व्यक्तिवाद को प्रमुखता देने के कारण कवि अपनी रुचि, अपनी भावना और अपनी दृष्टि को ही प्रधानता देता है।
7. **स्वानुभूति को प्रमुखता**–कवियों ने अपनी दुखानु भूतियों, कुण्ठा, निराशा, हताशा, अतृप्त आकांक्षा को काव्य में अभिव्यक्त करते हुए स्वानुभूति को प्रधानता दी।
8. **सौंदर्य के प्रति मोह**–कल्पना की प्रधानता के कारण सौंदर्य चित्रण की प्रमुखता इस काव्य में है।
9. **प्रकृतिप्रियता**–स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रकृति के प्रति मोह है। प्रकृति उनके सुख-दु:ख से प्रभावित होती दिखाई गई है।
10. **संगीतात्मकता**–गीति शैली को इन्होंने प्रमुखता प्रदान की है। ये अपने हृदयोद्‌गारों को गीत के माध्यम से सहज रूप में अभिव्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं।

फ्रेड्रिक श्लेगल ने इसे **'रोमांटिसिज्म'** नाम दिया, जबकि **विक्टर ह्यूगो** की दृष्टि में रोमांटिसिज्म का अभिप्राय **'साहित्यिक उदारवादिता'** है। अंग्रेजी भाषा के कवि-वर्ड्सवर्थ, कालरिज, कीट्स और शैली तथा हिन्दी भाषा के छायावादी कवि प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा की कविताओं में स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. साहित्यिक रूप से रोमांटिसिज्म का सर्वप्रथम प्रयोग .... में हुआ था।
2. स्वच्छंदतावादी कवि व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से .... को देखता है।
3. रोमांटिसिज्म का जन्मदाता .... को माना जाता है।

28.2 मार्क्सवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि

हिंदी की 'प्रगतिवादी' कविता 'मार्क्सवाद' से प्रभावित है। सच पूछा जाए तो मार्क्सवाद का ही साहित्यिक रूप 'प्रगतिवाद' है। साम्यवादी विचारधारा का पोषण करने वाली रचनाओं को ..... प्रगतिवादी रचनाएँ कहा गया। प्रगतिवादी विचारधारा का मूलाधार मार्क्सवाद या साम्यवाद है, अंत: मार्क्सवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि जाननी आवश्यक है।

नोट

मार्क्सवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स (1818-1883 ई.) एक जर्मन अर्थशास्त्री थे। उनकी विचारधारा को तीन भागों में बांट सकते हैं–

1. द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद
2. मूल्य वृद्धि का सिद्धांत
3. मानव सभ्यता के विकास की व्याख्या

मार्क्स के अनुसार भौतिक विकास को परिचालित करने वाली प्रवृत्ति का नाम **द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद** है। द्वन्द्वात्मक विकास का तात्पर्य वह है कि विकास द्वन्द्व (संघर्ष) से होता है। दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से तीसरी शक्ति विकसित होती है। बाद में इस तीसरी का संघर्ष चौथी से होता है और उससे पाँचवीं शक्ति विकसित होती है। इसी क्रम से इस भौतिक जगत में नई-नई शक्तियों का विकास होता रहता है।

क्या आप जानते हैं मार्क्सवाद के अनुसार सृष्टि का विकास इसी द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद से हुआ है। इसीलिए वह किसी अलौकिक सत्ता-आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक आदि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता।

मूल्य वृद्धि के सिद्धांत की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने बताया कि वस्तु की उत्पत्ति के चार अंग हैं–(*i*) मूल पदार्थ, (*ii*) स्थूल साधन, (*iii*) श्रमिक का श्रम, (*iv*) मूल्य वृद्धि। पूंजीपतियों ने पूँजी के बल पर स्थूल साधनों अर्थात् मशीनों एवं उपकरणों पर एकाधिकार कर लिया है, परिणामत: मूल पदार्थ से उत्पादित वस्तु जिसमें श्रमिकों का श्रम भी सम्मिलित है, पूँजीपति को लाभ पहुँचाती है। पूंजीपति इस पूँजी के बल पर श्रमिकों का शोषण करता है। स्पष्ट रूप से।

नोट्स मार्क्स ने समाज को दो वर्गों में विभक्त किया–शोषक वर्ग (पूंजीपति, जमींदार, मिल मालिक, उद्योगपति) और शोषित वर्ग (मजदूर, श्रमिक, किसान, गरीब)।

मार्क्सवाद शोषण का विरोध करता है। उसे शोषितों के प्रति सहानुभूति है और वह शोषण को समाप्त कर समाज में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहता है।

विश्व-सभ्यता के विकास की व्याख्या भी मार्क्स ने इन्हीं दो वर्गों–शोषक, शोषित के आधार पर की है। मानव सभ्यता का समस्त इतिहास इन दो वर्गों के संघर्ष की गाथा है। इसे चार कालों में बाँटा जा सकता है– (*i*) दास प्रथा, (*ii*) सामन्ती प्रथा, (*iii*) पूँजीवादी व्यवस्था और (*iv*) साम्यवादी व्यवस्था। **'दास प्रथा'** वह है जिसमें श्रमिक के व्यक्तित्व, उसके श्रम, उत्पत्ति के साधनों एवं उत्पादन–इन चारों पर मालिक अर्थात् शोषक का अधिकार था। आगे चलकर **'सामन्ती प्रथा'** विकसित हुई जिसमें दासत्व से मुक्ति दे दी गई, किन्तु श्रम, साधन एवं उत्पादन इन तीनों पर सामन्त (शोषक) का अधिकार रहा। तीसरा युग **'पूँजीवादी व्यवस्था'** का आया जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व एवं उसके श्रम पर मालिक का अधिकार नहीं रहा, किन्तु शेष दो अर्थात् साधन एवं उत्पादन पर शोषक का अधिकार बना रहा। मार्क्स की मान्यता है कि यद्यपि प्रथम व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था एवं दूसरी व्यवस्था से तीसरी व्यवस्था बेहतर थी तथापि मजदूरों को उत्पादन का पूरा लाभ तभी मिल सकता है जबकि उत्पादन के साधनों पर उनका अधिकार हो। यह व्यवस्था ऐसे समाज में संभव हो सकती है जिसमें मजदूरों का सत्ता पर अधिकार हो। कार्ल मार्क्स इस चौथी व्यवस्था को ही लागू करना चाहता था, जिसे उसने **'साम्यवादी व्यवस्था'** का नाम दिया। यही वह व्यवस्था है जिसमें श्रमिक को उसके परिश्रम का पूरा लाभ मिल सकता है।

नोट

निष्कर्ष यह है कि मार्क्सवाद का लक्ष्य समाज में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह विद्रोह, हिंसा एवं क्रांति का समर्थन करता है। मार्क्सवाद में शोषितों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रेरित एवं उत्तेजित किया गया है।

मार्क्सवाद की मान्यताओं में प्रमुख हैं–

1. धर्म, ईश्वर एवं परलोक का विरोध,
2. पूँजीपति वर्ग के प्रति घृणा का प्रचार,
3. शोषित वर्ग की दीनता एवं निर्धनता का चित्रण करते हुए उनके प्रति सहानुभूति,
4. नारी का यथार्थ चित्रण।

हिंदी साहित्य में प्रगतिवादी चेतना का सूत्रपात छायावाद के समाप्ति काल अर्थात् 1936 ई. से हुआ। रूप में प्रतिष्ठित साम्यवाद और पश्चिम के देशों में फैलता उसका प्रभाव भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए प्रेरणाकेंद्र बन रहा था। गांधी जी का आंदोलन भी देश के कुछ नवयुवकों एवं गरम दल के लोगों को नहीं भा रहा था। राजनीतिक दासता पूँजीवाद को बढ़ावा दे रही थी जिसके विरुद्ध जनता में असंतोष था। जनसामान्य गरीबी, अशिक्षा, अपमान से त्रस्त था। कम्युनिज्म के सिद्धातों से भारतीय बुद्धिजीवी प्रभावित हो रहे थे। सन् 1935 ई. के आस-पास भारत में साम्यवादी आंदोलन प्रारंभ हो गया था। पेरिस में 1935 ई. में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक अंतर्राष्ट्रीय संस्था का उदय हो चुका था जिसकी एक शाखा सन् 1936 ई. में सज्जाद जहीर और डॉ. मुल्कराज आनंद के प्रयत्नों से भारत में स्थापित हुई।

क्या आप जानते हैं 'प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना भारत में हुई जिसका पहला अधिवेशन लखनऊ में 1936 ई. में प्रेमचंद की अध्यक्षता में संपन्न हुआ।

प्रगतिवादी साहित्य ने शोषण का विरोध किया और किसानों, मजदूरों के संघर्ष को बल प्रदान किया। शोषक, स्वार्थी, स्वकेन्द्रित, जर्जर व्यवस्था की विसंगतियों पर प्रगतिवाद ने कसकर प्रहार किए हैं।

टास्क कार्लमार्क्स की विचारधारा को कितने भागों में बाँटा गया है?

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. मार्क्सवाद के प्रवर्तक कौन थे?

   (अ) अरस्तु (ब) लौंजाइनस
   (स) कार्ल मार्क्स (द) इनमें से कोई नहीं।

5. वह प्रथा क्या कहलाती है, जिसमें श्रमिक के व्यक्तित्व, उसके श्रम, उत्पत्ति के साधनों एवं उत्पादन-इन चारों पर मालिक अर्थात् शोषक का अधिकार होता है–

   (अ) दास प्रथा (ब) सती प्रथा
   (स) नौकरशाही (द) मजदूरी।

नोट

6. पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक अन्तर्राष्ट्रीय संख्या की स्थापना किस सन् में हुई थी?

   (अ) 1944 (ब) 1938

   (स) 1936 (द) 1935।

28.3 सारांश (Summary)

- साहित्यिक रूप में **'रोमांटिसिज्म'** का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांस में हुआ तथा इसका अर्थ ग्रहण किया गया **'काव्य की मुक्त एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति प्रणाली'।**
- मार्क्स के अनुसार, भौतिक विकास को परिचालित करने वाली प्रवृत्ति का नाम **द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद** है। द्वन्द्वात्मक विकास का तात्पर्य वह है कि विकास द्वन्द्व (संघर्ष) से होता है।
- हिंदी साहित्य में प्रगतिवादी चेतना का सूत्रपात छायावाद के समाप्ति काल अर्थात् 1936 ई. से हुआ। रूप में प्रतिष्ठित साम्यवाद और पश्चिम के देशों में फैलता उसका प्रभाव भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए प्रेरणाकेंद्र बन रहा था।

28.4 शब्दकोश (Keywords)

- द्वंद्वात्मक – संघर्षपूर्ण
- सामंतवाद – वह शासन व्यवस्था जिसमें राज्य की भूमि जमींदारों के अधिकार में रहती थी

28.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. रोमांटिसिज्म से क्या अभिप्राय है?
2. स्वच्छंदतावाद की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. मार्क्सवाद से आप क्या समझते हैं?
4. मार्क्सवाद की मान्यताओं को बताइए।
5. मार्क्सवाद के द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद की व्याख्या कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. फ्रांस 2. काव्य 3. रूसो 4. (स)
5. (अ) 6. (द)।

28.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. नई समीक्षा के प्रतिमान – *निर्मला जैन।*

2. समीक्षा लोक – *भागीरथ दीक्षित।*

इकाई–29 : अस्तित्ववाद एवं मनोविश्लेषणवाद

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

29.1 अस्तित्ववाद : वैचारिक पृष्ठभूमि

29.2 मनोविश्लेषणवाद : वैचारिक पृष्ठभूमि

29.3 सारांश (Summary)

29.4 शब्दकोश (Keywords)

29.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

29.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- अस्तित्ववाद के प्रवर्तक को जानने हेतु।
- अस्तित्ववादी विचारधारा को समझने हेतु।
- मनोविश्लेषणवाद का अर्थ समझने हेतु।
- मनोविश्लेषणवाद की व्याख्या करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

अस्तित्ववादी अनुयायियों का मत है कि सारे विचार और सिद्धांत व्यक्ति की चिंतन के परिणाम हैं। अर्थात् पहले मानव या व्यक्ति अस्तित्व में आया तत्पश्चात् उसके द्वारा विभिन्न विचारों या सिद्धांतों का निरूपण हुआ। अत: व्यक्ति का अस्तित्व ही प्रमुख है। उसके विचार या सिद्धांत गौण हैं। अस्तित्ववादी ईश्वर की सभा में विश्वास नहीं करते। वहीं मनोविश्लेषणवाद मानव व्यवहार का विश्लेषण करता है। हिन्दी के कुछ उपन्यासकारों जिनमें अज्ञेय, जैनेन्द्र एवं इलाचन्द्र आदि के नाम लिए जा सकते हैं, ने ऐसे पात्रों की सृष्टि की, जो फ्रायड, एडलर के सिद्धांतों से परिचालित हैं। फ्रायड ने मन के तीन भाग स्वीकार किये हैं–चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन। चेतन मन से हम सब कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं जबकि अचेतन मन दमित इच्छाओं, आकांक्षाओं और सुप्त वासनाओं की शरण-स्थली है।

29.1 अस्तित्ववाद : वैचारिक पृष्ठभूमि

अस्तित्ववाद के प्रवर्तक डेनिश विचारक सारन कीर्केगार्ड (1813-1855 ई०) थे। बाद में उनके ग्रंथों का अनुवाद जर्मन भाषा में हुआ और अंतर्राष्ट्रीय जगत में यह विचारधारा प्रचलित हुई। जर्मनी के विद्वान **नीत्शे, हेडेगर, जेस्पर्स**

नोट

तथा **फ्रांस** के विचारक **गेब्रियल मार्शल, ज्यां पाल सार्त्र** (1905) **अलबर्ट कामू** (1913-1960 ई०) के नाम अस्तित्ववादी विचारकों में प्रमुखता से लिए जाते हैं।

अस्तित्ववादी विचारधारा का आधारभूत शब्द 'अस्तित्व' है जो अंग्रेजी के शब्द का पर्याय है। इस विचारधारा के अनुयायियों का मत है कि सारे विचार और सिद्धांत व्यक्ति की चिंतना के परिणाम हैं अर्थात् पहले मानव या व्यक्ति अस्तित्व में आया तत्पश्चात् उसके द्वारा विभिन्न विचारों या सिद्धांतों का निरूपण हुआ। अत: व्यक्ति का अस्तित्व ही प्रमुख है। उसके विचार या सिद्धांत गौण हैं। स्पष्ट है कि अस्तित्ववाद व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है और यह विचारधारा वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता को उतना महत्त्व नहीं देती।

अस्तित्ववादियों की धारणा है कि प्रत्येक सिद्धांत व्यक्ति की अपनी दृष्टि की उपज है, अत: वह व्यक्ति सापेक्ष है इसलिए किसी भी सिद्धांत को सर्वांगीण, सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में अस्तित्ववादी यह मानते हैं कि हर व्यक्ति को अपना सिद्धांत स्वयं खोजना चाहिए, दूसरों द्वारा प्रतिपादित या निर्मित सिद्धांतों को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। यही कारण है कि अस्तित्ववादियों के लिए सभी परंपरागत, सामाजिक, नैतिक एवं वैज्ञानिक सिद्धांत अमान्य एवं अव्यावहारिक सिद्ध हो जाते हैं।

अस्तित्ववादी मानते हैं कि परिस्थितियां और भाग्य, बाह्य सत्ता और कर्मफल जैसी कोई चीज नहीं होती। उसके विचार से प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। वह अपनी परिस्थितियों को अनुकूल या प्रतिकूल स्वयं बनाता है, इसके लिए किसी अन्य को दोष देना अनुचित है।

क्या आप जानते हैं अस्तित्ववादी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते। वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि ईश्वर तो मर गया।

ईश्वर के नाम पर लगाए गए विधि-निषेधों की ये अवहेलना करते हैं और इसीलिए परंपरागत आस्थाओं, नैतिक नियमों, जीवन विश्वासों के घोर विरोधी हैं। ये वैयक्तिक स्वच्छंदता, उपभोग की स्वतंत्रता, उन्मुक्त भोग, नास्तिकता, असामाजिकता, आचार-विरोध के पक्षधर हैं।

ईश्वर, परलोक, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, पूर्वजन्म, भाग्य एवं कर्मफल में इनकी कोई आस्था नहीं है। ज्यां पाल सार्त्र ने लिखा है:

''यदि ईश्वर का अस्तित्व न हो (न माना जाए) तो सब कुछ संभव है, क्योंकि उस स्थिति में मनुष्य निराश्रित होकर किसी भी आंतरिक या बाह्य वस्तु से नहीं बंध सकेगा।''

वस्तुत: अस्तित्ववादी प्रत्येक ईश्वर के कारण मानव पर लगाए गए अंकुशों को स्वीकार नहीं करता।

अस्तित्ववादी प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास करता है अत: समूह के सामान्य निष्कर्षों को व्यक्ति पर लागू करना अन्याय मानता है। उदाहरण के लिए, हर प्रेमी पर निराशा की प्रतिक्रिया अलग-अलग होती है। कोई हताश होता है, तो कोई पलायनवादी, कोई हिंसक बन जाता है तो कोई आत्म बलिदानी।

व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य मूलत: सुख, वैभव, लक्ष्य प्राप्ति है। व्यक्ति के क्रिया-कलापों का मूल्यांकन इसी मापदण्ड पर होता है कि उसने मानवता को सुखी बनाने के लिए क्या किया, किंतु अस्तित्ववादी इन लक्ष्यों को स्वीकार नहीं करता। व्यक्ति की कोई भी उपलब्धि, नैतिकता का कोई भी आदर्श, विज्ञान का कोई भी आविष्कार मानवता को पूर्ण सुखी नहीं बना सकता। मनुष्य जब तक मनुष्य है तब तक वह सुखी नहीं हो सकता। इसीलिए अस्तित्वादी यह मानता है कि मानव जीवन को सुखी बनाने के सभी वैयक्तिक या सामूहिक प्रयास निरर्थक हैं। स्पष्ट ही अस्तित्ववादी इन महान विचारकों, समाज सुधारकों, राजनीतिकों को अधिक महत्त्व नहीं देता, क्योंकि ये लोगों

को अपने विचारों एवं सिद्धांतों पर चलने को विवश करते हैं जिससे व्यक्ति की स्वच्छंदता, स्वतंत्रता पर अंकुश लगता है जो अस्तित्ववादियों को कदापि स्वीकार नहीं है।

अस्तित्ववादी दु:ख, पीड़ा, वेदना को जीवन की एक उपलब्धि मानते हैं। उनकी मान्यता है कि वेदना जितनी गहरी होगी अपने अस्तित्व का बोध भी उतना ही गंभीर होगा। अत: 'पीड़ा' अस्तित्ववादियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण मूल्य और वांछनीय तत्त्व के रूप में स्वीकृत है। इनके अनुसार :

1. पीड़ा या संत्रास को मनुष्य के लिए अनिवार्य मानना चाहिए।
2. पीड़ा या संत्रास के भय को हृदय से निकालकर उससे पूर्ण मुक्ति पा लेनी चाहिए।
3. पीड़ा या संत्रास के प्रति अपनी चेतना को सदा जाग्रत रखते हुए अपनी समग्र शक्तियों के उपयोग द्वारा अपने अस्तित्व को सार्थक करना चाहिए।

समग्रत: यह कह सकते हैं कि पीड़ा ही अस्तित्वबोध की साधिका है। ध्यान रहे कि पीड़ा उनका साध्य नहीं, साधन है। व्यक्ति की पूर्ण स्वच्छंदता ही अस्तित्ववादियों का प्रमुख मूल्य है। चयन की पूर्ण स्वच्छंदता ही उनका ध्येय है इसीलिए वे नियमों, परंपराओं, सिद्धांतों, विचारों, मान्यताओं, मर्यादाओं की उपेक्षा करते हैं। अस्तित्ववादियों के जीवन दर्शन का मूलाधार चयन की स्वतंत्रता या वैयक्तिक स्वच्छंदता है। इसी से उनकी सब धारणाएँ–अस्तित्व बोध, नास्तिकता, असामाजिक विज्ञान विरोध, पीड़ा की महत्ता आदि विकसित हुई हैं।

अस्तित्ववाद की आधारभूत अवधारणाएँ संक्षेप में निम्न प्रकार निरूपित की जा सकती हैं:

1. व्यक्ति की महता
2. क्षणवादी जीवन दर्शन
3. नास्तिकता
4. विज्ञान विरोध
5. पूर्ण स्वच्छंदता
6. उन्मुक्त भोग
7. दु:खवाद एवं पीड़ा
8. नैतिकता एवं आचार-संहिता का विरोध
9. मृत्यु का वरण
10. गद्यात्मक अभिव्यक्ति

टास्क अस्तित्ववाद से क्या अभिप्राय है।

अस्तित्ववाद पर कुछ आरोप भी लगाए गए हैं। विचारकों ने इस दर्शन की एकांगी, एकपक्षीय एवं अधकचरा बताया। इनमें वैचारिक एकरूपता नहीं पाई जाती तथा ये समस्त मानव एवं ज्ञान-विज्ञान के प्रति आदर भाव नहीं रखते। ये व्यक्ति को महत्त्व देते हैं, समाज को नहीं।

हिंदी की प्रयोगवादी एवं नई कविता अस्तित्ववाद से प्रभावित है। अज्ञेय, मुक्तिबोध, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती भारतभूषण अग्रवाल, शांता सिन्हा आदि के काव्य में उप निराशा, कुण्ठा, उन्मुक्त भोग, पीड़ा, अनास्था, नास्तिकता अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन की देन है।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. अस्तित्ववाद के प्रवर्तक .... थे।
2. अस्तित्ववादी .... की सत्ता में विश्वास नहीं करते।
3. अस्तित्ववादी दु:ख, पीड़ा, वेदना को .... की एक उपलब्धि मानते हैं।

29.2 मनोविश्लेषणवाद : वैचारिक पृष्ठभूमि

आधुनिक साहित्य को 'मनोविश्लेषणवाद' ने भी पर्याप्त प्रभावित किया है। साहित्य का संबंध मानव मन से प्रगाढ़ रूप में है। अत: साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत चरित्र-चित्रण पर आधुनिक मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव प्रमुख रूप में परिलक्षित होता है। मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन करता है और साहित्यकार मानव व्यवहार का विश्लेषण करता है। पाश्चात्य साहित्यकारों ने फ्रायड, एडलर एवं युंग के सिद्धांतों का उपयोग अपने पात्रों के चरित्रांकन में किया। हिंदी के कुछ उपन्यासकारों यथा—अज्ञेय, जैनेन्द्र एवं इलाचन्द्र जोशी ने ऐसे पात्रों की सृष्टि की जो फ्रायड, युंग एवं एडलर के सिद्धांतों से परिचालित हैं। इन चरित्रों को समझने के लिए हमें फ्रायड, युंग एवं एडलर के सिद्धांतों को मूलत: समझ लेना चाहिए।

फ्रायड ने अचेतन मन और काम भावना (लिविडो) का अपने मनोविश्लेषण में प्रमुख स्थान दिया। फ्रायड काम भावना (लिविडो) को मानव मन की मूल परिचालिका शक्ति मानता है। उसके अनुसार धर्म, अर्थ, साहित्य और संस्कृति की मूल प्रेरणा यही कामवृत्ति है। सर्जक (साहित्यकार, कलाकार) कल्पनाशील होने के कारण अपनी वर्जनाओं को काम प्रतीकों के रूप में अभिव्यक्ति देता है। जब हम सामाजिक मूल्यों एवं नैतिकता के बंधनों के कारण अपनी काम प्रवृत्ति एवं वासना का दमन करते हैं तब वह अचेतन मत में कुण्ठा या मनोग्रंथि का रूप धारणा कर लेती है। साहित्य और कला इन वासनाओं एवं मनोग्रंथियों के रेचन का मार्ग प्रशस्त करती है।

'फ्रायड' ने मन के तीन भाग स्वीकार किए—चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन। चेतन मन से हम सब कुछ देखते और अनुभव करते हैं जबकि अचेतन मन दमित इच्छाओं, आकांक्षाओं और सुप्त वासनाओं की शरणस्थली है। अवसर पाकर ये दमित इच्छाएँ एवं सुप्त वासनाएँ कला या साहित्य में अभिव्यक्त होती हैं। फ्रायड यह भी मानता है कि चेतन और अचेतन में निरंतर द्वंद्व चलता रहता है। चेतन मन पर नैतिक, सामाजिक मर्यादाओं के बंधन होते हैं, अत: अचेतन की इच्छाएँ जब चेतना के धरातल पर आती हैं तब चेतन मन के संस्कार उसका निषेध करते हैं परिणामत: एक द्वंद्व उत्पन्न होता है जो मानसिक ग्रंथियों एवं कुण्ठाओं का रूप धारण कर लेता है। कभी-कभी अचेतन की इच्छाएँ चेतन मन के द्वारा परिष्कृत एवं उदात्त रूप में अभिव्यक्त होती है। चेतन ओर अचेतन के बीच अर्द्धचेतन होता है।

फ्रायड ने यह भी प्रतिपादित किया कि इन ग्रंथियों से 'अहं भाव' विकसित होता है। बहुत सारे चरित्र 'अहं' परिचालित होते हैं। फ्रायड मानव मन की मूल परिचालक शक्ति के रूप में 'लिविडो' (काम भावना) को स्वीकार करता है। जबकि सामाजिक एवं नैतिक बंधनों के कारण इसका मार्ग अवरुद्ध होता है तब कुण्ठा, मनोग्रंथि, अहं, उन्माद जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

नोट्स 'एडलर' ने मानव के मन में उत्पन्न 'हीन भावना' को मन की परिचालिका शक्ति माना है।

हीनता की अनुभूति मनुष्य के मन अहं भाव को जन्म देती है और इससे परिचालित होकर वह अपने महत्त्व को अनुभव करने एवं कराने की आवश्यकता अनुभव करते हुए तद्नुसार आचरण एवं व्यवहार करता है।

'युंग' के अनुसार मनुष्य की स्मृतियाँ मानसिक कार्य व्यापार को चेतन मन में एकत्र नहीं रख पातीं और वे अचेतन में चली जाती हैं। अचेतन मन में दमित रहने वाली अनुभूतियाँ स्मृतियाँ एवं विचार 'अहं' को स्वीकार्य नहीं हो पाते, परिणामत वहाँ भय, आशंका, मृत्यु जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे मनुष्य का जीवन प्रभावित होता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने अपने व्यक्ति चरित्रों का निर्माण इसी आलोक में किया है। अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' का शेखर, जैनेन्द्र के त्यागपत्र की मृणाल एवं 'सुनीता' उपन्यास की नायिका 'सुनीता' और इलाचंद्र जोशी के पात्र चंद्रमोहन, महीप, नकुलेश आदि इन्हीं ग्रंथियों से परिचालित पात्र हैं।

वस्तुत: मानव का अंतर्जीवन ही उसके बहिर्जीवन का प्रेरक और परिचालक है। अंतर्मन के अतल में दबी प्रवृत्तियां वैयक्तिक जीवन को ही नहीं अपितु सामूहिक जीवन को भी प्रभावित करती हैं। मानव के वैयक्तिक एवं सामाजिक आचरण की मूल परिचालिका शक्ति इन्हीं अवदमित प्रवृत्तियों को मानना चाहिए। हिंदी के प्रमुख मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार इलाचंद्र जोशी ने मनोविज्ञान को एक अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया है जिसकी सहायता से वे 'रुग्ण' अंग का उपचार करके व्यक्ति को स्वस्थ बनाने पर बल देते दिखाई पड़ते हैं। मनोविश्लेषण के द्वारा वे उसके अंतरतम में प्रवेश कर मन में दबी विकृतियों एवं ग्रंथियों की निर्ममता से चीर-फाड़ करते हैं और समाज के सम्मुख उसका यथार्थ चरित्र प्रस्तुत कर देते हैं। उन्होंने अपने पात्रों के अंतर्मन में निहित कुण्ठाओं, हीनताओं को सामने लाकर उनके व्यवहार का विश्लेषण करने की अद्भुत पद्धति का विकास किया और यह दिखाने का प्रयास किया कि व्यक्ति के असामान्य व्यवहार का प्रेरक उसके अंतर्जगत की विकृतियाँ हैं। मनोविश्लेषणवाद की यही साहित्यिक उपयोगिता है जिसका उपयोग हिंदी के कतिपय उपन्यासकारों ने अपने साहित्य में किया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषण में किसे प्रमुख स्थान दिया है?
   (अ) मन और कामभावना
   (ब) अचेतन मन और कामभावना
   (स) चेतन मन और कामभावना
   (द) इनमें से कोई नहीं
5. एडलर ने किसे मानव के मन में उत्पन्न मन की परिचालिका शक्ति माना है?
   (अ) कामभावना
   (ब) हीनभावना
   (स) पश्चात्ताप की भावन
   (द) इनमें से कोई नहीं
6. किसके अनुसार 'मनुष्य की स्मृतियां' मानसिक कार्य व्यापार को चेतन मन में एकत्र नहीं रख पातीं?
   (अ) फ्रायड
   (ब) एडलर
   (स) युंग
   (द) इनमें से कोई नहीं

29.3 सारांश (Summary)

- अस्तित्ववादी मानते हैं कि परिस्थितियां और भाग्य, बाह्य सत्ता और कर्मफल जैसी कोई चीज नहीं होती। उसके विचार से प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है।
- अस्तित्ववादी प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास करता है अत: समूह के सामान्य निष्कर्षों को व्यक्ति पर लागू करना अन्याय मानता है।
- मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन करता है और साहित्यकार मानव व्यवहार का विश्लेषण करता है।
- 'फ्रायड' ने मन के तीन भाग स्वीकार किए–चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन। चेतन मन से हम सब कुछ देखते

नोट

और अनुभव करते हैं जबकि अचेतन मन दमित इच्छाओं, आकांक्षाओं और सुप्त वासनाओं की शरणस्थली है।

- हिंदी के प्रमुख मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार इलाचंद्र जोशी ने मनोविज्ञान को एक अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया है जिसकी सहायता से वे 'रुग्ण' अंग का उपचार करके व्यक्ति को स्वस्थ बनाने पर बल देते दिखाई पड़ते हैं।

29.4 शब्दकोश (Keywords)

- जर्जर : जो कमजोर एवं बेकार हो, जिसका महत्त्व कम हो गया (जैसे साहित्यिक परंपराओं का जर्जर हो जाना)
- दमित : दमन (बलपूर्वक शांत करने का काम) किया हुआ।

29.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. अस्तित्ववाद के प्रवर्तक कौन थे?
2. अस्तित्वाद की आधारभूत अवधारणाओं को लिखिए।
3. मनोविश्लेषणवाद से आप क्या समझते हैं?
4. मनोविश्लेषणवाद पर फ्रायड एवं एडलर के विचारों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. सारन कीर्केगार्ड	2. ईश्वर	3. जीवन	4. (ब)
5. (ब)	6. (स)।		

29.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें 1. भारतीय काव्यशास्त्र – *सत्यदेव चौधरी।*
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र – *देवेन्द्रनाथ शर्मा।*

नोट

इकाई–30 : आधुनिकतावाद एवं उत्तर-आधुनिकतावाद

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

30.1 आधुनिकता का अर्थ

30.1.1 आधुनिकता के मूल तत्त्व

30.1.2 आधुनिकतावाद

30.2 उत्तर-आधुनिकतावाद

30.3 सारांश (Summary)

30.4 शब्दकोश (Keywords)

30.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

30.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आधुनिकता का अर्थ समझने हेतु।
- आधुनिकता एवं आधुनिकतावाद में अंतर करने हेतु।
- उत्तर-आधुनिकतावाद का अर्थ जानने हेतु।
- उत्तर-आधुनिकतावाद के दर्शन की व्याख्या करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिकता एक सतत् प्रक्रिया है, जिसमें निरंतरता का गुण विद्यमान है। आधुनिकता के लिए मॉडर्निटी शब्द प्रयुक्त होता है। जिसका कोशगत अर्थ है—नूतनता, नवीनता और आधुनिकता। आधुनिकता संस्कृति को गतिशीलता देती है तथा उसके संचरण की दिशा भी निर्देशित करती है। जबकि उत्तर-आधुनिकतावाद पूँजीवादी विकास की नई स्थिति है। आधुनिकतावाद के जन्मदाता ल्योतार का मानना है कि हर वह स्थिति अथवा प्रक्रिया आधुनिकता है, जो अपनी वैधता की सिद्धि के लिए 'अतिवृत्तांत' या 'महावृत्तांत' का संदर्भ देती है। उनके अनुसार उत्तर-आधुनिकता का तात्पर्य आधुनिकता की समाप्ति के बाद की स्थिति नहीं है, अपितु यह सिद्ध करती है कि इस प्रकार की आधुनिकता का जन्म अब नहीं होगा।

30.1 आधुनिकता का अर्थ

आधुनिकता को सही अर्थों में परिभाषित कर पाना एक जटिल प्रक्रिया है। क्योंकि आधुनिकता की अवधारणा किसी

नोट

एक तत्त्व पर आश्रित नहीं है। आधुनिकता जीवन की प्रगतिशील अवधारणा है, एक दृष्टिकोण है, एक बोध प्रक्रिया है, एक संस्कार प्रवाह है। आधुनिकता को रूढ़ि से अनवरत विद्रोह करना पड़ता है, क्योंकि वह परंपरा का विकास है।

अंग्रेजी में 'आधुनिक' का पर्यायवाची शब्द **'मॉडर्न'** है जो **नवयुगीन, वर्तमान से संबद्ध रीति-रिवाज और 'व्यक्ति'** के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आधुनिकता के लिए वहाँ 'मॉडर्निटी' शब्द प्रयुक्त होता है जिसका कोशगत अर्थ है—नूतनता, नवीनता और आधुनिकता। वस्तुत: 'आधुनिकता' केवल 'नवीनता' के अर्थ को व्यक्त नहीं करती, अपितु इसमें **देशकाल की जीवन्तता के साथ विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टि भी जुड़ी हुई है।**

आधुनिकता एक सतत् प्रक्रिया है जिसमें निरंतरता का गुण विद्यमान है। आधुनिकता एक दृष्टि है जिसे नपे-तुले शब्दों में नहीं बांधा जा सकता है। यह एक जटिल प्रक्रिया है जो कई स्तरों पर होती है। **डॉ. धनंजय वर्मा** ने अपनी पुस्तक **'आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय'** में लिखा है—**''मेरी धारणा है कि आधुनिकता मानव विकास यात्रा की जटिल, संश्लिष्ट और गतिशील प्रक्रिया है। यह केवल एक स्थिति और धारणा ही नहीं है, निरंतर नए होते जाने की वृत्ति और वर्तमानता का बोध भी है। इसीलिए मैं आधुनिकता को परंपरा या पुरातनता का केवल विलोम नहीं मानता। आधुनिकता का सारा चिंतन और उपक्रम प्राचीन और आधुनिक के द्वंद्व से उपजी संक्रान्ति का परिणाम है।''**

आधुनिकता का संस्कार वैज्ञानिक सोच से जुड़ा हुआ है। विज्ञान ने हमें पुरातन मूल्यों को तर्क की कसौटी पर कसना सिखाया है। उसने मानव ज्ञान को निरंतरता और चिर नूतनता के प्रति विश्वस्त किया है और यही अर्थ 'आधुनिकता' के मूल में भी है। आधुनिकता संस्कृति को गतिशीलता देती है तथा उसके संचरण की दिशा भी निर्देशित करती है। सच तो यह है कि आधुनिकता की सांस्कृतिक विकास की प्रेरक है। विवेकयुक्त चिंतन से ही आधुनिकता को देखना-परखना समीचीन है, क्योंकि **आधुनिकता मूल्यों का नवीनीकरण भी करती है और नए मूल्य भी प्रदान करती है।**

आधुनिकता को रूढ़िग्रस्त मानसिकता से नहीं समझा जा सकता और न ही उसका प्रतिमानीकरण किया जा सकता है।

30.1.1 आधुनिकता के मूल तत्त्व

आधुनिकता के मूल तत्त्व निम्न प्रकार हैं:

1. वैज्ञानिक चेतना
2. तटस्थ बुद्धिवाद
3. प्रश्नाकुल मानसिकता
4. युगबोध एवं समसामयिकता
5. अस्तित्व चेतना
6. संत्रास एवं अलगाव
7. मूल्य संकट एवं मूल्य संक्रमण

आधुनिक दृष्टि अनिवार्यत: बौद्धिक है। स्वविवेक की कसौटी पर कसे बिना वह मान्यताओं को स्वीकार नहीं करती। आधुनिकता एक प्रश्नाकुल मानसिकता है जो हर बंधी-बंधाई व्यवस्था, मर्यादा या धारणा को तोड़ती है। युगबोध एवं समसामयिकता को आधुनिकता से अनिवार्यत संबद्ध किया जाता है, क्योंकि आधुनिकता वस्तुत: समसामयिक मूल्यों का प्रतिफलन है। युगबोध भी आधुनिकता का प्रमुख लक्षण है, क्योंकि युग से असंपृक्त होकर कोई भी व्यक्ति आधुनिक होने का दावा नहीं कर सकता। अपने अस्तित्व के प्रति सजग चेतना भी आधुनिकता का एक लक्षण है।

मूल्यों, मान्यताओं, आशाओं एवं आकांक्षाओं के प्रति 'मोह-भंग' व्यक्ति को 'संत्रास' एवं 'अलगाव' से भर देता है। स्वतंत्रता के उपरांत मूल्यों का विघटन तेजी से हुआ। आधुनिकता का भावबोध हमें पुराने मूल्यों का त्याग करने एवं नवीन को ग्रहण करने के लिए विवश करता है। वस्तुत: ''सभी प्रकार के अतिवाद से बचते हुए जिज्ञासा को जीवित रखना'' ही आधुनिकता को पहचानने का मार्ग है।

हिन्दी के कथा साहित्य में 'आधुनिकता बोध' का समावेश हुआ है समकालीन साहित्य में घुटन, टूटन, अकेलापन, बदलते जीवन मूल्य, निराशा, पीढ़ीगत अंतराल, मृत्युबोध, अस्तित्व चेतना आदि अनेक रूपों में आधुनिकता दिखाई पड़ती है। मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, मुक्तिबोध, अमरकान्त, गिरिराज किशोर, दीप्ति खण्डेलवाल आदि अनेक साहित्यकारों में आधुनिकता बोध दिखाई पड़ता है। आधुनिकता के दौर में हिंदी कहानी का सांचा बदल गया है उसका समूचा व्याकरण परिवर्तित हो गया है तथा उसने एक नई दिशा पकड़ ली है।

समीक्षा, आलोचना और विवेचना के क्षेत्र में हिंदी साहित्य का रीतिकाल तो संस्कृत काव्यशास्त्र पर आधारित रहा। उस समय हिंदी वालों की पहुँच संस्कृत तक ही थी। मुसलमान बादशाहों, नवाबों, और उमरावों ने फारसी का प्रचार किया, पर उसकी पहुँच अधिक लोगों तक नहीं थी। फारसी में एक काव्यशास्त्र पर्याप्त तथा सुलझा हुआ नहीं था, दूसरे वह समय किसी विदेशी तत्त्व को स्वीकार करने के साहस से हीन था। हिंदी साहित्य का आधुनिक काल अंग्रेजी शासन में आरंभ हुआ। अंग्रेजों ने अपने धर्म के साथ-साथ अपनी भाषा एवं शिक्षा नीति का भी प्रचार किया। लॉर्ड मैकाले ने जो शिक्षा नीति बनायी, वह शासन की गाड़ी खींचने के लिए क्लर्क पैदा करने के उद्देश्य पर आधारित थी। अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन करने वालों ने अंग्रेजी साहित्य को भी पढ़ा। उन्हें अंग्रेजी कविता और समीक्षा में बहुत कुछ नया प्रतीत हुआ, जिसे उन्होंने हिन्दी में उतारना और प्रचलित करना आवश्यक समझा। हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का अवतरण अंग्रेजी से ही हुआ है। हिंदी में निराला ने तुकविहीन और विषम पंक्तियों की कविता आरंभ की तो उस छन्द को रबर छन्द और केंचुआ छंद कहकर हँसी का विषय बनाया, पर निराला को इसकी प्रेरणा अंग्रेजी कविता से मिली थी। प्रयोगवादी कवियों ने संस्कृत और हिन्दी के प्रचलित तथा प्राचीन छंदों को पूरी तरह से नकार दिया और मुक्त छंद में कविता आरंभ की।

हिंदी समालोचना अथवा समीक्षा का प्रवर्तक **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** को माना जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि शुक्ल जी संस्कृत के काव्यशास्त्र से भली-भाँति परिचित थे, परंतु उन पर अंग्रेजी का भी पर्याप्त प्रभाव था। शुक्ल जी ने जिस आलोचना का आरंभ किया, वह अंग्रेजी से प्रभावित थी।

अनेक ऐसे वाद हैं, जिनका जन्म फ्रांस में हुआ। अंग्रेजों ने उन्हें अपनाया और अंग्रेजी भाषा ने उन्हें बहुप्रचलित बनाया। विखण्डनवाद, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद ऐसी विचारधाराएँ हैं, जिनका जन्म फ्रांस में हुआ तथा अंग्रेजी के माध्यम से उनका विश्व में प्रचार हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks) :

1. अंग्रेजी में .... का पर्यायवाची शब्द मॉडर्न है।
2. आधुनिकता एक प्रश्नाकुल .... है, जो हर बँधी-बँधाई व्यवस्था, मर्यादा या धारणा को तोड़ती है।
3. हिन्दी समालोचना अथवा समीक्षा का प्रवर्तक .... को माना जाता है।

30.1.2 आधुनिकतावाद

आधुनिकतावाद का जन्म फ्रांस में हुआ। क्यूबेक सरकार के आग्रह पर फ्रांसीसी विद्वान 'फ्रांसुआल्योतार' ने विकसित समाजों में विज्ञान और तकनीकी भूमिका तथा भाषा और व्यवहार के विषय में कुछ निष्कर्ष निकाले। वे निष्कर्ष 'द

नोट

पोस्ट मॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज' नामक रिपोर्ट में सुरक्षित किये गये। यह रिपोर्ट मूल फ्रांसीसी भाषा में सन् 1979 में प्रकाशित हुई। मेनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस ने सन् 1986 में इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। फ्रांसुआल्योतार की रिपोर्ट अथवा पुस्तक में जो 'पोस्ट मॉडर्न' पद है, इसी का हिंदी अनुवाद 'उत्तर-आधुनिक के रूप में हुआ। इसके प्रचलन के बाद आधुनिक को आधुनिकता में बदलकर 'उत्तर-आधुनिकता' बनाया गया। बाद में इस विचारधारा को 'उत्तर-आधुनिकतावाद' कहा गया।

यह तथ्य डॉ. सुधीश पचौरी की पुस्तक 'आलोचना से आगे' के आधार पर प्रस्तुत किया है। डॉ. सत्यदेव पचौरी ने अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र : अधुनातन संदर्भ' में संकलित अपने निबंध 'उत्तर-आधुनिकतावाद' उत्तर-आधुनिकता अथवा 'पोस्ट मॉडर्न' शब्द के प्रयोग की बात इससे पहले ही होने की इस प्रकार कही है, ''उत्तर-आधुनिकता'' पदबंध **जान बार्थ** ने सन् 1967 में कला के संदर्भ में प्रयोग किया। सन् 1974 में **पीटर बर्जर** ने तथा **ल्योतार** ने सन् 1979 में अपने ग्रंथ 'The Post Modern Condition: A Report on Knowledge' में **फ्रेडरिक जॉनसन** ने अपनी कृतियों 'Post Modernism', 'The Cultural Logic of Late Capitalism' आदि में इस अवधारणा की आधारशिला रखी। ल्योतार ने आधुनिकतावाद से महावृत्तांतों (Grand Narrative) का संबंध माना है। उनकी दृष्टि में महावृत्तान्तों में एक तारतम्य, समग्रता और आध्यात्मिकता का द्वंद्व होता है। उत्तर-आधुनिकतावाद महावृत्तांतों का विरोधी है।''

टास्क आधुनिकतावाद का उद्भव किस देश में हुआ था?

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. आधुनिकतावाद का जन्म किस देश में हुआ था?
   (अ) अमेरिका (ब) रूस
   (स) फ्रांस (द) इनमें से कोई नहीं
5. 'आलोचना से आगे' पुस्तक किसके द्वारा लिखी गई है?
   (अ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (ब) डॉ० सुधीश पचौरी
   (स) डॉ० नगेन्द्र (द) इनमें से कोई नहीं
6. 'पाश्चात्य काव्य : अधुनातन संदर्भ' किसके द्वारा लिखित पुस्तक है?
   (अ) डॉ० नगेन्द्र (ब) डॉ० सुधीश पचौरी
   (स) डॉ० सत्यदेव पचौरी (द) इनमें से कोई नहीं

30.2 उत्तर-आधुनिकतावाद

उत्तर-आधुनिकतावाद के पहले हिंदी में आधुनिकतावाद शब्द या विचार आया था। इसे अभी ठीक से समझा नहीं गया, तब तक उत्तर-आधुनिकतावाद आ गया। उत्तर-आधुनिकतावाद को भ्रमवश लोगों ने क्या-क्या समझा है, इसके विषय में डॉ. सुधीश पचौरी का कथन इस प्रकार है–

''उत्तर-आधुनिकतावाद पर विचार करते हुए कई लोग ऐसी निष्पत्तियाँ करते हैं कि लगता है, जैसे उत्तर-आधुनिकता शुद्ध दर्शन या अवधारणा के क्षेत्र में निकला हुआ कोई विचार हो। कुछ लोग झोंक में यह भी सोच सकते हैं कि

नोट

यह सब कुछ जो आधुनिकता के विरुद्ध जाता है, वह सब 'उत्तर-आधुनिक' है। कई लोग 'उत्तर-आधुनिकता' को पश्चिमी समाज में प्रचलित समलैंगिकता और कमेरी अविवाहित अकेली स्त्रियों में देखते हैं। कई उसे बाजार और 'उपभोक्ता संस्कृति' का पर्याय कहते हैं। कई इसे उस पुनरुत्थान का पर्याय मानते हैं, जो अब दूसरी दुनिया के देशों में 'धर्मतत्ववाद' के रूप में दिखाई पड़ने लगा है। 'इस्लाम एण्ड पोस्ट मॉडर्निज्म' में लेखक अकबर अहमद उत्तर-आधुनिकतावाद को पश्चिम की भूमण्डलीय सभ्यता की 'जीत' और इस्लाम के लिए चुनौती मानते हैं। ऐसे तर्कों से भारत में हिन्दुत्व के उभार को उत्तर-आधुनिक स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया का एक संकेत सिद्ध किया जा सकता है। स्थितियों का यह बहुवचनवाद स्वयं एक उत्तर-आधुनिक दृश्य है।''

इससे स्पष्ट होता है कि भारत में अधिकांश विचारक उत्तर-आधुनिकतावाद को या तो समझ नहीं पाये हैं अथवा गलत समझ रहे हैं। यहाँ तक की स्थिति तो क्षम्य और चिंतनीय हो सकती है, पर हिंदी में उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-संरचनावाद के विषय में परिचित कराने के अपराध में डॉ. सुधीश पचौरी का उग्र विरोध हुआ है। यह स्थिति कछुआ धर्म की है, जो लोग जितना जानते हैं, उसी में मग्न और संतुष्ट हैं तथा बाहर से आने वाली हवा को रोकने के लिए दिमाग के दरवाजे बंद कर रखे हैं, उन्हें सुधीश पचौरी का आभारी होना चाहिए।

डॉ. सुधीश पचौरी ने अपनी पुस्तक 'आलोचना से आगे' के 'उत्तर' शीर्षक में जो कुछ लिखा है, उसका एक अंश इस रूप में है–

''हिंदी में 'उत्तर-आधुनिकतावाद' और 'उत्तर-संरचनावाद' के बारे में पहली सूचना देने का अपराध लेखक ने किया था, उसके नतीजे बड़े दिलचस्प रहे हैं। हिंदी में उत्तर-युग की शुरुआत अब मानी जाने लगी है। इन पदों के चलन में आते ही पहली प्रतिक्रिया प्रगतिशील-समीक्षा और नव्य-समीक्षा के खर्च हो चुके उस्तादों में दिखी। वे खिसियाए, परेशान हुए और फिर इसके खिलाफ खड़े हो गये, लेकिन बिना उसे जाने, बिना उसे पढ़े। मनोरंजक सूचना यह है कि पिछले बरसों लगातार कई-कई परशुराम अपने फरसे को दिखाते रहे, लेकिन नई स्थितियों, नई सिद्धांतिकियों के बारे में उन्होंने न तब जाना-पढ़ा, न अब, जबकि जीवन में वे अंकन उन्हीं 'उत्तर-दिशाओं' में डूबे हुए हैं।''

दूसरी प्रतिक्रिया, जो कुछ अरसे बाद हुई, नई उत्तर-आधुनिकता को अपना बनाने की रही और कहा जाने लगा कि यह कोई नई बात नहीं है।

तीसरी प्रतिक्रिया एकदम उत्तर-आधुनिक किस्म की रही। कई कविताओं-कहानियों में उत्तर-आधुनिकता पद पर ऐसी फब्तियाँ कसी गईं, मानो वह सड़क पर पड़ी कोई कृतियाँ हों, जिसे हर शोहदा लात मारकर निकालना जरूरी समझता है। वह प्राय: मजाक का विषय बनी। यह उसकी स्वीकृति से ज्यादा उसके महत्त्व को स्वीकार करता था।

चौथी किंतु सर्वाधिक दयनीय प्रतिक्रिया उन रणबाँकुरों की रही जो बताने लगे कि उत्तर-आधुनिकता तो पश्चिम में मर चुकी। इस लेखक ने कहा कि अगर मर चुकी है तो आप क्यों परेशान होते हैं?

डॉ. सुधीश पचौरी के इस कथन से यह तथ्य सामने आता है कि हिंदी जगत् को 'उत्तर-आधुनिकतावाद' से सबसे पहले उन्होंने परिचित कराया और इसे समझाने के स्थान पर हिंदी के मठाधीशों और ठेकेदारों ने इसे समझने का प्रयत्न नहीं किया। अब प्रश्न रह जाता है कि उत्तर-आधुनिकता आखिर है क्या, इस पर चर्चा करने से पूर्व **डॉ. सत्यदेव मिश्र** ने इसका जो परिचय दिया, उसे जान लेना सुविधाजनक होगा।

क्या आप जानते हैं ''उत्तर-आधुनिकता पूँजीवादी विकास की नई स्थिति है। नवपूँजीवाद की नाना विकृतियों और नाना रूपों से सामाजिक साक्षात्कार उत्तर-आधुनिकता है।

उत्तर-आधुनिकता एक सामाजिक विचारधारा या विचारधारा (प्रत्यय) है। 'उत्तर-आधुनिकतावादी' उस सामाजिक विधारणा का संस्कृति रूप या सांस्कृतिक अवधारणा (प्रत्यय) है।''

नोट

उत्तर-आधुनिकता विशेषणहीन वृत्तांत की पक्षधर है। महावृत्तांतों (रामायण, महाभारत, बाइबिल आदि) का नकार उसका मूल मंत्र है। उत्तर-आधुनिकता मूल्य मीमांसा को भी नकारती है। वह मूल्यहीनता का पक्षधर है। वह अनुभावन पर बल देती है। यह एक व्यक्ति केंद्रित (अनुभावन की दृष्टि से) समीक्षा या चिंतनदृष्टि है। कुछ भी अपने में संपूर्ण नहीं होता। अत: संपूर्णता (Totality) की धारणा का उत्तर-आधुनिकतावाद खंडन करती है। मूल्यवादी दृष्टि से विचार करें तो बोंदा और ल्योतार दोनों ही मूल्यों को नकारते हैं आराजकतावादी हैं। चूँकि प्रौद्योगिकी, तकनीक और सूचना विस्फोट (क्रांति) ने पूरे विश्व की भौगोलिक सीमाओं को तोड़ा है और विश्व बाजार, विश्व नगर जैसी धारणाओं को जन्म दिया है, इसलिए संपूर्णतावादी विचारों का यहाँ खंडन है। वस्तुत: उत्तर-आधुनिकता साहित्य समीक्षा की एक प्रणाली हो सकती है। यह स्थूल अर्थ के स्थान पर साभिप्रायता और अर्थ की अनेक छायाओं और प्रतिछायाओं के लीला-व्यापार को रेखांकित करने वाली समीक्षा दृष्टि है। यहाँ अर्थवेत्ता को विलोपित और स्थगित नहीं किया जाता, वरन् अर्थ विच्छिति की संधान क्रिया करने के लिए कुछ समय के लिए अर्थ का स्थगन किया जाता है। उत्तर-आधुनिकता में शब्दजाल की एक क्रीड़ा है, जिसे भावकीय/आलोचकीय अनुभावन से प्राप्त अन्यान्य अर्थों से सम्पृक्त किया जा सकता है। भाषा या पाठ के केंद्र में जैसे उत्तर-संरचनावाद में रखा जाता है, उसी तरह उत्तर-आधुनिकतावाद में। उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद में साम्य के अनेक धरातल हैं और एक-दूसरे के पूरक भी हैं। उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धांतों का अतिक्रमण तथा सांस्कृतिक साहित्यानुशासन से विरक्ति और श्रवणीयता के प्रति आसक्ति पाई जाती है। प्रतीकवादी और बिंबवादी संकल्पनाओं की अस्वीकृति यहाँ है तथा श्रवणीयता पर बल है अर्थात् जो संदेश साहित्य में प्रत्यक्षत: यहाँ सुनाई दे रहा है, उसी की अनुगूँज की तलाश होनी चाहिए अर्थात् काव्यगत व्यंग्य रेखांकित होना चाहिए।''

ल्योतार ने उत्तर-आधुनिकता को ज्ञान की ऐसी अवस्था बताया है जो उच्च विकसित समाजों में पिछले दशकों में बड़ी है। उत्तर-आधुनिकतावाद पर समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र राजनीति, सौंदर्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र में प्रचलित हो गया है। आधुनिकतावाद की स्थिति विचित्र है। आधुनिकतावादी कभी अपने सुधारवाद में उसी व्यवस्था को पुष्ट करता है, जिसे उसने तोड़ने का प्रयत्न किया था। ल्योतार ने आधुनिकतावादी ज्ञानावस्था के नये सीमांतों को उधेड़ दिया है।

आधुनिकतावाद को जन्म देने वाले ल्योतार के अनुसार हर वह स्थिति अथवा प्रक्रिया आधुनिक है जो अपनी वैध ता की सिद्धि के लिए 'अतिवृत्तांत' या 'महावृत्तांत' का संदर्भ देती है। वैधता से ल्योतार का तात्पर्य वैधता है। उत्तर-आधुनिकता का तात्पर्य आधुनिकता की समाप्ति के बाद की स्थिति नहीं है, अपितु यह सिद्ध करती है कि इस प्रकार की आधुनिकता का जन्म अब नहीं होगा।

ल्योतार ने विकसित समाजों में तकनीकी स्थितियों में चली आ रही अवधारणा को अवैध सिद्ध किया है और बार-बार यह दिखाया है कि आधुनिकता की सीमाएँ हैं। उनके अनुसार यथार्थवाद का प्रतिनिधि कोई भी वाद नहीं हो सकता। **डेनियल बैल** ने इस बात की चर्चा की है कि सभी चीजों का उत्तरकाण्ड है अर्थात् सभी की उत्तर अर्थात् पश्चातवर्ती स्थिति बनती है। ल्योतार के अनुसार उत्तर-आधुनिकतावाद पद उन्नीसवीं शताब्दी के बाद उस सांस्कृतिक अवस्था के बहुत से परिवर्तनों के फलस्वरूप बना। सांस्कृतिक अवस्था ने विज्ञान, साहित्य और कलाओं के लिए जो लोग अंतिम खेल नियम मान रहे थे, आधुनिकतावाद ने उनकी मान्यता को पलट दिया है। इस आधार पर ल्योतार ने उत्तर-आधुनिक युग को आधुनिकता की शिथिलता का योग कहा है। जिन दिनों अति आधुनिक समाजों जैसे सोवियत समाज के गिरते चले जाने की भविष्यवाणी हो रही थी, उन दिनों इन समाजों ने उत्तर-आधुनिक स्थितियों को ही अस्त-व्यस्त किया था।

वर्तमान में उत्तर-आधुनिकतावाद को पहचानने की आवश्यकता पर बल देते हुए **डॉ. सुधीश पचौरी** ने लिखा है—"उत्तर-आधुनिकता के लक्षणों को पहचानने के लिए उपलब्ध ज्ञान व्यवस्था की पड़ताल जरूरी है।

नोट्स ज्ञान की अवस्था दो प्रक्रियाओं पर निर्भर है–वैज्ञानिक प्रक्रिया और वृत्तांत प्रक्रिया। ल्योतार कहते हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान एक प्रकार का विमर्श (डिस्कोर्स) है और जब तक यह विमर्श है, वह भाषा पर निर्भर है।

पिछले चालीस-पचास सालों से विज्ञान अपने को खोलने के लिए लगातार भाषा के सिद्धांतों में फँसा रहा है, यह संचार, साइबर नैटिक्स, गणित, कम्प्यूटर, उनकी भाषा, अनुवाद की समस्या, सूचना संग्रह और आँकड़ा बैंकों पर निर्भर है।"

अर्नेस्ट मैंडेल ने एक पुस्तक की रचना की है, जिसका नाम 'लेट कैपीटलिज्म' है। इसका अर्थ है-नवपूँजीवादी। इसमें लेखक ने तकनीकी संचय तथा विज्ञान संचय को ही विकसित देशों के द्वारा बनायी गई उपभोक्तावादी संस्कृति के मूल में माना है। तात्पर्य यह है कि विज्ञान के संचय ने ही उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। उनके अनुसार विज्ञान का संचय ही नवपूँजीवाद की व्यवस्था का भी कारण बना है। यह साम्राज्यवाद की नयी व्यवस्था है। उपभोक्तावाद की इस अत्यधिक बढ़ी हुई स्थिति संग्रहवाद की पराकाष्ठा है। इस प्रकार विचार करें तो जान पड़ेगा कि उत्तर-आधुनिकतावादी ल्योतार ने सबसे अधिक प्रकार से प्रहार किए हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद ने आधुनिकता पर तो प्रहार किया ही है, इसके अतिरिक्त आधुनिकता के नए क्रम में जो सौंदर्य, शांति और विराट से संबंधित संकल्पनाएँ आती हैं, उत्तर-आधुनिकतावाद ने उन पर संदेह किया है। रामायण, महाभारत, बाइबिल आदि के जो महावृत्तांत हैं, उन पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिया है।

उत्तर-आधुनिकता के विषय में अमेरिकी विचार–अमेरिका के जो विचारक हैं, उन्होंने उत्तर-आधुनिकता के संबंध में अनेक प्रकार के विचार किए हैं तथा उनके विश्लेषण का प्रयत्न भी किया है। उत्तर-आधुनिकता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अमेरिकी विचारकों ने अनेक प्रश्नों को सामने रखा है। उन प्रश्नों में से एक यह भी है कि क्या उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता से सर्वथा भिन्न है? क्या उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता का अगला चरण है? तात्पर्य यह है कि क्या आधुनिकता ही विकसित होकर उत्तर-आधुनिकता बन जाती है। उत्तर-आधुनिकता उत्तर-संरचनावाद, उत्तर-प्रौद्योगिक आदि से कहाँ तक संबंध रखता है।

उत्तर-आधुनिकता अनेकों का दर्शन–यह वास्तविकता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद किसी एक व्यक्ति का दर्शन नहीं है। तात्पर्य यह है कि उत्तर-आधुनिकतावाद की उद्भावना और व्याख्या एक विचारक का कार्य नहीं है। इसकी रूपरेखा अनेक विचारकों ने प्रस्तुत की है। इस कारण इसमें अनेक अंतर्विरोध उपस्थित हुए हैं। उत्तर-आधुनिकता वैसे एक निश्चित दर्शन है। अनेक विचारकों ने इसके विषय में अपनी-अपनी उद्भावनाएँ की हैं, जिनमें कुछ एक-दूसरे के अनुरूप हैं और कुछ एक-दूसरे से भिन्न हैं।

उदाहरण के लिए, वास्तुकला का क्षेत्र लिया जा सकता है। जब वास्तुकला के क्षेत्र में उत्तर-आधुनिकता का दर्शन प्रस्तुत किया गया तो उसमें आधुनिकतावादी शैली का नकार अथवा विरोध प्राप्त हुआ। तात्पर्य यह है कि उत्तर-आधुनिकता ने वास्तुकला की अंतर्राष्ट्रीय शैली का विरोध किया। राबर्ट बेंतुरी और जेम्स स्टर्लिंग की जो रचनाएँ हैं, उनमें वास्तुकला की अंतर्राष्ट्रीय शैली का विरोध देखा जा सकता है। इस आधार पर वास्तुकला के विद्वानों और विचारकों में उत्तर-आधुनिकता को मृत घोषित कर दिया गया फ्रांस के उत्तर-संरचनावादियों ने उत्तर-आधुनिकतावाद को वास्तुकला की अंतर्राष्ट्रीय शैली के अनुकूल बताया। देल्युज देरिदा और माइकेल फुको ने उत्तर-संरचनावाद की जो स्थितियाँ बतायी थीं, वे सब उत्तर-आधुनिकतावाद में भी जीवंत बताई गई हैं। वैसे बीसवीं शताब्दी के फ्रांसीसी और अमेरिकी विचारक अनेक अर्थों में एक-दूसरे के विरोधी थे, पर उत्तर-आधुनिकतावाद के विषय में एक-दूसरे के समीप आये। दोनों ने मानव जगत के यथार्थ को विखडिंत करके उसमें परस्पर विरोधी, विजातीय और अनेकता की बात कही। उनके अनुसार मानव यथार्थ, निश्चित, अंतिम और विकल्पहीन नहीं है। वह परिवर्तनशील रहा है और रहेगा।

आधुनिकतावाद के विषय में कहा गया है किसी भी क्षेत्र में आधुनिकतावाद अंतिम धारण नहीं है। समाज ही नहीं, उसका विकास भी परिवर्तित होता रहता है, क्योंकि परिवर्तनशीलता उसका स्वभाव है। यदि समाज परिवर्तनशील है

नोट

तो उस पर आधारित कला, दर्शन, प्रौद्योगिकी आदि का भी विकास होगा, ये एक दशा में नहीं रह सकते। आधुनिकतावादियों ने इन स्थितियों को भलीभाँति नहीं समझा। ल्योतार और बौद्रिदा ने यह चर्चा सदा की है कि पश्चिम के आधुनिकतावादी जीवन में परिवर्तन संभव है।

उत्तर-आधुनिकतावाद आधुनिकतावाद का अगला चरण–उत्तर-आधुनिकतावाद वास्तव में आधुनिकतावाद की अगली स्थिति है, उसका अगला चरण है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आधुनिकतावाद ने ही उत्तर-आधुनिकतावाद को जन्म दिया है। आधुनिकतावाद उत्तर-आधुनिकतावाद का जन्मदाता होकर भी उससे भिन्न है। तात्पर्य यह है कि आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद में परस्पर किसी भी प्रकार की समानता नहीं है।

उत्तर-आधुनिकतावाद और भारत–उत्तर-आधुनिकतावाद का संबंध पश्चिम की जीवन शैली और वहाँ के साहित्य से है। भारतवर्ष का साहित्य और भारतीय जीवन-शैली तो आधुनिकतावाद को ही ठीक से नहीं अपना सकी है तो उत्तर-आधुनिकतावाद तो भारतवर्ष के लिए भविष्य की और बहुत दूर की बात है। भारतवर्ष का साहित्य उत्तर-आधुनिकतावाद से अभी आक्रांत नहीं है। कभी-कभी भारतीय साहित्य में इसकी चर्चा होने लगती है जो एक प्रकार की अनुगूँज है। यदि हिंदी साहित्य की बात की जाए तो इसमें अभी तक आधुनिकता ने ही प्रवेश नहीं किया है, उत्तर-आधुनिकतावाद अभी हिंदी के लिए दूर की मंजिल है। सरंचना, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद भी हिंदी आलोचना में चर्चा के विषय बन सके हैं। इन वादों अथवा विचारधाराओं के आधार पर अभी हिंदी में गद्य या पद्य साहित्य की रचना नहीं हो रही है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य अथवा असत्य की पहचान करें

(State whether the following statements are True or False) :

7. 'लेट कैपीटलिज्म' के लेखक अर्नेस्ट मेंटल हैं।
8. आधुनिकतावाद का जन्म ल्योतार ने किया है।
9. उत्तर-आधुनिकतावाद वास्तव में आधुनिकतावाद का अगला चरण है।

30.3 सारांश (Summary)

- आधुनिकता एक सतत् प्रक्रिया है जिसमें निरंतरता का गुण विद्यमान है। आधुनिकता एक दृष्टि है जिसे नपे-तुले शब्दों में नहीं बांधा जा सकता है।
- आधुनिकता एक प्रश्नाकुल मानसिकता है जो हर बंधी-बंधाई व्यवस्था, मर्यादा या धारणा को तोड़ती है।
- 'उत्तर-आधुनिकता' को पश्चिमी समाज में प्रचलित समलैंगिकता और कमेरी अविवाहित अकेली स्त्रियों में देखते हैं। कई उसे बाजार और 'उपभोक्ता संस्कृति' का पर्याय कहते हैं।
- भारत में अधिकांश विचारक उत्तर-आधुनिकतावाद को या तो समझ नहीं पाये हैं अथवा गलत समझ रहे हैं।
- उत्तर-आधुनिकता विशेषणहीन वृत्तांत की पक्षधर है। महावृत्तांतों (रामायण, महाभारत, बाइबिल आदि) का नकार उसका मूल मंत्र है। उत्तर-आधुनिकता मूल्य मीमांसा को भी नकारती है।
- ल्योतार ने विकसित समाजों में तकनीकी स्थितियों में चली आ रही अवधारणा को अवैध सिद्ध किया है और बार-बार यह दिखाया है कि आधुनिकता की सीमाएँ हैं।
- अर्नेस्ट मैंडेल ने एक पुस्तक की रचना की है, जिसका नाम 'लेट कैपीटलिज्म' है। इसका अर्थ है-नवपूँजीवादी। इसमें लेखक ने तकनीकी संचय तथा विज्ञान संचय को ही विकसित देशों के द्वारा बनायी गई उपभोक्तावादी संस्कृति के मूल में माना है।

नोट

- उत्तर-आधुनिकतावाद वास्तव में आधुनिकतावाद की अगली स्थिति है, उसका अगला चरण है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आधुनिकतावाद ने ही उत्तर-आधुनिकतावाद को जन्म दिया है।

30.4 शब्दकोश (Keywords)

- संरचना : सूक्ष्म तत्त्व की बनावट, बनावट, रचना
- आक्रांत : जिस पर हमला किया गया हो, पराभूत, अभिभूत

30.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आधुनिकता के मूल तत्वों का वर्णन कीजिए।
2. आधुनिकतावाद क्या है?
3. उत्तर-आधुनिकतावाद के दर्शन को समझाइए।
4. आधुनिकतावाद एवं उत्तर-आधुनिकतावाद में अंतर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. आधुनिक	2. मानसिकता	3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	4. (स)
5. (ब)	6. (स)	7. सत्य	8. सत्य
9. सत्य।			

30.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. नई समीक्षा के प्रतिमान – *निर्मला जैन।*
2. समीक्षालोक – *भागीरथ दीक्षित।*

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in